मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९० से २०१४ तक ५१,२५०
सं० २०१७ अष्टम संस्करण १०,०००
सं० २०२० नवम संस्करण १०,०००
कुल ७१,२५०

मूल्य १.२५ (एक रुपया पच्चीस नये पैसे)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सम्पादकीय निवेदन

मानस-प्रेमी महानुभाव प्रसिद्ध रामभक्त वै० श्रीजयरामदास-जी 'दीन' रामायणीके नामसे भलीभाँति परिचित हैं। आपके मानससम्बन्धी भावपूर्ण लेख समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित होते रहे हैं, जिन्हें पाठक बड़े चावसे पढ़ते रहे हैं। 'कल्याण' के अनेक पाठक-पाठिकाओंके अनुरोधसे उन्हींमेंसे चुने हुए ३५ लेखोंका संग्रह पुस्तकरूपमें मानसप्रेमी जनोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। लेखोंमें 'मानस' के गूढ़ रहस्योंपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की गयी है। आशा है, इनसे मानसके समझने-समझानेमें बड़ी सहायता मिलेगी।

बड़े दुःखकी बात है कि यह संग्रह पूज्य लेखक महोदयके जीवनकालमें प्रकाशित नहीं हो सका, यद्यपि इसके लिये उन्होंने कृपापूर्वक बहुत पहलेसे आज्ञा दे रक्खी थी। इन पंक्तियोंके लिखनेके दो-ही-तीन दिन पूर्व मुझे उनके वैकुण्ठवासका समाचार मिला है। पूज्य 'दीन' जी महाराज मानसके मर्मज्ञ और बड़े श्रद्धालु एवं भक्त थे। आजकल आपका सारा समय प्रायः मानसके अध्ययन और नाम-जपमें ही बीतता था। यद्यपि इस संग्रहमें ऐसे कई विषय हैं जिनको लेकर मानसके विद्वानों और कथावाचकोंमें काफी मतभेद है। फिर भी मुझे आशा है कि 'दीन' जी महाराजके विचारोंसे मानस-प्रेमियोंको पर्याप्त सन्तोष होगा और पाठक उनसे पूरा लाभ उठानेकी चेष्टा करेंगे।

अन्तमें भगवान् श्रीसीतारामजीसे प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने भक्त लेखक महोदयको अपने अभय चरणोंमें आश्रय दें और उनकी इस सेवाको स्वीकार करनेकी कृपा करें।'

रतनगढ़
आश्विन कृ० ११ सं० १९९९

विनीत
हनुमानप्रसाद पोद्दार
सम्पादक

श्रीहरिः

विषय-सूची



श्रीरामकी झाँकी

श्रीहरिः

मानस-रहस्य

श्रीरामावतारके विभिन्न हेतु और उनका रहस्य

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकृत रामचरितमानसमें चार कल्पोंका विभाग करके श्रीरामावतारके चार हेतु बतलाये गये हैं—

१—ऋषिशापसे जय और विजयके रावण-कुम्भकर्ण होनेपर।

२—जलन्धरके रावण होनेपर।

३—नारदजीके शापसे हरगणोंके रावण और कुम्भकर्ण होनेपर। और—

४—स्वायम्भुव मनुकी तपस्या और भानुप्रतापके अभिशप्त होकर रावणके रूपमें जन्म लेनेपर।

परन्तु वस्तुतः—

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥

× × ×

राम जनम कर हेतु अनेका। परम विचित्र एक तें एका॥

हरि-अवतारके अनेक हेतु हैं, जो वर्णनातीत हैं; तथापि यहाँ केवल चार कारणोंका उल्लेख इसलिये हुआ है कि श्रीसतीजीको

रामस्वरूपमें जो संशय हुआ था, उसका निराकरण हो जाय। सती-जीका संशय यह था—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥

तात्पर्य यह कि सर्वव्यापक, अज, अकल, अनीह, अभेद कहलानेवाले निर्गुण ब्रह्म तो मनुष्यका अवतार ले ही नहीं सकते। रहे नित्य सगुण ब्रह्म वैकुण्ठनाथ या क्षीराब्धिनाथ भगवान् विष्णु, सो यदि उन्होंने अवतार लिया होता तो उनमें ऐसी अज्ञता कैसे आती और वे स्त्रीके विरहसे कातर होकर क्यों घूमते? वे तो सर्वज्ञ हैं, ज्ञानधाम और श्रीपति हैं। इस संशयके निवारणार्थ जय-विजय और जलन्धरके हेतुओंसे वैकुण्ठनाथका और नारदशापके हेतु क्षीराब्धिनाथका तथा स्वायम्भुव मनु और भानुप्रतापके हेतुसे व्यापक ब्रह्मका रामावतार होना सिद्ध कर दिया गया, जिससे उपर्युक्त तीनों अवतारी स्वरूपों तथा श्रीराम-कृष्णादि समस्त अवतारोंका ऐक्य करके भरद्वाज मुनिकी मुख्य जिज्ञासा 'रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही'का समाधान कर दिया गया।

इस रहस्यको यथार्थतः न समझनेके कारण जहाँ-जहाँ 'हरि' और 'विष्णु' शब्दके प्रयोग प्रसङ्गानुसार पृथक्-पृथक् कहीं परात्परके अर्थमें तथा कहीं त्रिदेव अर्थात् 'एक ब्रह्माण्डनायक विष्णु' के अर्थमें हुए हैं, उन सबको एक ही मान लेनेसे ऐसा अनर्थ उपस्थित हो गया है कि हेतुकी अनेकताके स्थानमें राम ही

अनेक माने जाने लगे हैं। इतना ही नहीं, यहाँतक माना जाता है कि प्रथम तीन हेतुओंसे रामावतार पर-विष्णुके अंशभूत पालनकर्ता एकब्रह्माण्डनायक सत्त्वगुणाभिमानी विष्णुके हुए हैं और चौथा स्वायम्भुव मनुके हेतुसे होनेवाला अंशीरूप परात्परका अवतार साकेतधामसे होता है, यद्यपि मानसमें कहीं 'साकेत' शब्दतक नहीं आया है। परन्तु ऐसा आरोपण करनेसे रामावतारमें ही न्यूनाधिक्यका आरोप हो जाता है, एक स्थानमें रामजी परब्रह्म हो जाते हैं तो दूसरे स्थानमे अपर। एक जगह वे अंशी होते हैं, दूसरी जगह अंश। एक अवतार गुणातीत हैं तो दूसरे गुणाभिमानी। एक अखिल-ब्रह्माण्डनायकके अवतार हैं तो दूसरे एक ब्रह्माण्डनायकके ही हैं। परन्तु ऐसा होना ग्रन्थके अनुबन्धचतुष्टय तथा प्रतिपाद्य विषयके बिल्कुल विरुद्ध है। अतः इस भ्रमके निराकरण करनेके लिये श्रीरामस्वरूपके निर्धारण करनेवाले प्रसङ्गके द्वारा इन हेतुओंका रहस्योद्घाटन करना आवश्यक है।

अब इस मर्मका संक्षेपतः दिग्दर्शन कराकर रामरहस्यपर विस्तृत विचार किया जायगा। 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे' मनुकी इस तपोनिरत अवस्था तथा तपस्याके पूर्ण होनेपर भगवान्‌के प्रकट होनेपर—'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी' से 'हरि' का ही उपास्य देव होना प्रमाणित है। पुनः—

विधि 'हरि' हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥

इससे पता चलता है कि एक 'हरि' ब्रह्मा और शिवके साथ बहुत बार तपोनिष्ठ मनुके पास पहले आ चुके हैं, परन्तु मनुने उनकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। इससे सिद्ध है कि

'हरि' शब्द उपर्युक्त दोनों स्थलोंपर दो व्यक्तियोंका निर्देश करता है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो ग्रन्थकी संगति नहीं लग सकती। इसलिये उपास्य 'हरि' से तात्पर्य परधामस्वरूप वासुदेव भगवान्से है, जो अखिल ब्रह्माण्डों (लीलाविभूति) के नायक तथा त्रिपाद (दिव्य) विभूतिके भी स्वामी उभयविभूतिनाथ परविष्णु भगवान् वैकुण्ठनाथ हैं, जो गुणातीत हैं—

द्वादस अच्छर मंत्र बर जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥

और 'बिधि हरि हर' पदगत विष्णुसे तात्पर्य पालनकर्ता सत्त्वगुणाभिमानी विष्णु भगवान्से है, जो प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक सृष्टिके पालनार्थ उन्हीं परवासुदेव हरिके अंशभूत त्रिदेवगत रहा करते हैं—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

इन सत्त्वगुणाभिमानी विष्णुका उल्लेख मानसमें जहाँ-कहीं भी हुआ है वहाँ ब्रह्मा और शिवके साथ ही हुआ है—यह स्पष्ट है। तथापि—

'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥

—के 'हरि' शब्दको परब्रह्म न मानकर सत्त्वगुणाभिमानी अंशरूप विष्णु मान लेना और उन्हींका अवतार श्रीरामजीको मानकर उन्हींके द्वारा सेव्य कहना—'बिधि हरि हर बंदित पद रेनू' कैसा प्रमादयुक्त है। अतएव इस रहस्यके मर्मको स्पष्ट समझानेके निमित्त महर्षि भरद्वाजजीके प्रश्नारम्भसे ही इसका विवेचन किया जाता है—

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेक बिचारि॥

महर्षि भरद्वाजजीकी इसी जिज्ञासाके साथ ग्रन्थारम्भ होता है। प्रश्न यह है कि 'राम' एक हैं या अनेक ? शिवादिसे सेव्य राम वही हैं या कोई और ? संत, पुराण, उपनिषदादि उन्हीं रामके अमित प्रभावका गुणानुवाद करते हैं या किन्हीं दूसरेका ?

सत्यधाम सर्वज्ञ याज्ञवल्क्य मुनिने उक्त प्रश्नके उत्तरमें एतद्विषयक समाधानसूचक भगवान् श्रीशिव तथा पार्वतीके संवादको उपस्थित किया। एक बार त्रेतायुगमें भगवान् आशुतोष अपनी प्रिया सतीको साथ ले अगस्त्य ऋषिके आश्रममें पहुँचे। वहाँ रामकथा श्रवण कर मुनिको भक्तिका उपदेश देकर उन्होंने कैलासकी ओर प्रस्थान किया। उस समय (उस कल्पका) रामावतार हो चुका था और भगवान् वनमें श्रीसीताहरणके कारण विरहविकल हो यत्र-तत्र वृक्ष-लतादिसे सीताका पता पूछते फिर रहे थे। उसी मार्गसे सतीके साथ शिवजी जा रहे थे, श्रीशंकरके दर्शनाभिलाषी नयनोंको निज निधि, श्रीरामके मुखारविन्दका दर्शन प्राप्त हुआ। उन्होंने अत्यन्त हर्षित हो नेत्रभर छविसिन्धुके दर्शन कर 'जय सच्चिदानंद जग पावन' कहकर दूरसे ही प्रणाम किया। अनवसर समझकर वे समीप न जा सके। सतीको इस अवसरपर सन्देह हुआ कि सर्वज्ञ शिवने इस नृपसुतको 'सच्चिदानन्द' तथा 'परधाम' कहकर क्यों प्रणाम किया। उनके हृदयमें यह शङ्का उठी कि 'सच्चिदानन्द' अर्थात् व्यापक ब्रह्म, अज, अकल, अनीह, अभेद हैं; वह नर-शरीर क्योंकर धारण कर सकते हैं ? यदि परधाम अर्थात् ज्ञानधाम श्रीपति असुरारि श्रीविष्णु भगवान्

होते तो वे भी अज्ञकी तरह व्याकुल हो नारीको क्यों खोजते फिरते ? वैकुण्ठनाथसे तो कुछ भी छिपा नहीं है। इधर भगवान् शिवजी भी सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं; इनका कथन भी मिथ्या नहीं हो सकता।

यद्यपि सतीने अपने मनकी इस दुविधाको प्रकट नहीं किया, परन्तु सर्वज्ञ सदाशिव तो अन्तर्यामी हैं; उन्होंने सब जान लिया और वे उसका समाधान इस प्रकार करने लगे—'हे सती ! जिन श्री-रघुनाथजीकी कथा कुम्भज ऋषिने सुनायी है तथा जिनकी भक्तिका उपदेश मैंने उनको दिया है, वह मेरे इष्टदेव यही श्रीराम हैं। जिनका मुनि, धीर, योगी, सिद्धादि सदा ध्यान करते हैं, निगमागम जिनकी कीर्ति 'नेति-नेति' कहकर गाते हैं, जिनके देह धारण करनेको असम्भव समझकर तुम मन-ही मन तर्क कर रही हो तथा जिनके सम्बन्धमें तुम्हें 'अग्य इव नारि' खोजनेका सन्देह हो रहा है, यह रघुकुलमणि राम वही व्यापक ब्रह्म हैं। यही अखिल-ब्रह्माण्डनायक श्रीपति मायाधीश भगवान् विष्णु हैं, मेरे प्रभुने अपनी लीलासे ही अपने भक्तोंके हेतु यह अवतार धारण किया है।

इस समाधानसे सतीको बोध नहीं हुआ। भगवान् शङ्करने हरिमायाकी प्रबलता देखकर सतीको स्वयं परीक्षा लेनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर सती परीक्षा लेने चलीं और श्रीसीताजीका रूप बनाकर श्रीरामके सामनेसे आती हुई उन्हें रास्तेमें मिलीं। सर्वज्ञ श्रीसरकार अपने मायाबलको देखकर हँसे और हाथ जोड़ प्रणाम करके सतीसे पूछने लगे कि 'आज वृषकेतु आशुतोष भगवान् शङ्कर कहाँ हैं ? आप वनमें अकेली क्यों फिर रही हैं ?'

इस प्रश्नसे ही भगवान्ने सतीपर यह स्पष्ट प्रकट कर दिया कि "तुम मुझे अज्ञ समझनेका जो तर्क कर रही हो सो व्यर्थ है, मैं ही सर्वज्ञ ज्ञानधाम श्रीपति विष्णु हूँ। मेरे ही अवतारके विषयमें शङ्करने तुमको उपदेश दिया है। मैं 'अग्य इव नारि' नहीं खोज रहा हूँ।" भगवान्ने यह इशारा भी बड़ी ही गूढ़ताके साथ किया। स्पष्ट करनेसे तो लीलाका स्वारस्य ही नष्ट हो जाता। इसीलिये तो आप श्रीशिवजीके समीप नहीं पधारे थे, क्योंकि 'गएँ जान सबु कोइ' और इसीलिये यहाँ पिताके साथ अपना नाम लेकर सतीको प्रणाम किया। यद्यपि यहाँ भी भगवान्के इन प्रश्नोंसे कि 'वृषकेतु शङ्कर कहाँ हैं?' 'अकेली वनमें क्यों फिरती हो?' उनकी अज्ञता-सी झलकती है, पर ऐसी बात नहीं है। वह सर्वान्तर्यामी और लीलाप्रधान चरित्र होनेके कारण ही ऐसा कर रहे हैं—'पूछत जान अजान जिमि।'

सरकारके वचन सुनकर सतीको अत्यन्त सङ्कोच हुआ और वह भयभीत होकर चिन्ता करती हुई भगवान् शंकरके पास चलीं। उनके हृदयमें अत्यन्त दारुण दाह उत्पन्न हो गया और वह विचार करने लगीं कि शिवजीके पास पहुँचकर मैं क्या उत्तर दूँगी?' कृपानिधि करुणाधामने जब उन्हें बहुत दुःखित देखा तो मार्गमें त्रिपादविभूतिका साक्षात्कार कराकर अपना कुछ प्रभाव दिखलाया। सती मार्गमें क्या देखती हैं कि 'आगें रामु सहित श्रीभ्राता' तथा पीछे 'सहित बंधु सिय सुंदर वेषा' है। जहाँ देखती हैं वहीं सरकार विराजमान हैं, सिद्ध-मुनि-सुजान सेवा कर रहे हैं, एक-से-एक अमित प्रभाववाले त्रिदेव 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' चरण-वन्दना कर रहे हैं, सभी

देवता अनेकानेक रूपोंसे सेवामें तत्पर हैं। सभीकी शक्तियाँ भी उनके साथ हैं। इसके अतिरिक्त चराचर जीव अनेकानेक प्रकारके पृथक्-पृथक् दीख पड़े, परन्तु श्रीराम सर्वत्र एक ही दिखायी दिये—'राम रूप दूसर नहिं देखा।'

इस चरित्रसे श्रीरघुनाथजीने यह दर्शाया कि 'मैं एक हूँ तथा मैं ही हर जगह व्याप्त हूँ। व्यापक ब्रह्मके देह धारण कर नर होनेमें जो तुम्हें सन्देह हुआ था, सो मिथ्या है। शिवभगवान्‌ने जिस व्यापक ब्रह्मका बोध कराया था, वह व्यापक ब्रह्म मैं ही हूँ।'

इस आश्चर्यमय अलौकिक दृश्यने सतीकी इस पूर्व चिन्ताके दारुण दाहको कि जाकर शिवजीसे क्या कहूँगी' एकदम मिटा दिया। वह भगवान्‌की इस लीलाको देखकर भयसे काँप उठीं और तुरंत बेसुध-सी हो नेत्र मूँदकर वहीं बैठ गयीं। कुछ देर बाद आँखें खोलकर देखा तो कहीं कुछ भी नहीं है। तदनन्तर वह बारंबार श्रीसरकारको सिर नवाकर भगवान् शंकरके समीप गयीं और डरके मारे उनसे सत्य घटनाका वर्णन न कर उन्होंने इतना ही कह दिया—

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥

परन्तु अन्तर्यामी भगवान् शंकरने सब जान लिया और सतीके कर्मको भक्तिविरुद्ध समझकर मन-ही-मन जन्मभरके लिये सतीका त्यागकर वे लंबी समाधिमें बैठ गये। सतीने दुःखसे कातर हो करुणानिधान श्रीरघुनाथजीको स्मरणकर प्रार्थना की कि—'छूटउ बेगि देह यह मोरी', और प्रभुकी कृपासे अपने पिता दक्षके यज्ञमें योगाग्निसे शरीर त्यागकर हिमवान्‌के यहाँ पुनर्जन्म लिया। वहाँ

'पार्वती' नाम प्राप्तकर घोर तपसे पुनः श्रीशिवजीको पतिरूपमें प्राप्त किया। कुछ समय बाद पूर्वजन्मका संशययुक्त प्रश्न भगवान् शिवके सामने फिर उपस्थित किया। परन्तु इस बार क्षमा माँगते हुए और श्रीरामकथापर रुचि दिखलाते हुए प्रश्न किया कि हे प्रभो! परमार्थविद् मुनिगण श्रीरघुनाथजीको अनादि ब्रह्म कहते हैं। शेष, शारदा, वेद, पुराण आदि सब उनका गुणगान करते हैं। आप भी दिन-रात आदरके साथ रामनामका जप किया करते हैं। वह राम यही अवधराजकुमार श्रीराम हैं या अज, अगुण, अलखगति कोई दूसरे हैं? राजकुमार हैं तो वे ब्रह्म कैसे हैं? एक ओर उनके 'नारि बिरहँ मति भोरि' के चरित्रको देखकर और दूसरी ओर उपर्युक्त महिमा सुनकर मेरी बुद्धि भ्रममें पड़ गयी है; हे नाथ! वह अनीह व्यापक विभु कौन हैं, कृपापूर्वक समझाकर कहिये—

बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥
पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। × × × ॥
× × × । राज बैठि कीन्ही बहु लीला॥

इसमें श्रीरामके एक या अनेक रूपके निर्णयार्थ प्रश्न तो पूर्ववद् ही हैं, परन्तु साथ ही अवतारसे लेकर सिंहासनारूढ़ होनेके बादतककी लीला श्रवण करनेकी महत्त्वपूर्ण आकाङ्क्षाका हृदयगत होना सूचित है।

इसके उत्तरमें भगवान् शङ्करने प्रश्नके पहले अंश श्रीरामके स्वरूपमें संशयकी समूल निवृत्तिके लिये तो बड़े ही कड़े शब्दोंका प्रयोग किया—

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच॥
अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहुँ संतसभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्ह कें सूझ लाभु नहिं हानी॥
—इत्यादि।

ये उपेक्षा और फटकारके सारे शब्द 'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना' पर ही हैं। भगवान् शङ्करको 'राम कोउ आना' का सिद्धान्त तो क्या, प्रश्नरूपमें ऐसा सुनना भी सह्य नहीं था। यही कारण है कि वह अपनी परम प्रियतमा पार्वतीके प्रश्नपर ऐसे कठोर शब्दोंमें अपने उद्गार प्रकट कर रहे हैं। परन्तु इन शब्दोंसे कहीं पार्वती घबड़ाकर भयभीत न हो जायँ तथा श्रीरामस्वरूप समझनेकी शक्ति उनकी बुद्धिमें बनी रहे, इसलिये साथ-ही-साथ शङ्करजी रामकथाके अपूर्व माहात्म्यको तथा उसके बिना जीवके जीवनकी व्यर्थताको सूचित कर पार्वतीकी रामकथासम्बन्धी जिज्ञासाकी प्रशंसा कर प्रसन्न हो रहे हैं और पार्वतीको धन्यवाद दे रहे हैं। पश्चात् शङ्काका समाधान प्रारम्भ करते हुए भगवान् शङ्कर कहते हैं—

सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबि कर बचन मम॥

अर्थात्—निश्चयात्मक, निःशेषभ्रमरहित मेरे वचनोंको सुनो—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

अगुण, अज, अलख, अरूप, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेमवश होकर सगुणरूप धारण करते हैं; अतः श्रीरामजी

व्यापक, परमानन्द, परेश, पुरातन ब्रह्म हैं—इसे जगत् जानता है। वही प्रसिद्ध पुरुष प्रकाशनिधि परात्परनाथ रघुकुलमणि मेरे स्वामी हैं, ऐसा कहकर शिवजीने अपना सिर नवाया।

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

अर्थात् विषय, इन्द्रियाँ, सुर, जीव प्रभृति जो एक-से-एक सचेत और सामर्थ्यवान् हैं—इन सभीको परम प्रकाश प्रदान करनेवाले अनादि राम वही (सोइ) अवधनाथ रघुकुलमणि श्रीरघुनाथजी हैं। इसके बाद 'निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी' इस चौपाईसे भ्रमका निराकरण करते हुए अन्तको इस चौपाईमें फिर कहा—

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवध पति सोई॥

अर्थात् संसारमें संयोग-वियोग, हर्ष-विषादादि यावत् व्यवहार हैं सबका प्रकाश करनेवाले व्यापक अन्तर्यामी प्रभु वही (सोइ) श्रीरघुनाथजी हैं, उन्हींसे चैतन्यका उद्भव होता है; भला, उनमें मोह कहाँसे सम्भव है ? यह जगत् जिन प्रभुकी मायासे 'सत्य इव' भासित हो रहा है, जो तीनों कालमें मिथ्या होनेपर भी जीवोंको दुःख दे रहा है, जैसे स्वप्नावस्थामें कोई हमारा सिर काट लेता है तो उसकी व्यथा न जागनेतक सत्य ही प्रतीत होती है, इसी प्रकार इस संसारके भ्रमात्मक दुःखकी निवृत्ति जिन प्रभुकी ही कृपासे होती है—हे गिरिजा ! वह कृपालु श्रीरघुनाथजी ही हैं—

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥

जिनकी सत्तासे भ्रमकी स्थिति है तथा जिनकी कृपासे ही भ्रमकी

निवृत्ति हो सकती है, उनमें वियोग-विषाद, भ्रम कभी सम्भव नहीं। जो आदि-अन्तसे अतर्क्य हैं, जिनकी मायाको शास्त्र 'अघटितघटना-पटीयसी' कहते हैं, उन मेरे स्वामी रामको कैसे भ्रम हो सकता है? तदनन्तर 'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना' से लेकर श्रीरामकी अतर्क्य महिमाका गान करते हुए इस दोहेमें शिवजी महाराज फिर कहते हैं—

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

इसमें पूर्वकी इस चौपाईसे कि 'तन बिनु परस नयन बिनु देखा' से यह सूचित करते हैं कि उन प्रभुसे कुछ भी परोक्ष नहीं है। अतः वह विरही होकर स्त्री ढूँढ़ें, यह कभी सम्भव नहीं। इसके बाद फिर कहा—

कासीं मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥

इस प्रकार इस प्रसङ्गमें शिवजीने पाँच बार 'सोई' शब्दका प्रयोग किया।

महर्षि भरद्वाजजीके प्रश्नमें भी यही प्रसङ्ग जोरदार है।

'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।'

तथा—

आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥

और पार्वतीजी भी ऐसा ही कहती हैं—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

यही कारण है कि प्रत्येक व्याख्यानमें बार-बार सोई शब्दके अनुवादके द्वारा वक्तृत्वमें ओज लानेके लिये जोर देते हैं कि श्रीरघुनाथजी वही हैं, वही हैं, अन्य नहीं तथा तुमने जो मेरे सादर जपनेके विषयमें कहा है सो इतना ही नहीं, बल्कि—

बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥
राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥
अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं॥

जब भगवान् शङ्करके ऐसे भ्रम-भय-हरण करनेवाले व्याख्यानको सुनकर श्रीपार्वतीजीके हृदयके सारे कुतर्क नष्ट हो गये और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रीति और विश्वास दृढ़ हो गया तो वह भगवान् शङ्करके चरणोंकी शरण ग्रहण कर हाथ जोड़ प्रेम-रससे सने हुए वचन बोलीं—"हे नाथ! हे कृपालो ! आपके अमृतमय वचनोंसे मेरा सारा मोह-विषाद मिट गया। मुझे श्रीरामस्वरूपका यथार्थ बोध हो गया। अब निश्चय हो गया कि श्रीरघुनाथजी ही चिन्मय और 'सब उर बासी' व्यापक ब्रह्म हैं तथा वही सरकार सर्वरहित अविनाशी अर्थात् त्रिपाद नित्य विभूतिके विग्रहस्वरूप श्रीविष्णुभगवान् हैं। व्यापक ब्रह्मके अवतार लेने तथा भगवान् श्रीपतिके अङ्ग होनेकी जो शङ्का मेरे हृदयमें थी, वह सर्वथा निर्मूल हो गयी। अब हे नाथ! यह समझाकर कहिये कि प्रभुने मनुष्यका अवतार किस हेतुसे धारण किया ?" यद्यपि शिवजी पहले कह चुके थे कि 'भगत प्रेम बस सगुन सो होई' परन्तु पार्वतीजी यह स्पष्ट जानना चाहती हैं कि भगवान्ने किस-किस भक्तके प्रेमवश

होकर अवतार लिया । भगवान् शङ्कर उमाकी इस जिज्ञासासे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले कि 'हे प्रिये ! भगवान्के गुण, नाम, लीलाका पार नहीं; उनकी माया अपरम्पार है, और उनके अवतारके हेतुको तत्त्वतः पूर्ण-रूपेण जानना भी सम्भव नहीं—

हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित ।

हरि अवतार हेतु जेहि होई । इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहि भवानी ॥

तथापि जब-जब धर्मकी हानि होती है और अभिमानी असुरोंकी वृद्धि होती है, तब-तब प्रभु विविध शरीर धारण करके संतोंका सन्ताप हरते हैं—ऐसा संत, मुनि, वेद और पुराण सब अपनी-अपनी मतिके अनुसार कहते हैं । विविध शरीरका अभिप्राय यह है कि मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि प्रभृति विभिन्न अवतार धारण करते हैं । इसी सिद्धान्तका समर्थन सर्वोपनिषत्सार श्रीमद्भगवद्गीतामें भी हुआ है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(४ । ७-८)

भगवान् शङ्कर रामजन्मके रहस्यका उद्घाटन करते हुए कहने लगे—

राम जनम के हेतु अनेका । परम बिचित्र एक तें एका ॥
जनम एक दुइ कहउँ बखानी । सावधान सुनु सुमति भवानी ॥

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥
बिप्र श्राप तें दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥
कनककसिपु अरु हाटकलोचन। जगत बिदित सुरपति मदमोचन ॥
बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराह बपु एक निपाता ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा ॥
भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान ॥
मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना ॥
एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥
कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता ॥
एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा ॥

श्रीरामके अवतारका प्रथम हेतु कहते हैं कि भगवान् वैकुण्ठ-नाथके जय और विजय नामक दो द्वारपाल थे, जिन्होंने सनकादि ब्रह्मर्षियोंके शापसे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नामसे असुर योनिमें जन्म लिया। भगवान्ने वराह अवतार धारण कर हिरण्याक्षको मारा और नृसिंहावतार धारणकर हिरण्यकशिपुका नाश किया तथा अपने भक्त प्रह्लादके सुयशको संसारमें फैलाया। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ही दूसरे जन्ममें रावण और कुम्भकर्ण हुए। क्योंकि सनकादि ब्रह्मर्षियोंने उन्हें तीन जन्मतक लगातार असुर योनिमें उत्पन्न होनेका शाप दिया था; अतः भगवान्के द्वारा मारे जानेपर भी विप्रशापके कारण उनकी मुक्ति नहीं हुई। उसी रावण-कुम्भकर्णके विनाशार्थ तथा उनके अत्याचार-से जो भक्तोंको कष्ट मिल रहा था, उसके निवारणार्थ भक्तानुरागी श्रीसरकारने रघुकुलमणिके रूपमें अवतार धारण किया। यह एक कल्पका हेतु है। दूसरे कल्पोंमें श्रीरामावतारके दूसरे हेतु हैं।

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा॥
परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥
छल करि टरेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥
तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥
तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ॥
एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नरदेहा॥

दूसरे कल्पमें जब जलन्धर राक्षसने रावणरूपसे जन्म लिया तो कृपालु भगवान्‌ने रामावतार धारण किया। भगवान् शिवजीके वचनोंमें कैसी एकता झलक रही है। प्रथम कल्पकी कथामें प्रभुको 'हरि'—वैकुण्ठनाथ कहकर अब उन्हींको इस कल्पमें 'प्रभु' और 'राम' कहकर अवतार-अवतारीका ऐक्य सिद्ध कर रहे हैं। इसके बाद यह चौपाई है—

प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥

इससे भी प्रभुके सब अवतारोंकी एकता सूचित हो रही है कि इन्हीं प्रभुके प्रत्येक अवतारकी कथा कवियोंने बहुत विस्तारसे वर्णन की है।

फिर शंकरजी कहने लगे—

नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥

'हे प्रिये! एक कल्पमें नारदजीके शापके कारण भगवान्‌को अवतार लेना पड़ा।' यह सुनते ही पार्वतीजी चकित होकर कहने लगीं—'हे प्रभो! देवर्षि नारद तो प्रभुके अनन्य भक्त हैं और

परम ज्ञानी हैं, उन्होंने भगवान्‌को शाप क्यों दिया ?' इस अवसरपर 'नारद विष्नुभगत पुनि ग्यानी' तथा 'का अपराध रमापति कीन्हा ॥' पार्वतीजीके इन वचनोंसे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें राम-स्वरूपका यथार्थ बोध हो गया था, तभी तो वह स्वयं 'विष्णु' और रमापति' शब्दों-का उल्लेख करती हैं, नहीं तो उन्हें क्या ज्ञात था कि नारदने किसे शाप दिया। वस्तुतः बात यह है कि उन्हें इसका पूर्णतया बोध हो चुका था कि प्रभुके दोनों स्वरूप— व्यापक, अगुन, अकल, अभेद (निराकार विग्रह) तथा वैकुण्ठनाथ, क्षीरशायी श्रीविष्णु (साकार विग्रह) का श्रीरामावतारसे अभेद है अर्थात् इन्हीं दोनोंसे रामावतार होता है; क्योंकि निराकार व्यापक ब्रह्मको शाप सम्भव नहीं है, अतः नित्य साकारस्वरूप क्षीरशायी रमापतिको ही शाप देना कहा गया है।

श्रीपार्वतीजीके प्रश्नको सुनकर भगवान् शङ्कर हँसकर बोले कि 'प्रिये ! प्रभुकी मायाके आगे न तो कोई ज्ञानी है और न मूढ़ है; श्रीरघुपति जिस समय जिसको जैसा बनाते हैं, वह उस समय वैसा ही बन जाता है।' इसके बाद याज्ञवल्क्यजीने भी कहा है—

कहउँ राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद॥

यहाँ याज्ञवल्क्यजीके मुखसे 'राम', 'रघुनाथ' और शिवजीके मुखसे 'जेहि जस रघुपति करहिं' में 'रघुपति' शब्दोंसे भी अभेद स्पष्ट हो जाता है। अस्तु,

कथा इस प्रकार है कि एक बार हिमाचल-पर्वतकी एक अति

अर्न्त रमणीय गुहाको देख नारदजीका मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वे वहाँ समाधिनिष्ठ हो भजन करने लगे; उनके सुदीर्घकालतक तप करनेके कारण इन्द्रको भय हुआ कि ये कहीं मेरा इन्द्रासन न छीन लें, अतः भयभीत इन्द्रने श्रीनारदजीके तपको भंग करनेके लिये कामदेवको उसकी सेनासमेत भेजा। कामदेवने वहाँ पहुँचकर अपनी सारी कलाएँ दिखलायीं, परन्तु नारदजीपर उसकी एक न चली; तब डरकर उसने श्रीनारदजीके चरणोंमें प्रणाम किया और उनसे क्षमा माँगी। नारदजीको उसपर कुछ भी रोष न हुआ, प्रत्युत उन्होंने उसे प्रिय वचनोंसे संतुष्ट किया। तत्पश्चात् उसने इन्द्रसभामें आकर अपनी सारी करनी तथा नारदजीकी महिमाको स्पष्टरूपसे सुनाया, जिसे सुनकर सब देवगण देवर्षि नारदकी तपोनिष्ठापर मुग्ध हो गये। इधर कामदेवपर विजय प्राप्तकर नारदजीको अहङ्कार हो गया और अपने इस पराक्रमको प्रसिद्ध करनेके लिये वे भगवान् शङ्करके पास पहुँचे। भगवान् शङ्कर उनकी निष्ठापर अत्यन्त प्रसन्न हुए, परन्तु उनके हितार्थ कहा कि 'हे नारद! यह प्रसङ्ग तुम श्रीहरिभगवान्से कदापि न कहना।' श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥
राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

यहाँ भी 'हरि' और 'राम'की एकता विचारणीय है। अस्तु, अहङ्कारने मुनिको चैन नहीं लेने दिया, वे क्षीरसिन्धु पहुँच ही तो गये। यद्यपि शिवजीने उन्हें मना किया था, तथापि—

अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥

श्रुति-शिरोमणि चराचरराय श्रीनिवास भगवान्‌ने मुनिका स्वागत किया और पूछा कि 'हे मुनिराज ! बहुत दिनोंमें आपने दया की है; कहिये, कुशल तो है ?' फिर क्या था, नारदजी अपनी कामविजयकी कथा सरकारको सुनाने लगे। पूरी कथा सुनकर गर्वहरण श्रीभगवान्‌ने कहा—'हाँ, भला आप-जैसे ज्ञानीको मोह कैसे हो सकता है ?' नारदजीने अभिमानपूर्वक उत्तर दिया कि 'आपकी दयासे ऐसा ही है।' सरकार श्रीकरुणानिधानने देखा कि नारदजीके हृदयमें गर्वका महान् वृक्ष उग रहा है, इसे जल्द निर्मूल कर दिया जाय तभी ठीक है; क्योंकि सेवकका हित करना हमारा प्रण है। यहाँ 'चराचरराय' और 'रघुपति' शब्द भी एकार्थसूचक हैं।

ऐसी करुणा भला, श्रीरामजीको छोड़ और किसमें सम्भव है। बस, श्रीपतिने निज मायाको प्रेरणाकर वैकुण्ठकी अपेक्षा भी सुन्दर एक नगरकी रचना मार्गमें कर दी। नारदजीने वैकुण्ठसे लौटते हुए उस नगरमें प्रवेश किया और वे वहाँके राजा शीलनिधिके दरबारमें पहुँचे। राजाके एक अत्यन्त सुन्दरी विश्वमोहिनी कन्या थी। (हरिमाया-ने ही यह सारा साज सजा रक्खा था।) उसे बुलाकर राजाने मुनिको उसका हाथ देखनेके लिये कहा। मुनि उसका रूप देखते ही सारा वैराग्य भूल गये। बड़ी देरतक एकटक देखते ही रह गये और उसके शुभ लक्षणोंको देख उनके चित्तमें उत्कण्ठा हुई कि 'इस अवसरपर यदि मेरा परम सुशोभित रूप हो जाता तो यह कन्या मुझे ही वर लेती। श्रीहरि हमारे परम हित हैं, उन्हींसे सौन्दर्य माँगना चाहिये। परन्तु प्रभुके धामतक जानेमें तो बहुत देर होगी; वे सर्वव्यापक हैं

ही, यहीं प्रार्थना करें।' यह सोचकर उन्होंने मन-ही-मन श्रीहरिका स्मरण कर कहा कि 'हे हरे! कृपया यहीं प्रकट होकर मेरी सहायता कीजिये।' कौतुक-निधि कृपालुने तुरंत प्रकट होकर नारदजीसे पूछा कि 'मुनिवर! किसलिये याद किया है?' नारदजीने उन्हें सारी कथा सुनाकर अपने हितके लिये प्रार्थना की। इसपर दीनदयालु प्रभु हँसकर बोले कि 'हे मुनि! जिसमें तुम्हारा कल्याण होगा मैं वही करूँगा।' परन्तु ये गूढ़ वचन नारदजीकी समझमें नहीं आये—

कुपथ माग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥

अतः नारदको उनके हितार्थ भगवान्ने कुरूप बना दिया; परन्तु भगवान्की माया ऐसी थी कि वह रूप किसी दूसरेको न जान पड़ा, सबने उन्हें नारद ही जानकर प्रणाम किया। इस भेदको केवल दो शिवगण जानते थे, जो उनकी दिल्लगी उड़ाकर उन्हें चिढ़ाने लगे। इनके अतिरिक्त नारदजीका यह भयङ्कर शरीर और बंदरका-सा मुख उस कन्याको भी दीख पड़ता था। अतः उसने इनकी ओर आँखेंतक न उठायीं। उसी समय नृपका शरीर धारणकर कृपालु प्रभु स्वयं वहाँ आ गये, कन्याने उनको जयमाल पहना दिया। नारदजी इससे अत्यन्त व्याकुल हुए। शिवगणोंने उनसे कहा कि 'जरा शीशेमें अपना मुँह तो देख लो!' नारदजीने जाकर जलमें अपनी परछाईं देखी और बंदरका-सा मुख देखकर अत्यन्त क्रोधित हुए; हरगणोंको शाप दिया कि 'तुम दोनों जाकर निशिचरकुलमें जन्म लो।' उन्हीं दोनोंने रावण और कुम्भकर्ण होकर जन्म लिया।'

तत्पश्चात् फिर जब नारदजीने जलमें अपना मुख देखा तो उन्हें अपना स्वरूप दीख पड़ा । वे अत्यन्त क्रोधित हो लक्ष्मीपतिके पास चले और मनमें ठान लिया कि 'या तो उन्हें शाप दूँगा या अपना प्राण त्याग करूँगा, क्योंकि उन्होंने संसारमें मेरा बड़ा भारी उपहास कराया।' दनुजारि प्रभु रास्तेमें ही मिल गये, उनके साथ रमा और वही राजकन्या थी। सरकारने पूछा कि 'मुनिजी ! आप घबड़ाये हुए कहाँ जा रहे हैं ?' भगवान्‌के इस वचनको सुनकर नारदजीका क्रोध भड़क उठा । भगवान्‌की मायाके वशीभूत होनेके कारण उनका विवेक नष्ट हो गया था । भगवान्‌को बहुत कुछ दुर्वचन कहनेके उपरान्त उन्होंने शाप दिया—

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा ॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी । करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी ॥

भगवान्‌ने सहर्ष भक्तका शाप स्वीकार किया ।

श्राप सीस धरि हरषि हियँ प्रभु बहु बिनती कीन्हि ।
निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि ॥
एहि बिधि जनम करम हरि केरे । सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे ॥
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना बिधि करहीं ॥
रामचंद्र के चरित सुहाए । कलप कोटि लगि जाहिं न गाए ॥

इस प्रसङ्गमें 'हरि', 'प्रभु' और 'रामचन्द्र' शब्द पारस्परिक अभेद बोध करा रहे हैं ।

सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल ।
अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामाया पतिहि ॥

यहाँ क्षीरशायी भगवान्‌को महामायापति कहा है ।

इस प्रकार नारदजीके शापके कारण रामावतारकी कथा कहकर भगवान् शंकर अब चौथे हेतुकी कथा शुरू करते हैं—

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी । कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी ॥

'हे शैलकुमारी ! उन्हीं सरकारके अवतारका एक और हेतु है, उसे सुनो—जिसके कारण वही अज, अगुण, अनूप ब्रह्म कोसलपुरके भूप बने हैं । जिनको तुमने लक्ष्मणजीसहित मुनिवेषमें वनमें फिरते देखा था और जिनके अद्भुत चरित देखकर उस सती-देहमें तुम बौरा गयी थीं, जिसकी छाया अबतक भी सम्पूर्णरूपसे नहीं उतरी है, मैं अपनी बुद्धिके अनुसार उन्हींके लीला-चरित्र कहूँगा ।' याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजसे कहा कि शिवजीके द्वारा अपनी पहलेकी करनी सुनकर पार्वतीने सकुचाकर मुसकरा दिया (मानो भ्रमवश अपना बौराना स्वीकार किया)। शिवजी कहने लगे—श्रीस्वायम्भुव मनु और उनकी रानी शतरूपाने चौथेपनमें राज्यका भार पुत्रको सौंपकर स्वयं नैमिषारण्य जाकर गोमती-तटपर निवास किया और वहाँके ऋषियोंके बतलाये हुए सब तीर्थोंकी यात्रा करनेके उपरान्त वे दोनों केवल शाक, कन्द और फलाहारपर जीवन-निर्वाह करते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्मका स्मरण करने लगे और अनुरागपूर्वक 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादश अक्षर मन्त्रका जप करते हुए नित्य श्रीवासुदेवके चरणकमलोंमें चित्त लगाकर और संतसमाजमें नित्यप्रति जाकर पुराणोंका श्रवण करते हुए ऋषि-वेषमें (वल्कलवस्त्रादि धारण कर) जीवन बिताने लगे । तदनन्तर उनकी निष्ठा ऐसी बढ़ी कि उन्होंने फल-मूलादिको भी त्याग दिया और श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये—परम प्रभुको नेत्रभर देखनेकी शुभ

अभिलाषासे केवल जल-आहारपर रहकर ही तप करने लगे। उनकी अभिलाषा सुनिये—

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथवादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु 'लीलातनु' गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

इस प्रसङ्गमें 'लीलातनु' शब्द अत्यन्त विचारणीय है, अर्थात् भगवान् शङ्करने शिवाकी शङ्का मिटानेके लिये जो वचन पहले ही कहे थे—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

इत्यादि।

—वही बात श्रीमनुजीकी अभिलाषामें दीख पड़ती है। मनुजीके स्पष्ट शब्द हैं कि 'जो प्रभु अगुन-अखण्डादिस्वरूप हैं, जिनका परमार्थविद् (ज्ञानी) चिन्तन करते हैं, वेद जिनका नेति-नेति कहकर निरूपण करता है, जो निजानन्द, निरुपाधि तथा अनुपमस्वरूप हैं, जिनके अंशसे अनेक ब्रह्मा, विष्णु और शिव (प्रति ब्रह्माण्डमें) उत्पन्न होते हैं, ऐसे प्रभु ही प्रेमवश हो भक्तोंके लिये लीला-शरीर धारण करते हैं—यदि यह वचन श्रुतिमें सत्य है तो हमारी भी अभिलाषा पूर्ण होगी अर्थात् हमारे हृदयमें जो भगवान्‌की स्वरूप-माधुरीके दर्शनकी उत्कट अभिलाषा है, उसे प्रभु 'लीलातनु' धारण करके अवश्य ही पूरी करेंगे, दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे।' इस प्रकार—

एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥

जलाहारपर रहकर तप करते जब उन्हें छः हजार वर्ष बीत गये, तब उन्होंने जल भी त्याग दिया और सात हजार वर्षतक वायुके आधारपर शरीरको धारण कर तप किया, पश्चात्, उसे भी छोड़कर दस हजार वर्ष निराहार तप किया। इस प्रकार दम्पतिने तेईस हजार वर्षतक घोर तप किया।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनों देवता (त्रिदेव) बारंबार उनके समीप आ वर माँगनेका लोभ दे गये, परम धीर दम्पति तनिक भी विचलित न हुए। यद्यपि उनके शरीरमें अस्थिमात्र शेष रह गयी थी, तथापि वे अपने व्रतपर अटल रहे। तब श्रीपरधामनिवासी सर्वव्यापक और सर्वज्ञ हरि वासुदेव उन्हें अपना अनन्यगति दास जानकर द्रवीभूत हो गये और कृपामृतसे सनी हुई परम गम्भीर आकाशवाणीके द्वारा उनसे कहने लगे कि 'वर माँगो, वर माँगो।'

इस 'मृतक-जिआवनि'—मुर्देमें भी जीवन-सञ्चार करनेवाली मधुर ध्वनिके श्रवणपुटोंके छिद्रोंसे होकर हृदयमें पहुँचते ही परमानन्दसे उनका 'कृश तनु' तत्काल ऐसा हृष्ट-पुष्ट हो गया मानो अभी-अभी घरसे आये हैं!

'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी' सर्वज्ञ पदसे यह सूचित हो रहा है कि सरकारसे मनुजीकी यह अभिलाषा तो छिपी नहीं थी कि वे दर्शन चाहते हैं; परन्तु वे किस लीलातनुका दर्शन चाहते हैं, इस विषयमें मनुजीके मुँहसे कहला लेना उचित समझा गया। क्योंकि मीन, कमठ, वामन, परशुराम, राम, कृष्णादि अनेकानेक लीलावतार हैं; इसीलिये आकाशवाणीसे वर माँगनेकी बात कही गयी।

श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदयँ समात॥

श्रीमनुजी बोले कि 'हे अनाथहित ! यदि मुझपर कृपा है तो हे विधि-हरि-हर सेव्य, चराचरनायक, प्रनतपाल ! प्रसन्न होकर मुझे यह वर दीजिये—

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है तथा जिसके लिये मुनिलोग यत्न करते हैं, जो काकभुशुण्डिजीके मन-मानसका हंस है और वेद जिसकी सगुण-निर्गुण कहकर स्तुति करते हैं, हे प्रणतके दुःख दूर करनेवाले प्रभु ! कृपा करके हमें उसी श्रीरघुनाथरूपसे दर्शन दीजिये।

यहाँ शङ्करजीके मनमें बसनेवाले रूपसे अभिप्राय—'संकर सोइ मूरति उर राखी', 'द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी', 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ' इत्यादिसे निश्चय हुआ कि वे श्रीकौशल्यानन्दनके रूपमें दर्शन चाहते हैं। जिसके लिये मुनिलोग यत्न करते हैं, इससे भी—

'मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम।'

'जो कोसल पति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥'
'नाथ कोसलाधीस कुमारा।' 'निज प्रभु देव जपत हहु जेही॥'
'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥
यह बर मागउँ कृपानिकेता। बसहु हृदयँ श्री अनुज समेता॥'

—इत्यादि प्रमाणोंसे शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदिसे सेव्य, दशरथनन्दनहीके लिये संकेत है। तथा 'जो भुसुंडि मन मानस हंसा।

सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥' से एवं 'इष्टदेव मम बालक रामा ।' 'बालकरूप राम कर ध्याना । कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना ॥' तथा 'जय सगुन निर्गुन रूप राम अनूप भूप सिरोमने' इत्यादिसे भी रामावतारकी ही सूचना मिलती है ।

दंपति बचन परम प्रिय लागे । मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे ॥
भगत बछल प्रभु कृपानिधाना । बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥

इस प्रकार दम्पतिके प्रेमपूरित, नम्र तथा मधुर वचन सुनकर भक्तवत्सल, विश्वव्यापक प्रभु श्रीहरि वासुदेव श्रीरामरूपसे प्रकट हुए।

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥

——यहाँसे लेकर——

पदराजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जेन्ह माहीं ॥

——इस चौपाईतक श्रीरामावतारकी छविका मेल स्पष्ट है। प्रभुके वामभागमें वह आदिशक्ति छविनिधि शोभाकी खानि श्रीलक्ष्मीजी भी श्रीसीताके रूपमें शोभित थीं, जिनके भृकुटिविलासमात्रसे सृष्टिकी रचना होती है और जिनके अङ्गसे अगणित त्रिदेवकी शक्तियाँ उमा, रमा, ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं ।

छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी ॥

जिन हरिके लिये उन्होंने तप करना प्रारम्भ किया था, वही हरि जब रामरूप लीलातनुमें सामने आ प्रकट हुए, तब मनोरथ पूर्ण होनेपर नेत्रभर देख तृप्त न हो, हर्षसे विवश मनुजी देहानुसन्धानरहित हो गये तथा दण्डकी भाँति भगवान्के चरणकमलोंपर गिर पड़े । श्रीकरुणानिधि प्रभु उनके सिरपर करकमलको फेरकर उन्हें शीघ्र उठा लिया और बोले कि 'मुझे अत्यन्त प्रसन्न और महादानी जानकर मनचाहा वर माँगो ।'

श्रीमनुजी धैर्य धारणकर अनेक प्रकार स्तुति करते हुए बोले—

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥

कृपानिधि दानिशिरोमणिसे छिपाकर क्या रक्खूँ। मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ।'

श्रीमुखसे 'एवमस्तु' शब्द उच्चारण हुआ—

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥

पुनः श्रीप्रभुने शतरूपासे जो हाथ जोड़े सामने खड़ी थी, कहा—'हे देवि! तुम्हारी भी जो रुचि हो सो माँगो।' उन्होंने भी श्रीमनुमहाराजकी अभिलाषाका समर्थन किया तथा इतना और चाहा कि 'हे नाथ! आपके भक्तोंको जो सुख, गति, भक्ति, विवेक, स्थिति तथा भगवत्-चरणोंमें स्नेह प्राप्त रहता है, वह भी नाथकी कृपासे मुझे प्राप्त हो।' भगवान्‌ने यह सब स्वीकार किया। तब मनुजीने कहा कि 'हे नाथ! मेरी प्रीति आपमें पुत्रभावसे ही हो, चाहे इसके लिये मुझे कोई मूढ़ ही क्यों न कहे। आपका वियोग होते ही मेरे प्राणान्त हो जायँ।' श्रीकरुणानिधिने 'एवमस्तु' कहा और आज्ञा दी कि 'आप इस समय जाकर अमरपुरमें रहें। वहाँका सुख भोगकर आप कुछ दिनके बाद अवध-नृपति होंगे, तब मैं आपके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लूँगा। क्योंकि मेरे समान तो मैं ही हूँ।'

उपर्युक्त हेतुमें भी यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो गयी कि श्रीहरि वासुदेव श्रीपति अगुण, अखण्ड, अनादि, व्यापक ब्रह्मने ही श्रीमनुजीको वरदान देकर श्रीरामावतार धारण किया है। अतः हरि वासुदेव साकार-विग्रह तथा व्यापक विश्वनिवास निराकार ब्रह्ममें कोई भेद

नहीं। एक और बात यहाँ बड़े रहस्यकी है और अत्यन्त विचारणीय है। इसके पूर्वके तीनों हेतुओंमें प्रत्येकमें 'कल्प' शब्द आया है, यथा—

जय-विजयके हेतुमें—

एक कल्प तेहि लगि अवतारा।

जलन्धरके हेतुमें—

एक कल्प सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥

नारद-शाप-हेतुमें—

नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कल्प एक तेहि लगि अवतारा॥

परन्तु इस अवतारके हेतुमें कल्पका जिक्र नहीं आया है। कारण यह है कि यह उसी वर्तमान कल्पके अवतारका हेतु है, जिस कल्पमें यह कथा श्रीपार्वतीजीको सुनायी जा रही है। इससे सिद्ध हुआ कि पूर्व हेतुके अवतार इस अवतारसे पहले हो चुके हैं और श्रीरामचरितमानसका निर्माण होना भी इससे पूर्व ही सिद्ध है, क्योंकि सती-शरीरमें ही भगवान् शङ्करके साथ सतीजीने इस कथाको अगस्त्य मुनिसे सुना था तथा शिवजी स्वयं भी कह रहे हैं कि 'इस मानस-को मैं सती-वियोग-कालमें हंसशरीर धारणकर काकभुशुण्डिजीसे सुन चुका हूँ। यह वही कथा है जिसको काकजीने गरुड़को सुनाया था।' इससे यह भी सिद्ध हुआ कि गरुड़जीको इस अवतारमें मोह नहीं हुआ था, इससे पहलेके अवतारमें हुआ था, जिसकी निवृत्ति काकभुशुण्डिजीके द्वारा रामचरितमानस श्रवण करनेसे हुई थी और गरुड़जीके सुननेके सत्ताईस कल्प पूर्व भुशुण्डिजीने इसे लोमश ऋषिसे सुना था। अतः यह मानस स्वायम्भुव मनुके पहले भी वर्तमान था!

इस कथा-प्रसङ्गसे यह भी ज्ञात होता है कि इन हेतुओंमें प्रथम हेतु नारद-शाप ही है, जिसके द्वारा मानस-रचना हुई तथा जिसे काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीको सुनाया था—

पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन अवतारा॥

क्योंकि इसी हेतुको भुशुण्डिजीने श्रीलोमश ऋषिसे सुना था। अतः इस हेतुसे साक्षात् श्रीक्षीराब्धिनाथजी रघुकुल-भूषण हुए हैं और इन्हींके उपासक श्रीकाकजी हैं, जो प्रथम अवतारसे ही वर्तमान हैं। इसीका उल्लेख श्रीमनुजी अपने तपके फलकी प्राप्तिके लक्ष्यमें कर रहे हैं—'जो भुसुंडि मन मानस हंसा।' यह अवतार तो तबतक हुआ ही नहीं था, इस अवतारके लिये तो पीछेसे वर होगा। अगस्त्यजीने पूर्वकल्पके नारद-मोहावतारकी कथा शिवजी और सती-जीको सुनायी थी। इस वर्तमान अवतारको तो वनमें फिरते देखा ही था। इसलिये 'जेहि कारन मुनि जतन कराहीं—जिसके लिये मुनिगण यत्न करते हैं—मनुजीका यह लक्ष्य भी क्षीरशायी रामावतारके लिये ही है। भगवान् शिव भी इन्हींके लिये सतीको बोध देते हुए उसी समय कह रहे हैं—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥
जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥

जिसकी कथा अगस्त्य ऋषिने सुनायी है, वही (नारदशापावतारी) राम मेरे इष्टदेव हैं। इन्हीं शंकर-मानस-राजमरालके लिये मनुजी

कहते हैं—'जो सरूप बस सिव मन माहीं' नहीं तो यह अवतार तो अभी हुआ ही न था। इसीके लिये तो तप हो रहा है।

अतः अब यह स्पष्ट हो गया कि श्रीमनुजीने प्रभुके उसी रूपका दर्शन प्राप्त किया था जो प्रथम ही भगवान् शंकर, श्रीकाकभुशुण्डि तथा अगस्त्यादि मुनिजनोंके सेव्य और इष्ट हो चुके थे। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि जिनको वेद अगुण-सगुणादि कहकर गान करता है, वही क्षीराब्धिनाथ हैं जो नारदशापावतारी श्रीराम हुए हैं। उन्होंने श्रीमनुजीको वरदान दिया कि, 'हम आकर तुम्हारे पुत्र होंगे', अतः उन्हीं सरकारने जब प्रत्येक हेतुसे अवतार लिया तो भेद कहाँ रहा ? इससे सिद्ध हुआ कि 'राम जनमके हेतु अनेका।' श्रीरामजीके जन्महेतु अनेक हैं; श्रीराम तो अनेक नहीं, एक ही हैं।

यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही बृषकेतु।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि राम जनम कर हेतु॥

श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने कहा कि 'हे भरद्वाज ! इस पुनीत इतिहासको भगवान् शङ्करने श्रीपार्वतीसे कहा, अब रामावतारके एक दूसरे हेतुको सुनिये।'

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी॥

याज्ञवल्क्य मुनि कहते हैं कि 'हे भरद्वाज ! भगवान् शंकरने श्रीपार्वतीजीसे रामावतारका दूसरा एक और हेतु कहा था, उसे भी सुनो।' कैकय-देशके राजा भानुप्रतापको उसके वैरी राजा कपट मुनिने ब्राह्मणोंसे (धोखा देकर तथा माया रचकर) यह शाप दिला दिया कि वह सपरिवार सालभरमें नष्ट होकर राक्षस हो जाय। समय आनेपर वही भानुप्रताप रावण हुआ, उसका भाई अरिमर्दन कुम्भकर्ण

हुआ और धर्मरुचि नामक सचिव उसका भाई विभीषण हुआ। इस प्रकार उसके सारे परिवारके लोगोंने घोर निशाचर-योनिमें जन्म ग्रहण किया। इन तीनों भाइयोंने उग्र तप करके, रावणने वानर और मनुष्य छोड़कर अन्य किसीसे न मरनेका, कुम्भकर्णने छः महीने नींदका तथा विभीषणने श्रीभगवान्‌की भक्तिका वरदान ब्रह्मा और शंकरसे प्राप्त किया; तत्पश्चात् विभीषण तो भजनमें लग गया और कुम्भकर्ण निद्राग्रस्त हो गया, परन्तु रावणने मदमत्त होकर अपने मेघनादादि पुत्रोंको आज्ञा दी कि पृथ्वीसे धर्माचारका लोप कर दो। बस, फिर क्या था—

अतिसय देखि धर्म कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥

पृथ्वी अधर्मसे व्याकुल हो धेनुरूप धारणकर ब्रह्माकी शरण गयी। ब्रह्माजीने पृथ्वीके साथ-साथ सारे देवताओंको असुरोंके अत्याचारसे दुःखित देखकर कहा कि 'इसमें मेरा कुछ वश नहीं चल सकता। हे पृथ्वी! जिनकी तुम दासी हो वही अविनाशी, अखिललोकवासी प्रभु मेरे और तुम्हारे दोनोंके सहायक हैं। हे धरणि! तुम धीर धरो, हरि अपने जनकी पीड़ाको जानते हैं; वह शीघ्र ही इस दारुण विपत्तिको मिटायेंगे।' यथा—

जा करि तैं दासी सो अविनासी हमरेउ तोर सहाई॥
धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरि पद सुमिरु।
जानत जन की पीर प्रभु भंजिहि दारुन बिपति॥

यहाँ 'अविनाशी' और 'हरि' पदोंसे दिव्यधामके नित्यस्वरूप सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी हरि ही अभिप्रेत हैं, त्रिदेवगत हरि नहीं।

अब देवताओंने एकत्र हो विचारना आरम्भ किया कि वे श्रीहरि कहाँ मिलेंगे—

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥

इसी प्रसङ्गसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रभु हरि त्रिदेवगत ब्रह्माण्डनायक नहीं, क्योंकि यदि वे विवक्षित होते तो उनके समीप तो देवताओंका जाना सदा ही सुगम था। इसका उदाहरण इसी ग्रन्थमें पाया जाता है। जब शिवजीने कामको भस्म कर रतिको वरदान दिया तो—

देवन्ह समाचार सब पाए। ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाए॥
सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपानिकेता॥
पृथक पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा॥

अर्थात् देववृन्द सीधे ब्रह्माण्डनायक विष्णुके पास गये और उनको साथ लेकर सबोंने शिवजीकी स्तुति कर उन्हें प्रसन्न किया।

परन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी है, सब घबराहटमें पड़े हुए हैं—'कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा।'

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

किसीने कहा वह अविनाशी जनकी पीर हरनेवाले श्रीहरि वैकुण्ठ-धाममें वास करते हैं और किसीने उसी प्रभुके क्षीरसागरमें रहनेका संकेत किया। श्रीशिवजी कहते हैं कि 'हे गिरिजा! उस समाजमें मैं भी उपस्थित था, अवसर पानेपर मैंने कहा—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥

सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर सावधान मतिधीर॥

भगवान् शङ्करकी यह सम्मति कि जो प्रभु श्रीवैकुण्ठधाममें रहते हैं तथा जो प्रभु क्षीरसागरमें रहते हैं, वही हरि व्यापक भी हैं, जहाँ प्रेम किया जाय वहाँ ही प्रकट हो सकते हैं, सुनकर सब प्रसन्न हो गये और श्रीब्रह्माजीने आनन्दित हो 'साधु-साधु' कह धन्यवाद दिया। तत्पश्चात् सब देववृन्द प्रेमपुलकित हो स्तुति करने लगे। इस स्तुतिके छन्दपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यह एक ही परात्पर परम पुरुषोत्तमके निमित्त की गयी है न कि अनेकके लिये।

जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा।
जय जय असुरारी × × × सिंधुसुता प्रिय कंता॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।
निसिबासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥
जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।

इत्यादि।

सतीका सन्देह था कि—

खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥

यहाँ स्तुतिमें भी, 'जय जय असुरारी' तथा श्रीपतिकी जगह 'सिन्धुसुतापति' पद स्पष्ट है।

सतीका दूसरा सन्देह था—

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर!

और यहाँ स्तुतिमें भी स्पष्ट करते हैं—'अबिनासी सब घटबासी

व्यापक परमानंदा।' जिस प्रभुने स्वतः त्रिविध (सत्त्व-रज-तमोमयी) सृष्टि बनायी है, तथा श्रीपति असुरारी विष्णु भगवान् (परधाम) तथा सब घटवासी व्यापक परमानन्द (सच्चिदानन्द) यह दोनों स्वरूप जिस एक ही प्रभुके हैं वे प्रभु मुझपर कृपा करें---'द्रवहु सो श्रीभगवाना !'

यहाँ तनिक भी विचारनेसे स्पष्ट हो जायगा कि निर्विकार निराकार व्यापक ब्रह्म तथा सगुण विष्णु भगवान्में पूर्ण अभेद है। देवताओंकी स्तुतिके उत्तरमें आकाशवाणी हुई।

जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह।
गगनगिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह ॥
जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा ॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नर भूपा ॥
तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥
नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई ॥
तब ब्रह्माँ धरनिहि समुझावा। अभय भई भरोस जियँ आवा ॥
निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ ॥
गए देव सब निज निज धामा। भूमि सहित मन कहुँ बिश्रामा ॥

इस प्रसङ्गमें यह विचारणीय है कि यदि प्रभु एक न होते तो जहाँ भानुप्रतापके रावण होनेपर पृथ्वीको दुःख है, स्वायम्भुव मनु और शतरूपाको दशरथ और कौशल्याके रूपमें जन्म लेना है, वहाँ

कश्यप-अदितिके तथा नारद-वचनके सत्य करनेका जिक्र क्यों आता? नारद-शापकी बात तो क्षीराब्धिनाथके समक्षकी है, कश्यप-अदितिका तो जय-विजयके राक्षस बननेके अवसरपर दशरथ और कौशल्याके रूपमें जन्म लेना है। सारांश यह कि यह सब एक ही समग्र परात्पर ब्रह्मकी लीला है। इतनी स्पष्टता होनेपर भी यदि कोई श्रीराममें अनेक बुद्धि-का भेद माने तो उसके लिये क्या कहा जा सकता है?

नाम, रूप, लीला और धाम यह चतुर्विग्रह एक ही रामके निश्चित हैं जो नित्य और परात्पर हैं—

रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥

अतः उपर्युक्त चारों राम वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, केवल अवतारके हेतु ही भिन्न हैं। अतएव जिस प्रकार रामचरितमानसमें प्रत्येक कल्पके हेतुओंका लक्ष्य करके एकीकरण हुआ है; उसी प्रकार आकाशवाणीमें बार-बार 'अवतरिहउँ' 'अवतरिहउँ' का संकेत करके अनेक हेतुओंका समन्वय कर दिया गया है।

'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा' से मनुके हेतुको, 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा' से जय-विजय और जालन्धरके हेतुको एवं 'नारद वचन सत्य सब करिहउँ' से नारद-शापके हेतुको स्पष्ट कर एक ही चरितके होनेका निश्चित प्रमाण प्रदर्शित कर दिया है। चरितभागमें भी इसके अनेक प्रमाण हैं, यथा—

मोर श्राप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥
पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय राम लखन रहे आई॥

अवतार अपर या पर, किस ब्रह्मसे होता है, तथा ब्रह्म और अवतारोंमें भेद है या ऐक्य है; राम दो हैं या एक ही हैं, राम पर हैं अथवा अपर; एवं वह श्रीवैकुण्ठनाथ, श्रीक्षीराब्धिनाथ व्यापक ब्रह्मके अवतार हैं अथवा साकेतके, तथा श्रीमानसगत 'हरि' शब्दका प्रसङ्गानुसार कहाँपर प्रभुके अर्थमें प्रयोग हुआ है, और कहाँ त्रिदेवस्थ हरिके अर्थमें; इसी प्रकार सरकारका नर-अवतार है अथवा वे स्वयं विग्रहरूपसे कहाँसे आये हैं—श्रीरामावतार-सम्बन्धकी ये सारी बातें आगे उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाती हैं।

'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम।
'निज आयुध भुज चारी' 'भयउ प्रगट श्रीकंता।'
'बिप्र चरन देखत मन लोभा।'
'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥'
'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।'
'बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बर बेपु।'
'सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाके।'
'जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं।'
'जे परसि मुनिबनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंदु जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई॥'
'सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहिं जगु किय तिहु पगहु ते थोरा॥'
(श्रीवामन)
'पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई॥'
नमामि इंदिरा पतिं (लक्ष्मीपति) शची पति प्रियानुजं (श्रीवामन)
'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा॥

'भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा ॥'
'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ॥'
'अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥'
'गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा ॥'
'स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥'
'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।'
'जेहि श्रुति निरंतर ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।'
'सो राम रमा निवास संतत दास बस त्रिभुवन धनी।'

'गीध गयउ हरिधाम।'

'मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा ॥'
'मंगलरूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें ॥'
'तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥'
हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ॥'
'जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी ॥'

'बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ ॥'

उपर्युक्त पदोंको देखकर सारे संशय दूर हो जाते हैं और यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि परात्पर ब्रह्म और श्रीराममें तनिक भी भेद नहीं है, तथा त्रिविक्रम (श्रीवामन भगवान्) और खरारि (श्रीराम) एक ही हैं। श्रीरामने वामनरूपसे बलिको बाँधा था। अन्तिम पद तो उस अनन्य भक्त तथा भगवान्के बूढ़े मन्त्री श्रीजाम्बवन्तजीके हैं जिन्होंने निज नयनोंसे भगवान्के दोनों (श्रीराम और श्रीकृष्ण) स्वरूपोंकी लीलाएँ देखी थीं। इन स्पष्ट प्रमाणोंके होते हुए भी भेद-बुद्धि रह जाय तो आश्चर्यकी बात होगी !

'ब्रह्म अनामय अज भगवंता । व्यापक अजित अनादि अनंता ॥
गो द्विज देव धेनु हितकारी । कृपासिंधु मानुष तनु धारी ॥'
अतिबल मधु कैटभ जेहिं मारे । महाबीर दितिसुत संघारे ॥
जेहिं बलि बाँधि सहस्रभुज मारा । सोइ अवतरेउ हरन महि भारा ॥
हिरन्याच्छ भ्राता सहित मधु कैटभ बलवान ।
जेहिं मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान ॥

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त रावणके प्रति उसके मन्त्री श्रीमाल्यवन्तने समझाया है, सारांश यह है कि जिन अमित शक्तिवाले प्रभुने मधु दैत्यका वध किया तथा वाराह रूप धारण कर हिरण्याक्षका वध किया, नरसिंहावतार लेकर हिरण्यकशिपुको मारा, श्रीवामनावतारसे बलिको बाँधा, श्रीपरशुरामावतारसे सहस्रबाहुको मारा, वे ही श्रीभगवान् विष्णु, ब्रह्म, अनामय, अज, अनन्त व्यापक परात्पर प्रभु गो-द्विजधेनु-देवके हितके लिये मानव-लीला करनेके लिये प्रकट हुए हैं ।

'स्वबस अनंत एक अबिकारी ।'
'भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुर पद लस्यो ।'
'अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा ।'
'धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो ।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो ॥'
'तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी । सदा एकरस सहज उदासी ॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय । अजित अमोघ सक्ति करुनामय ॥
मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी ॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ॥'
अज व्यापकमेकमनादि सदा । छबि धाम नमामि रमा सहितं ।
सुख मंदिर सुंदर श्रीरमनं ।' (ब्रह्मास्तुति)

'मोहि जानिए निज दास। दे भक्ति रमानिवास ॥'
'दे भक्ति रमानिवास त्रास हरन सरन सुखदायकं।'
सिंहासन अति उच्च मनोहर। श्री समेत बैठे प्रभु तापर ॥'
'सीता सहित अवध कहुँ कीन्ह कृपाल प्रनाम।'
'लियो हृदयँ लाइ कृपा निधान सुजान रायँ रमापती ॥'
राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि।'
'श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई।'
'नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी।'

(वामन)

'पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।'
'जय राम रमारमनं समनं प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।'
'हरषि देहु श्रीरंग' 'जहँ भूप रमानिवास ॥'
'रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।'
'ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप ॥'
'परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा ॥'
'परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥'
'अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन।'
'गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदयँ राखि रघुबीर।'

उपर्युक्त पदोंमें श्रीरमण, रमानिवास, ब्रह्म, सच्चिदानन्दघन आदि शब्द श्रीरघुकुल-भूषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लिये आये हैं जो स्पष्ट रूपसे अभेदका बोध करा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्र-जी वही ब्रह्म सच्चिदानन्द, रमानिवास भगवान् हैं, अन्य नहीं; इनमें भेद-बुद्धि करना महाभ्रम है। आगेकी पंक्तियोंमें 'हरि' शब्द श्रीअवतारी हरिके अर्थमें आया है और सबकी एकता सूचित हुई है ।

'बुध बरनहिं हरि जस अस जानी' 'औरउ जे हरिभगत सुजाना ।'
'हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा ।' 'लगे कहन हरि कथा रसाला ।'
'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना ।' 'हरि माया बस जगत भ्रमाहीं।'

'हरि गुन नाम अपार कथारूप अगनित अमित ।'

'हरि अवतार हेतु जेहि होई' 'द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ ।'

'करहु कृपा हरि जस करउँ पुनि पुनि करउँ निहोर ।'

'कल्प भेद हरि चरित सुहाए ।' 'हरि इच्छा भावी बलवाना ।'

'सतीं मरत हरि सन बरु माँगा ।'
'जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी।'
'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई ।'
'सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए ।'
'तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना ।'
'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी ।'
'नारद बिष्नुभगत पुनि ग्यानी ।'
'भयउ रमापति पद अनुरागा ।'

'हरि इच्छा बलवान ।' 'गावत हरि गुन गान प्रबीना ।'

'जहँ बस श्रीनिवास श्रुति माथा ।'
'तब नारद हरि पद सिर नाई ।'
'श्रीपति निज माया तब प्रेरी ।'
'हरि सन माँगौं सुंदरताई ।'
'मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ ।'
'समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा ।'
'धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ ।'
'समर मरन हरि हाथ तुम्हारा ।'

'पुनि हरि हेतु करन तप लागे।'
'छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी।'
'हरि व्यापक सर्वत्र समाना।'
'जा दिन तें हरि गर्भहिं आए।'
'हरि जननिहि बहुबिधि समुझाई।'
'अस प्रभु दीनबंधु हरि।'
'तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।'

(शबरी)

'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।'
'ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥'
'हरि सेवकहि न व्याप अबिद्या।'
'हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥'
'हर कहुँ हरि सेवक गुर कहेऊ।'
'सुनु खगेस हरि भगति बिहाई।'
'जो हरि कृपा हृदय बसि आई।'
'अस हरि भगति सुगम सुखदाई।'
'चंदन तरु हरि संत समीरा।'
'बिनु हरि कृपा न होइ।'
'बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।'

उपर्युक्त अवतरण श्रीरामचरितमानसके हैं, श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके अन्य ग्रन्थोंसे इस विषयके कुछ अवतरण आगे दिये जाते हैं—

श्रीरामगीतावली—

'जय जय जय जयति कैटभारे।' पद (३८)
'हिय हरखाने जाने शेषशयन।' ,, (४७)
'उर भृगुचरण चिन्ह सुखदायी।' ,, (१०८)
'भृगुपद चिन्ह पदिक इन शोभित।' ,, (३०८)

'हृदय पदिक भृगुचरण चिन्हवर बाहु विशाल जानु लगि पहुँचति।'

पद (३०९)

'उर भृगुचरण विराजत द्विज प्रिय चरित अनूप।'

पद (३१३)

श्रीकवित्तरामायण—

'अपराध अगाध भये जनते अपने उर आनत नाहिन जू।
गनिका गज गीध अजामिलके गनि पातक पुंज सिराहि न जू।
लिये बारक नाम सुधाम दिये जेहि धाम महामुनि जाहि न जू।
तुलसी भजु दीनदयालहि रे रघुनाथ अनाथके दाहिन जू॥'
'प्रभु सत्य करी प्रह्लाद-गिरा प्रगटे नरकेहरि खम्भ महा।
झपराज ग्रस्यो गजराज कृपा ततकाल बिलम्ब न कीन्ह तहाँ।
सुर साख दै राखी हैं पांडुबधू पट लूटत कोटिन्ह भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच विमोचनको जनको प्रन राम न राखे कहाँ॥
'नर-नारि उघारि सभा महँ होत दिये पट सोच हर्यो मनको।
प्रह्लाद विषाद निवारण वारण तारण मीत अकारनको।
जो कहावत दीनदयाल सही जेहि भीर सदा अपने जनको।
तुलसी तजि आन भरोस भजै भगवान भलो करिहैं जनको॥'

श्रीविनय-पत्रिका—

'ग्रसत भवव्याल अतित्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारियानम्।'

'चाहत अभय भेक शरणागत खगपतिनाथ बिसारी।'

'कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम।
जेहि करुना सुनि स्रवन दीन दुख धावत हौ तजि धाम॥
नागराज निज बल बिचारि हिय हारि चरन चित दीन्ह।
आरत गिरा सुनत खगपति तजि चलत बिलम्ब न कीन्ह॥
दितिसुत त्रास त्रसित निसिदिन प्रह्लाद प्रतिज्ञा राखी।
अतुलित बल मृगराज मनुज तनु दनुज हते श्रुति-साखी॥
भूप सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु राखु कह्यो नर-नारी।
बसन पूरि अरि दर्प दूरि करि भूरि कृपा दनुजारी॥
एक एक रिपु तें त्रासित जन तुम राखे रघुबीर।
अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव पीर॥'

'जौ पै हरि जनके औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालिसों कत हठि बैर बिसहते॥
जो जप जाग जोग ब्रत बरजित केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुरमुनिबर बिहाइ ब्रजगोप गेह बसि रहते॥'

'ऐसी हरि करत दासपर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति॥
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करमकी डोरि।
सोइ अबछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरि॥
जाकी मायाबस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-जुवतिन तेहि नाच नचायो॥
बिस्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख।
बलिसों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख॥
जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुखभार।

अम्बरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस वार ॥
जोग विराग ध्यान जप तप करि जेहिं खोजत मुनि ज्ञानी।
वानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी ॥
लोकपाल जम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेनके द्वार वेंत कर धारी ॥
'सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुवीर।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी सकल भवपीर ॥
बेद विदित जग विदित अजामिल विप्रबन्धु अघधाम।
घोर जमालय जात निवार्यो सुत हित सुमिरत नाम ॥
पसु पाँवर अभिमानसिन्धु गज ग्रसेउ आइ जब ग्राह।
सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हरेउ दुसह उर दाह ॥
व्याध निषाद गीध गनिकादिक अगनित अवगुन मूल।
नाम ओटते राम सबनिकी दूरि करी सब सूल ॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन्हते रघुकुलभूषन भूप।
सीदत तुलसिदास निसि वासर पर्यो भीम तम कूप ॥'

'एकै दानि सिरोमनि साँचे।
हरिहु और अवतार आपने राखी वेद बड़ाई।
लै चिउरा निधि दई सुदामहि जद्यपि वाल मिताई ॥
कपि सवरी सुग्रीव विभीषन को नहिं कियो अयाची।
अब तुलसिहिं दुख देति कृपानिधि दारुन आस पिसाची ॥'

'जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िये कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन भये जग मंगलकारी ॥

'मैं तोहिं अब जान्यो संसार।

सुनु खल, छल बल कोटि किये बस होइ न भक्त उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नन्दकुमार॥

'ऐसी कौन प्रभुकी रीति।

विरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ॥
काम मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्हि।
जगत पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्हि॥'

× × ×

'कौन तिन्हकी कहै जिनके सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ॥'

'जो पै दूसरो कोउ होइ।

तो हौं बारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥
काहि ममता दीन पर काको पतित पावन नामु।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपने धामु॥
रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोकसरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक॥
बिपुल भूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यो प्रभु पाहि।
सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हे ताहि॥
एक मुख किमि कहौं करुनासिन्धुके गुनगाथ।
भगत हित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ॥'

'कबहुँ देखाइहौ हरि चरन।

गंग-जनक अनंग अरि प्रिय कपट बटु बलि छरन।

विप्रतिय नृग वधिकके दुख दोष दारुनदरन ॥
कृपासिन्धु सुजान रघुबर प्रनत आरति हरन।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥'
'सिला गुह गीध कपि भील भालु रातिचर
ख्याल ही कृपालु कीन्हें तारन तरन।
पील उद्धरन सीलसिन्धु ढील देखियत
तुलसी पै चाहत गलानि हू गरन।'

नारायणोपनिषद् (श्रुति)—

'अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सौवर्णानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुख-सप्तमुखाष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवद् भ्रमन्ति।'

'एकस्मिन्नविद्यापादेऽनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सौवर्णानि भूयन्ते। तस्मिन्नेकस्मिन्नण्डे बहवो लोकाश्च बहवो वैकुण्ठाश्चानन्तविभूतयश्च सन्त्येव।'

'संख्या चेद् रजसामपि विश्वानां न कदाचन।'

लिङ्गपुराणे—

कोटिकोटियुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः॥
असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्च असंख्याता एक एव महेश्वरः॥

श्रीमद्भागवते एकादशस्कन्धे—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥
यत्काय एष भुवनत्रयसंनिवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिःस्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥
आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥

तृतीयस्कन्धे—

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आदिमूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद् ववृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥

श्रीअध्यात्मरामायणे—

एष रामः परो विष्णुरादिनारायणः स्मृतः ।
एषा सा जानकी लक्ष्मीर्योगमायेति विश्रुता ॥
असौ शेषस्तमन्वेति लक्ष्मणाख्यश्च साम्प्रतम् ।
एष मायागुणैर्युक्तस्तत्तदाकारवानिव ॥
एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माभूद्विश्वभावनः ।

सत्त्वाविष्टस्तथा विष्णुस्त्रिजगत्प्रतिपालकः ॥
एष रुद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम् ।
एष मत्स्यः पुरा भूत्वा भक्तं वैवस्वतं मनुम् ॥
नाव्यारोप्य लयस्यान्तं पालयामास राघवः ।
समुद्रमथने पूर्वं मन्दरे सुतलं गते ॥
अधारयत्स्वपृष्ठेऽद्रिं कूर्मरूपी रघूत्तमः ।
मही रसातलं याता प्रलये सूकरोऽभवत् ॥
तोलयामास दंष्ट्राग्रे तां क्षोणीं रघुनन्दनः ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा प्रह्लादवरदः पुरा ॥
त्रिलोककण्टकं रक्षः पाटयामास तन्नखैः ।
पुत्रराज्यं हृतं दृष्ट्वा ह्यदित्या याचितः पुरा ॥
वामनत्वमुपागम्य याच्ञया चाहरत्पुनः ।
दुष्टक्षत्रियभूभारनिवृत्त्यै भार्गवोऽभवत् ॥
स एष जगतां नाथ इदानीं रामतां गतः ।
रावणादीनि रक्षांसि कोटिशो निहनिष्यति ॥

श्रीहरिवंशपुराणे भविष्यपर्वे—

विष्णुर्विष्णुत्वमापन्नो देहान्तरं विसृष्टवान् ।
संरक्षति महायोगी सर्वांस्तान् सहचारिणः॥

यहाँतक तो श्रीरामका परब्रह्म सच्चिदानन्दघन क्षीराब्धिशायी विष्णुके साथ अभेद दिखलाया गया । अब आगेकी पंक्तियोंमें श्रीरामचरितमानसमें 'हरि' शब्द त्रिदेवगत हरिके लिये कहाँ-कहाँ प्रयुक्त हुआ है, सो उद्धृत किया जाता है—

'विधि हरि हर कवि कोबिद बानी।' 'बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो॥'

'देखे सिव विधि बिष्नु अनेका ।' 'बिष्नु बिरंचि महेस बिहाई ॥'
'तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता ।' 'तपबल बिष्नु सकल जग त्राता ॥'
'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता ।' 'बिष्नु बिरंचि आदि सुरत्राता ॥'
'बिष्नु बिरंचि देव सब जाती ।' 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना ॥'
'बिधि हरि हर तप देखि अपारा ।' 'बिधि हरि हर बंदित पदरेनू ॥'
'तपबल बिष्नु भए परित्राता ।' 'तपबल तें जग सृजइ बिधाता ॥'
'बिष्नु चारि मुख बिधि मुख चारी ।' 'बिधि हरि हर दिसिपति दिनराऊ ।'
'बिधि हरि संभु नचावनिहारे ।' 'बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा ।'
'भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ ।'
'जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ।' 'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला।'
'बिधि हरि हर माया बड़ि भारी ।' 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा ॥'
'संकर सहस बिष्नु अज तोही ।'
'राम बिरोध न उबरेसि सरन बिष्नु अज ईस ।'
'भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता ।'
'बिष्नु कोटि सम पालनकर्ता । रुद्र कोटि सत सम संहर्ता ॥'

यही इस मानस ग्रन्थका मुख्य मर्म है कि जहाँ कहीं ब्रह्माण्ड-नायक हरि वा विष्णुका प्रयोग हुआ है, जो स्वयं परवासुदेव श्रीमन्नारायणके अंश हैं, (यद्यपि वे भी पूर्ण ही हैं; क्योंकि भगवान्‌का कोई भी स्वरूप अपूर्ण नहीं होता ।) वहाँ उन्हें कहीं अकेले न कहकर ब्रह्मा-विष्णुके साथ ही रक्खा गया है । ऐसे स्थलोंपर इस बातका विचार नहीं रखनेसे परस्वरूप हरि या विष्णुको त्रिदेवगत हरि वा विष्णुके अर्थमें मान लेनेसे भ्रममें पड़नेकी पूरी सम्भावना रहती है । इसीलिये दोनों प्रकारके उदाहरणोंको दिखलाकर इस विषयको स्पष्ट कर दिया गया है ।

श्रीरामचतुष्टय

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥

ब्रह्मादि देवताओंकी पुकारपर आकाशवाणीमें 'अंसन्ह सहित' अवतार लेनेकी ब्रह्मगिरा हुई, उसी प्रकार श्रीस्वायम्भुव मनुको भी वचन दिया गया—

अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥

अतएव इस बातकी खोज आवश्यक है कि परम प्रभुके वे अंश कौन-कौन-से हैं, जिनके सहित स्वयं सरकार प्रकट हुए ? एवं प्रभुको उन अंशोंके सहित प्रकट होनेकी क्या आवश्यकता थी ?

जिन परम प्रभुकी प्राप्तिके हेतु श्रीस्वायम्भुव मनु तपस्या कर रहे थे, उन ध्येय तथा इष्टका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहिं चिंतहिं परमारथवादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और शिव—ये ही तीन अंशस्वरूप कथित हैं। आगे चलकर स्तुतिमें भी 'बिधि हरि हर बंदित पद रेनू' कहकर श्रीपरमप्रभुको इन्हीं तीनोंका अंशी लक्ष्य कराया गया है। श्रीरामावतार तीनों अंशोंके समेत चतुर्विग्रहमें प्रकट भी हुआ, यह प्रमाणित है। श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीशत्रुघ्नजी चारों विग्रह चारों भ्राताओंके रूपमें प्रादुर्भूत हुए—'बेद तत्व नृप तव सुत

चारी।' परन्तु कौन विग्रह किस अंशसे हुआ, इसका स्पष्ट निर्णय नामकरणके समय गुरु श्रीवसिष्ठजीके द्वारा किया गया है—

इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥
जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥
बिस्वभरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाकें सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥
लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

जो आनन्दसिन्धु और सुखकी राशि हैं, जो अपने महिमार्णवके बिन्दुकणमात्रसे तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं, उन परम प्रभु साक्षात् परब्रह्मका नाम सुखधाम राम है, जो राम-नाम सम्पूर्ण लोकोंको विश्राम देनेवाला है, जो विश्व—संसारभरका भरण-पोषण (पालन) करनेवाले श्रीविष्णु भगवान् हैं, इनका नाम भरत है। जो वेदका प्रकाश करनेवाले ब्रह्माजी* हैं, जिनके स्मरणसे शत्रुओंका हनन (नाश) हो जाता है, इनका नाम शत्रुघ्न है। एवं जो

* ब्रह्माके चारों मुखोंसे चारों वेदोंका प्रकाश हुआ है। इसके अतिरिक्त मन्थराके इस कथनपर कि—

जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि मोहि सजाई॥

ब्रह्माके अंश शत्रुघ्नजीने ही उसे दण्ड दिया—

हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँह भर महि करत पुकारा॥

अतः इससे भी शत्रुघ्नजीका ब्रह्माका अंश होना सिद्ध है।

'लच्छन' शुभ लक्षणोंके धाम रामजीके प्रिय शिवजी* हैं,—एकादश रुद्रोंमें प्रधान रुद्र और सकल जगत्के आधार शेषजी हैं—उन शिवजीके अंशस्वरूप जो यह चौथे हैं, इनका उदार नाम लक्ष्मण है। यहाँ यह बात समझ लेनेकी है कि शत्रुघ्नजी यद्यपि श्रीलक्ष्मणजीके अनुज—छोटे भाई हैं; परन्तु ब्रह्माके अंशावतार होनेके कारण उनका नामकरण लक्ष्मणजीसे पहले किया गया है। वास्तवमें, परमप्रभु श्रीरामजीके पश्चात् सत्त्वगुणी लीलाकारी विष्णुके अंशवाले भरतजीका, तत्पश्चात् रजोगुणी लीलाकारी श्रीब्रह्माजीके अंशवाले शत्रुघ्नजीका और फिर तमोगुणी लीलाकारी श्रीरुद्रके अंशवाले लक्ष्मणजीका नामकरण होना उचित ही था। इस प्रकार परम प्रभुके अवतार श्रीरघुनाथजी हैं और त्रिदेवगत श्रीविष्णुभगवान्के अवतार श्रीभरतजी, श्रीब्रह्माजीके अवतार श्रीशत्रुघ्नजी तथा श्रीशिवजीके अवतार श्रीलक्ष्मणजी हैं। अतएव सबके एकमात्र अंशी साक्षात् परम प्रभुने अपने तीनों अंशों—त्रिदेवोंसहित अवतार लेकर यह वाक्य सिद्ध कर दिया कि 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥'

---

* जीवके वास्तविक लक्ष्य श्रीभगवान् श्रीराम ही हैं। उस लक्ष्यको यथार्थतः श्रीशिवजीने धारण किया है, यथा—

जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन॥

अतएव शिवजी 'लच्छन धाम' हैं। पुनः उनके समान कोई रामप्रिय भी नहीं। जैसा कि नारदजीके प्रति कथन हुआ है—

कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। अस परतीति तजहु जनि भोरें॥

अब यह विचार करना है कि परब्रह्म परमात्माने किस प्रयोजनसे अपने अंशोंके सहित अवतार लिया ? श्रीरघुनाथजीने स्वयं तो मर्यादापुरुषोत्तमरूपमें प्रकट होकर अपने भागवतधर्म अर्थात् ईश्वरीय दिव्य गुण सौशील्य, वात्सल्य, कारुण्य, क्षमा, शरण्यता, दया, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वदर्शित्व, सर्वनियामकत्व आदिकी सुलभताके साथ-ही-साथ लोकधर्म समस्त मर्यादाका भी आदर्श उदाहरण चरितार्थ कर दिखाया, जिसका पूरा-पूरा निर्वाह किसी जीवकोटिके सामर्थ्यसे सम्भव ही नहीं है । परन्तु विशेष धर्म अर्थात् परमार्थ-सेवनके विशेष आदर्शस्वरूप श्रीप्रभुके तीनों अंशावतार श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न ही हुए हैं । जो भगवत्-भागवत सेवाधर्म जीवमात्रके परम कल्याणार्थ अति आवश्यकीय धर्म था, उसके साथ-साथ यथासम्भव लोकधर्मका भी निर्वाह गौणरूपमें होता ही रहा है । अतएव चारों श्रीविग्रहके आदर्श चरित्रोंका संक्षिप्त प्रमाणोंसहित श्रीरामचरितमानससे पृथक्-पृथक् दिग्दर्शन कराया जा रहा है ।

श्रीरामजीका ईश्वरीय चरित्र

१ शरणागतवत्सलता

कहत नसाइ होइ हियँ नीकी । रीझत राम जानि जन जी की ॥
रहत न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय बार हिए की ॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी । सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने । राजसभाँ रघुबीर बखाने ॥

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान ।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ऐसे शरणागतवत्सल हैं कि जो जीव

एक बार भी सच्चे हृदयसे उनके शरणागत हो गया, उसके वचन और कर्तव्यकी चूकपर फिर कभी दृष्टि न देकर वे केवल उसके 'हिये' के निश्चयकी ओर ही देखते हैं। वे कहते हैं कि 'इस जीवने अनन्य गतिसे मुझको अपना शरण्य निश्चय कर लिया है, इसके हृदयमें मेरा ही भरोसा है; अतः यदि मेरी प्रबल मायाके झोंकेमें इसके वचन और कर्मसे कोई चूक हो ही गयी, तो इसके मनकी शुद्धताके कारण—किसको इसने मुझे अर्पण कर दिया है, क्षमा कर देना ही चाहिये।' इसके उदाहरण सुग्रीव, विभीषण हैं अथवा वे वानर हैं, जो प्रभु रामजीसे ऊँचे जाकर वृक्षोंपर बैठे हैं, परन्तु उनकी इस असभ्यतासे भी भगवान् अपने अपमानका जरा भी खयाल नहीं करते, बल्कि उनके हृदयको देखकर उलटे प्रसन्न हो रहे हैं। वे समझते हैं कि 'हमारी सेवामें इनका चित्त लगा हुआ है, अतः इनकी यह भूल क्षम्य है।' यहाँतक कि उन्होंने श्रीअयोध्या पधारनेपर सबको अपने ही समान मनोहर रूप दे दिया—

हनुमदादि सब बानर बीरा। धरें मनोहर मनुज सरीरा॥

और पूज्य बना दिया—'पूजे भवन अपने आनि।'

इसके अतिरिक्त—

क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

अर्थात् कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, (उपर्युक्त चौपाईमें गिनाये गये नौ अवगुणोंसे अवगुणोंकी अवधि सूचित होती है, क्योंकि अंककी अवधि नौ ही तक है) भगवान् श्रीरामकी शरणमें जाकर

एक बार भी माथा नवा ले तो प्रभु उसको तत्काल ही अपना लेते हैं—निर्भय कर देते हैं। इसीसे भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० ६।१८।३३)

श्रीविभीषणजीके शरण आ जानेपर सुग्रीवकी राय सुननेके पश्चात् श्रीभगवान्‌ने क्या कहा, सो श्रीमुख-वाक्योंमें ही सुनिये—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥
सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

× × × ×

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

करोड़ों ब्राह्मणोंके वधकी हत्यावाले तथा समस्त चराचरके द्रोही जीवके करोड़ों जन्मोंके पापोंको भी एक शरणागतिके नाते नष्ट कर दिया जाता है, और उसी क्षण उसको वह पद प्रदान किया जाता है जो महान् साधु-संतोंको प्राप्त होता है। ऐसे शरणागत-वत्सल भगवान् श्रीरामजी ही हैं।

२ भक्तवत्सलता

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥

कहहु कवन प्रभु कै अस रीती । सेवक पर ममता अरु प्रीती ॥
मानत सुखु सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैरु अधिकाई ॥
समदरसी मोहि कह सब कोई । सेवक प्रिय अनन्यगति होई ॥

जिस भक्तपर भगवान् श्रीरामकी ममता (अपनापन) और प्यार हो गया, फिर उसपर करुणाके सिवा उन्हें कभी क्रोध आता ही नहीं । वे अपने भक्तके दोषको आँखोंसे देखकर भी ध्यानमें नहीं लाते और यदि कहीं उसका गुण सुननेमें भी आ गया तो संत-समाजमें उसकी प्रशंसा करते हैं । भला, बताइये तो प्रभुकी ऐसी कौन-सी बानि (रीति) है कि उनको अपने सेवकपर केवल प्रीति रखनेसे ही तृप्ति नहीं होती, बल्कि ममत्ववश—अपनेपनकी आसक्तिवश उसके लिये स्वयं दुःखतक सहनेको तत्पर रहते हैं । सेवकके ही सुखमें सुख और अनिष्टमें अनिष्ट मानते हैं । भगवान् श्रीरामजीका कथन है कि मुझको सभी समदर्शी कहते हैं, किन्तु मुझे सेवकपर इसलिये प्रेम रखना पड़ता है कि वह सम्पूर्ण जगत्को मेरे ही रूपमें देखकर अनन्यगतिवाला हो गया है । जब उसकी दृष्टिमें 'निज प्रभुमय जगत' हो गया है, तो मैं किसकी बराबरीसे समदर्शिता प्रकट करूँ ?

अनुज राज संपति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही ॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना । मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥
सब कें प्रिय सेवक यह नीती । मोरें अधिक दास पर प्रीती ॥

राजगद्दी हो जानेके बाद भालु-वानरोंको विदा करते समय अवधनाथ भगवान् श्रीरामजीने अपना स्वभाव बतलाया है । वे कहते हैं—'हे सेवको और भक्तो ! मुझको अपने भाई, राज्यश्री, स्वयं

श्रीजानकीजी, अपना शरीर, घर, परिवार तथा और भी हित-नातवाले उतने प्रिय नहीं हैं, जितने कि तुमलोग हो ! मैं यह सत्य-सत्य कह रहा हूँ, यही मेरी विरदावली है। वैसे तो यह रीति है कि सेवक सभीको प्यारे होते हैं, परन्तु मुझको अपने दास (भक्त) पर सबसे बढ़कर प्रीति रहती है।'

भक्तिके अलावा अन्य कोटिके नातोंकी गणना भक्तवत्सल प्रभुके दरबारमें है ही नहीं। शबरीसे स्पष्ट कहा गया है—'मानउँ एक भगति कर नाता।' भक्त निषादको 'सखा' का दरजा मिला ही, कोल-किरातोंतकको कृतार्थ किया गया। श्रीमुख-वचन देखिये—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

बस, श्रीरामजी ही ऐसे अनुपम भक्तवत्सल हैं !

२ दीनवत्सलता

'जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना।'

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन बेद जसु गावा॥
तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी॥

दीन-हीना पृथ्वीके भारको हरनेके लिये 'जेहि दीन पिआरे'—विरदको ही देवताओंने पुकारा, कारण कि जिसका कोई भी आधार नहीं, वह दीन ही दीनवत्सल भगवान्‌को प्रिय है। श्रीसतीजीने जिस समय अपने अपराधोंका स्मरण करके दीनवत्सल प्रभुसे यह प्रण ठान दिया कि 'यदि श्रीरामजीको दीन-दयालुताका विरद हो और वेद उनको आरतहरण कहकर गान करता हो तो यह दीना सती विनती कर रही है कि मेरा यह शरीर शीघ्र ही छूट जाय। बस, दीनवत्सल

भगवान्‌ने दक्षप्रजापतिके यहाँ उनके शरीरत्यागका योग लगा दिया और उन्हीं सतीका उधर हिमाचलके यहाँ पार्वतीके रूपमें जन्म करा दिया ! फिर शिवजीके पास स्वयं जाकर, उनसे प्रार्थना करके विवाह भी करा दिया । वास्तवमें शिवजीको पार्वतीजीकी प्राप्ति दीनवत्सल रामजीकी कृपासे ही हुई, यथा—

अति पुनीत गिरिजा कै करनी । बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी ॥
अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु ।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु ॥

दीना अहल्याको कोई अवलम्ब नहीं था, वह सर्वोपायशून्य हो गयी थी । परन्तु भगवान् दीनवत्सलने अपनी अहैतुकी करुणासे दीन-बन्धुताका विरद सँभाला और उसको सुखी बना दिया—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल ॥

इस प्रकार प्रभु श्रीरामजीकी अनुपम दीन-वत्सलताके प्रमाणोंसे सम्पूर्ण ग्रन्थ भरा पड़ा है ।

श्रीरामजीकी मर्यादा-चरित्र

१ पितृ-भक्ति

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा । देखि चरित हरषइ मन राजा ॥
अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन ।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥
धन्य जनमु जगतीतल तासू । पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥

श्रीरघुनाथजी नित्य प्रातःकाल उठकर श्रीपिताजीको नमस्कार करते थे और अपने सम्पूर्ण कार्य उनकी आज्ञाके अनुसार करके

अपनी सेवासे उन्हें प्रसन्न रखते थे। यहाँतक कि, उन्होंने अयोध्याकी चक्रवर्ती राज्यश्रीको पिताके वचनके नाते तृणवत् त्याग कर पितृभक्तिका अनुपम आदर्श चरितार्थ कर दिखाया। सारे संसारको आप शिक्षा देते हैं कि 'जो लोग अपने सभी विचारोंको त्याग कर पिताके वचनोंका पालन करेंगे वे ही सुख और सुयशके भाजन होंगे, फिर अन्तमें उनका परलोक भी बन जायगा। उसी पुत्रका जन्म इस संसारमें धन्य है, जिसके चरित्रको सुनकर पिता प्रसन्न हों।'

२ मातृ-भक्ति

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
कहउँ सुभायँ सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखउँ तोही॥
बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत रामु सब सन मृदु बानी॥
मातु सकल मोरे बिरहँ जेहिं न होहिं दुख दीन।
सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब पुर जन परम प्रबीन॥

श्रीमुखवचन है कि 'माताजी! वही पुत्र भाग्यशाली है, जो अपने पिता-माताका आज्ञाकारी हो। समस्त संसारमें वही पुत्र दुर्लभ माना जायगा, जो अपने माता-पिताकी सेवामें रत हो।' इसी प्रकार वनयात्राके समय आपने श्रीजानकीजीसे कहा कि 'सुमुखि! मैं सौ बार शपथ करके कह रहा हूँ कि मैं तुम्हें केवल माताओंके हितके लिये ही अयोध्यामें छोड़ रहा हूँ।' और बारंबार दोनों हाथ जोड़कर समस्त पुरजनोंसे विनती की कि आपलोग वही उपाय कीजियेगा, जिससे हमारी सभी माताएँ हमारे विरहमें दुःखी न होकर.

सुखी रहें ।' यहाँ 'मातु सकल' से निज जननी तथा विमाताओंमें जरा भी भेद न रखकर एक ही भावसे सब माताओंकी भक्ति सूचित की गयी है, अतएव इससे जीवमात्रको मातृभक्तिकी शिक्षा लेनी उचित है ।

३ गुरु-भक्ति

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी । करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुर पद कमल पलोटत प्रीते ॥
गुर आगमनु सुनत रघुनाथा । द्वार आइ पद नायउ माथा ॥
सादर अरघ देइ घर आने । सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी । बोले रामु कमल कर जोरी ॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू । मंगल मूल अमंगल दमनू ॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती । पठइअ काज नाथ असि नीती ॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू । भयउ पुनीत आजु यहु गेहू ॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं । सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं ॥
जे गुर पद अंबुज अनुरागी । ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी ॥

चक्रवर्तिकुमार श्रीरामजी स्वयं राजमहल छोड़कर गुरु-गृहमें गये और वहीं विद्या पढ़ी । गुरु वशिष्ठजीको पढ़ानेके लिये आना पड़े, यह उचित नहीं समझा गया । गुरुवर्य श्रीविश्वामित्रजीके शिष्यत्व-कालमें श्रीचक्रवर्तिकुमार नित्यप्रति अपने हाथोंसे उनकी चरण-सेवा करते थे । एक बार गुरुवर्य श्रीवशिष्ठजी श्रीराम-भवनमें स्वयं पधारे, श्री-रघुनाथजीने गुरुजीका आगमन सुनते ही झट द्वारपर आकर प्रणाम किया और अर्घ्य-पाद्यादि देकर सादर गृहके भीतर पधराया, षोडशोपचारसे उनका पूजन किया और श्रीजानकीजीसहित उनके चरणोंको पकड़कर,

हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'नाथ ! यद्यपि सेवकके घर स्वामियोंका पधारना मंगलका मूल और अमंगलका नाशक है, तथापि श्रीचरणोंको इतनी दूर पधारनेका कष्ट करनेकी क्या आवश्यकता थी ? जो कुछ कार्य हो, उसके लिये दया करके इस दासके पास आज्ञा भेजवा दी जाया करे और यह दास उसका पालन करके कृतार्थ होता रहे, यही उचित है । श्रीप्रभुजीने अपनी प्रभुताको छोड़कर दयाके कारण आज इस घरको पुनीत कर दिया । अब जो आज्ञा हो, उसको सेवक बजा लावे ।' धन्य है, श्रीरामजीकी इस प्रकारकी गुरुभक्तिको धन्य है ! श्रीरामजी जीवमात्रके लिये कहते हैं कि 'जो लोग गुरुपदकमलके अनुरागी हैं, वे लोक-वेद—दोनोंसे परम बड़भागी माने जायँगे । अतः जीवमात्रको गुरुभक्तिकी यह शिक्षा माननी चाहिये ।

४ ब्राह्मण-भक्ति

कहि प्रिय बचन सकल समुझाए । बिप्र बृंद रघुबीर बोलाए ॥
गुर सन कहि बरषासन दीन्हे । आदर दान बिनय बस कीन्हे ॥
सुनु गंधर्ब कहउँ मैं तोही । मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही ॥
मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव ।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव ॥
सापत ताड़त परुष कहंता । बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥
मसक दंस बीते हिम त्रासा । जिमि द्विज द्रोह किएँ कुल नासा ॥
अस कहि रथ रघुनाथ चलावा । बिप्र चरन पंकज सिरु नावा ॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा । मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा । जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ॥

श्रीरामजीने वनयात्राके समय सब ब्राह्मणोंको बुलवाकर आदर

तथा विनयके सहित उन्हें श्रीवशिष्ठजीको सौंपा और वर्षाशन दिलवाया। कबन्धका वध करनेपर जब वह गन्धर्व हो गया, तब उसको समझाया गया कि 'मुझको ब्रह्मकुलद्रोही नहीं सोहाता। जो निष्कपट होकर द्विजोंकी सेवा करता है, उसके वशमें सभी देव रहते हैं।' 'द्विजद्रोहसे कुलका नाश हो जाता है'—यह लक्ष्मणजीको सिखलाया गया। पुरवासियोंको उपदेश दिया गया कि 'ब्राह्मणोंकी सेवा परम पुण्य है।' स्वयं भी लङ्काके युद्धमें रथारूढ होनेपर विप्र-पद-कमलमें माथा नवाकर प्रणाम किया गया। अतः 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना' यह सत्य चरितार्थ हुआ।

५ भ्रातृस्नेह

'भायप भलि चहु बंधु की जल माधुरी सुबास।'

अनुज सखा संग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती॥

श्रीरामजीमें भ्रातृस्नेह ऐसा था कि उसकी उपमा श्री-रामचरितमानसके रामसुयशरूपी जलकी मधुरता और सुगन्धिसे दी गयी है। छोटे भाइयोंको साथ लिये बिना आप भोजन ही नहीं करते थे। राज्यासीन होनेका समाचार मिलनेपर आपको यह सोच हुआ कि भाइयोंको छोड़कर अकेले गद्दीपर बैठना कितना बड़ा अनुचित है! आप वियोग-दशामें भाइयोंका इस

प्रकार सतत स्मरण रखते थे, जैसे कछुआ अपने अण्डोंकी सर्वदा सुरति रखता है। राजगद्दी हो जानेपर भी भाइयोंपर वही प्रीति नित-नयी झलकती रही। उनको नाना प्रकारकी नीति-शिक्षा देकर आप राज्यकाज कराते थे। लखनलालजीको शक्तिबाण लगनेके समय तो स्नेहकी आसक्ति मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गयी। श्रीरघुनाथजी कहते हैं कि 'हे बन्धु! जैसे बिना पंखके गरुड़की दशा हो, बिना मणिके सर्पकी दशा हो और बिना सूँड़के गजेन्द्रकी दशा हो, वैसे ही तुम्हारे बिना हमारा जीवन हो गया है। वह भी अपने प्राणको जड़ दैवके अनुरोधसे न निकाल सका तब। नहीं तो 'हौं पुनि अनुज सँघाती' अर्थात् मैं लक्ष्मणके साथ प्राण ही दे दूँगा।'

६ पत्नीप्रेम

हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥
देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहिं राखिहि प्राना॥
कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥

× × × × × ×

आश्रम देखि जानकी हीना। भए बिकल जस प्राकृत दीना॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु इतनेहि माहीं॥
सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥

वनगमनके समय सेवामें चलनेके लिये श्रीसीताजीका जब आग्रह देखा गया, तब उनकी शारीरिक सुकुमारता आदिके स्नेहसे जैसी प्रेमपूर्ण शिक्षा दी गयी, वह स्नेहकी सीमाका सूचक है। परन्तु जब यह लक्षण देखनेमें आया कि सीताजीको यदि हठ करके रोका

गया तो इनके प्राण ही नहीं बचेंगे तब उनको प्रेमपूर्वक साथ ले लिया गया। फिर वनमें जिस समय उनका हरण हो गया, उस समयकी विकलता तो अकथनीय प्रेमकी अवधि है। श्रीमारुतिजीद्वारा भेजे हुए इस सन्देशमें कि 'हे प्रिये ! हमारे और तुम्हारे प्रेमके तत्त्वको एक हमारा मन ही जानता है और वह मन सदा तुम्हारे पास रहता है।' मानो प्रीतिके रसका निचोड़ ही सूचित किया गया है। फिर जब श्रीहनुमान्‌जी कुशलसंवाद लेकर लौटे और उन्होंने श्रीसीताजीकी कष्ट-कथा सुनायी, उस समय श्रीरघुनाथजी-जैसे धीर-वीर और सुखके धामकी भी आँखोंमें प्रेमाश्रु आ गये ! इससे अधिक प्रेमका और क्या प्रमाण होगा ?

७ प्रजावत्सलता

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी ॥
करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई ॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहुबिधि राम लोग समुझाए ॥
बंदउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ॥
सियनिंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए ॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखनु भए ब्याकुल भारी ॥

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक ॥

राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा ॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ॥

बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।

करुणाके धाम श्रीरघुनाथजी वन-गमनके समय अपनी प्रजाका प्रेम देखकर दयाके मारे दुखी भी हो गये, क्योंकि आपके दयालु

हृदयमें दूसरोंकी पीड़ाका भान अधिकतर और शीघ्र हो जाता है, अतः उन्होंने मीठे-मीठे वचनोंसे समझा-समझाकर समस्त प्रजाका बोध किया। पुरवासियोंपर आपकी इतनी ममता थी कि झूठे निन्दक धोबीके उस महापापको भी क्षमा करके उसको नवीन दिव्यलोकमें वास दिलाया। और प्रजारञ्जनके खयालसे आदर्श पतिव्रता जगज्जननी देवी सीता-जैसी निष्कलंकिनी सतीको भी त्याग दिया। धन्य, प्रजा-वात्सल्यका उत्कृष्ट प्रमाण प्रकट कर दिया गया!—सीतात्यागकी कथा तुलसीकृत गीतावलीमें तो स्पष्ट है ही, मानसमें भी 'दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए' कहकर यह लक्ष्य करा दिया गया है, जहाँ सुत जन्मे, वहाँ माता ही प्रधान थी, क्योंकि भरतादि भाइयोंको सुतोत्पत्ति बतलाते समय पिताकी प्रधानता स्पष्ट है,—'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे।'

श्रीलक्ष्मणजीके प्रति श्रीमुखवचन है कि 'हे तात! जिस राजाके राज्यमें, उसकी प्यारी प्रजाको दुःख है वह राजा अवश्य ही नरकगामी होगा। अतएव तुम प्रजाके हितार्थ मेरे साथ वनको न चलो।' श्रीभरतजीको चित्रकूटसे वापस करते समय उपदेश दिया गया कि 'राजाको मुखकी भाँति होना चाहिये। जैसे मुखमें ही सब भोजन पहुँचता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण राज्यकी आय—आमदनी राजकोषमें ही आनी चाहिये। परन्तु मुख जैसे खायी हुई वस्तुका एक कण भी अपने लिये नहीं रखता है, बल्कि कुचल-कुचलकर ठीक करके ऐसे स्थानमें पहुँचा देता है, जहांसे भागके अनुसार सब अङ्गोंका पालन-पोषण होता रहता है, उसी तरह राजाको भी उचित है कि वह प्रजाका धन अपने स्वार्थमें न खर्चकर उसे प्रजाके ही कल्याणमें उनके पालन-

पोषणमें लगा दिया करे ।' लङ्काविजयके पश्चात् जब श्रीरघुनाथजी राज्यासीन हुए, उस समयके प्रजा-सुखके वर्णनसे भी उनकी प्रजा-वत्सलता प्रकट होती है । रामराज्यमें, जिसकी प्रशंसा करना शेष-शारदाकी शक्तिसे भी बाहरहै, सारी प्रजा दैहिक, दैविक और भौतिक—तीनों प्रकारके तापोंसे रहित थी । ऐसे-ऐसे विभाग खुले हुए थे, जिनसे हर प्रकारकी प्रयोजनीय वस्तुएँ जितनी चाहिये बिना मूल्य सबको मिला करती थीं । कहाँतक प्रमाण दिये जायँ । श्रीरामजीका प्रजा-वात्सल्य असीम और अनन्त था ।

८ एकपत्नीव्रतधर्म

श्रीरघुनाथजीने एकनारीव्रतको चरितार्थ करके महान् आदर्श उपस्थित कर दिया । यद्यपि आपको स्मृतिकारोंके प्रमाणानुसार चार विवाहोंकी प्रचलित प्रथाकी मर्यादा स्वीकार थी, परन्तु इधर एकपत्नीव्रतको ही पुष्ट करना था । इसलिये एक सीताजीके साथ ही विवाहकी चारों रीतियाँ पूरी कर ली गयीं । जैसे——(१) गान्धर्व-विवाह फुलवारीमें हुआ—'चली राखि उर स्यामल मूरति',(२) प्रण स्वयंवर 'टूटतहीं धनु भयउ बिबाहू,' (३) स्वयंवर 'सियँ जयमाल राम उर मेली' और (४) पाणिग्रहण भाँवरीं, सिन्दूरदान आदिके साथ मण्डपमें हुआ····'प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरीं फेरी' तथा 'राम सीय सिर सेंदुर देहीं····'इत्यादि श्रीराम-जीने अपनी कुल-प्रथाको भी त्यागकर एकपत्नीव्रतका पालन किया, क्योंकि पिता दशरथको ही कई रानियाँ थीं । यहींतक नहीं, श्रीरामजी-ने अपने शासनकालमें अपनी सारी प्रजासे भी एकपत्नीव्रतका पालन कराया । देखिये····एकनारि ब्रत रत सब झारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥' अतः मनुष्यमात्रको इससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

इस प्रकार श्रीरामजीके ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों तरहके अनुपम चरित्रोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन थोड़े-से उदाहरणोंद्वारा कराया गया। वास्तवमें आपके आदर्श चरित्रोंका सम्पूर्ण कथन यदि शेष, शारदा और वेदादि भी करना चाहें तो उनके लिये भी असम्भव है। लोक-धर्मके जितने अङ्ग हैं—माता-पिता, भाई, स्त्री, हितू, कुटुम्बी, सम्बन्धी, बड़े, छोटे, स्वामी, सेवक, गुरु, पुरोहित, ब्राह्मण, गौ, अतिथि, अभ्यागत, देवी, देवता आदिके जितने व्यवहार हैं एवं वर्ण और आश्रम-के जितने धर्म हैं, उन सबका वेदविधिसे यथावत् पालन श्रीरघुनाथजीने ही स्वयं करके दिखाया है। सामान्य लोकधर्मका पूरा-पूरा निर्वाह करना मर्यादापुरुषोत्तम प्रभु श्रीरामको छोड़कर और किसीके मानका था ही नहीं। अतः उन्होंने उसको स्वयं चरितार्थ करके यह बतला दिया कि 'संसारमें मनुष्यको धर्ममर्यादाका पालन उसी तरह करना चाहिये, जैसा मैंने किया है।'

विशेष लोकधर्म अर्थात् परलोकसम्बन्धी विशेष धर्मके पालनका भाग श्रीलक्ष्मणजीके जिम्मे था; जिसको उन्होंने पूरा-पूरा चरितार्थ किया।

श्रीलक्ष्मणजीके विशेष धर्मसे शिक्षा

वनगमनके समय श्रीरामजीने बड़े प्रेमके साथ लक्ष्मणजीसे कहा—

तात प्रेम बस जनि कदराहू। समुझि हृदयँ परिनाम उछाहू॥
मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥
अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥

रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥

× × ×

भगवान्‌के वचन सुनकर लक्ष्मणजीने व्याकुल होकर प्रार्थना की—

सिअरें बचन सूखि गए कैसें। परसत तुहिन तामरसु जैसें॥
उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥
दीन्हि मोहि सिख नीकि गुसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नर बर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहुँ प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥
गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

जब श्रीलक्ष्मणजीने प्रार्थना की कि 'वनमें सेवाके लिये मेरा साथमें चलना स्वीकार किया जाय' तब श्रीरघुनाथजीने धर्मनीतिका प्रमाण देकर उनको समझाया कि 'गुरु, पिता, माता, प्रजा, परिवार आदिका परितोष न करोगे तो बड़ा दोष लगेगा। इस समय यहाँपर भरत और शत्रुघ्न भी नहीं हैं। दूसरे श्रीमहाराज वृद्ध हैं; और मेरे वियोगका उनके मनमें बहुत दुःख है, ऐसी दशामें यदि मैं तुम्हें साथ ले चलूँ तो अयोध्या सब प्रकारसे अनाथ हो जायगी।' इन शीतल वचनोंने लक्ष्मणजीको वैसे ही सुखा दिया, जैसे पालाकी शीतलता कमलको मुरझा देती है। श्रीलक्ष्मणजीने मुखसे यह कहते हुए कि 'हे स्वामिन्! यदि मुझको त्याग ही देंगे तो उसमें इस दासका वश ही क्या है?' चरणोंको पकड़ लिया। और वे प्रार्थना करने लगे कि 'हे प्रभु! मुझको जो शिक्षा दी गयी वह उचित ही

है, परन्तु मेरी कायरताके कारण वह मेरे लिये अगम्य हो रही है। क्योंकि वेदादि नीतिके पालनके अधिकारी वे ही हैं, जो धीर-धर्मवीर और बड़े लोग हैं, मैं तो प्रभुके स्नेहसे पला हुआ बालक हूँ। कहीं हंससे भी मन्दराचल पर्वतका बोझ उठाया जा सकता है? हे नाथ! यह दास स्वभावसे ही सत्य कह रहा है कि गुरु, माता, पिता तथा संसारमें किसीको भी नहीं यह जानता। जहाँतक प्रीतिका, विश्वासका अथवा सांसारिक स्नेहके सम्बन्ध (नाते) का कोई आश्रय है, मेरे वह सब कुछ आप ही हैं। हे दीनबन्धु! हे उर-अन्तर्यामी—साक्षात् परब्रह्म प्रभु! धर्म और नीतिकी शिक्षा उसीके लिये होनी चाहिये, जिसको संसारमें कीर्ति और ऐश्वर्यकी इच्छा हो अथवा जो परलोकमें सुन्दर गति—मोक्षकी अभिलाषा रखता हो। जो जन मन, कर्म और वचन—तीनोंसे केवल श्रीचरणोंके अनुरागको ही सर्वस्व निश्चित कर चुका है, कृपासिन्धु! क्या उस अनन्य शरणागतका भी परित्याग किया जायेगा?'

करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाए उर लाइ प्रभु जानि सनेहँ सभीत॥
मागहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥
मुदित भए सुनि रघुबर बानी। भयउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी॥

करुणाधाम श्रीरामजीने सेवा स्वीकार कर ली और आज्ञा दी कि—'माता सुमित्रासे जाकर विदा माँग लो तथा मेरे साथ चलो।' यह सुनते ही लक्ष्मणजी बड़ी हानिके निवारण और भारी लाभका योग देखकर प्रमुदित हो गये—निहाल हो गये। श्रीलखनलालजीकी निष्ठामें भगवान्‌की सेवाके सामने सारे धर्म-कर्म सब तुच्छ थे। धर्म,

मर्यादा, शील, स्नेह आदि कोई भी यदि भगवत्-सेवामें बाधक दीख पड़ें तो उनको तृणवत् त्यागकर विशेष धर्मको प्रधान मानना उनका इष्ट था। श्रीभरतजी और शत्रुघ्नजीसे इतना स्नेह होते हुए भी—उनके समाजमें गुरु वशिष्ठ और माताओंके रहते हुए भी जब उन्होंने श्रीरामजीके हृदयमें तनिक-सी उद्विग्नता समझी तो श्रीरघुनाथजी-की सेवाके नाते वे सबका संहार करनेके लिये तैयार हो गये। यथा—

लखन लखेउ प्रभु हृदयँ खभारू। कहत समय सम नीति बिचारू॥
बिनु पूछें कछु कहउँ गोसाईं। सेवकु समयँ न ढीठ ढिठाईं॥
तुम्ह सर्बग्य सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी॥

× × × ×

करि कुमंत्रु मन साजि समाजू। आए करै अकंटक राजू॥
जौं जियँ होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥
भरतहिं दोसु देइ को जाएँ। जग बौराइ राज पदु पाएँ॥

× × × ×

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

श्रीरघुनाथजीने समझाकर रोका, तभी रुके। श्रीजनकजीने जरा चूक करके 'वीर बिहीन मही मैं जानी' कह दिया था, बस, श्रीरामजीके अपमानके नाते उनपर भी आप बिगड़ खड़े हो गये—

कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

श्रीलक्ष्मणजीकी यह अनन्यनिष्ठा 'भगति पच्छ हठ नहिं सठताई' की थी, अबोधताके कारण कदापि नहीं थी। क्योंकि उनकी ज्ञाननिष्ठाका प्रमाण उन्हींके उपदेश-वाक्योंसे मिलता है, अवध-काण्डान्तर्गत निषादराजके प्रसङ्गमें—

'बोले लखन मधुर मृदु बानी'

से—

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥

—तक 'लछिमनगीता' नामसे जो कुछ वर्णन है तथा वनकाण्डमें—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छल हीना॥

से—

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

—तक श्रीरामजीसे प्रश्नोत्तरके रूपमें जो (रामगीताके नामसे) संवाद हुआ है, उससे श्रीलखनलालजीकी ज्ञाननिष्ठाका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जिन बड़भागियोंको भगवद्भक्ति प्राप्त करनेकी श्रद्धा हो, उनको श्रीलक्ष्मणजीके विशेष धर्मचर्याका अनुकरण करके सारे संसारकी मोहासक्तिको त्याग देना चाहिये।

श्रीभरतजीके विशेषतर धर्मसे शिक्षा

भगवद्धर्म अर्थात् भगवत्-सेवा (श्रीराम-भक्ति) ही श्रीभरतजीकी भी इष्ट-चर्या थी। यथा—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

परन्तु इतना अन्तर था कि श्रीलखनलालजीकी सेवा संयोगावस्थासम्बन्धी अर्थात् भजनरूपकी थी। उनको स्वामीकी सन्निधिमें—हुजूरीमें समस्त परिचर्याके लिये सदा तैयार रहनेका योग था और श्रीभरतजीकी सेवा वियोगावस्थासम्बन्धी अर्थात् स्मरणरूपकी थी जो उनकी इच्छाको दबा करके स्वीकार करायी गयी थी। अतएव परतन्त्र-सेवाका आदर्श बननेसे श्रीभरतजीकी निष्ठा 'विशेषतर' धर्मकी मानी गयी है। स्वामीकी आज्ञापर ही श्रीभरतजी निर्भर हो गये थे—

अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥

—सो भी इस शर्तके साथ कि 'सकुच स्वामि मन जासु न पावा।' श्रीभरतजीका यही निश्चय था कि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

यही सिद्धान्त था कि—

सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥

इसलिये स्वामीकी निःसङ्कोच आज्ञा ही उनका परम ध्येय था, चाहे वह लौकिक रुचिको कौन कहे, पारमार्थिक रुचिके भी प्रतिकूल क्यों न हो। श्रीभरतजीकी सेवामें इतनी विशेषताका योग अवश्य था कि उनका सेवाधर्म—'हित हमार सियपति सेवकाई'—जो श्रीलखन-लालजीकी ही तरह था, और जिसको उन्होंने भी अपना मुख्य धर्म माना था, श्रीलखनलालजीके सेवाधर्मके समान स्वीकार न हो सका। उन्हें वियोगकी ही आज्ञा प्रदान की गयी—'सेवहु अवध अवधि भर जाई।' इस आज्ञाको आपने शिरोधार्य किया और नाना प्रकारके असह्य शारीरिक और मानसिक कष्टोंको सहते हुए भी उसका यथा-वत् पालन कर दिखाया। यद्यपि भरतजीकी भी ऐसी स्थिति नहीं थी कि वे श्रीरामजीका वियोग सहकर प्राण-रक्षा-कर सकते —

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

तथापि स्वामीकी आज्ञाके अवलम्बनसे प्राणोंकी भी रक्षा करते हुए उसका पालन किया एवं इष्टदेवकी आज्ञामें वरजोरीका तनिक भी खयाल नहीं किया, वल्कि अपनेको ही अपराधी, हतभागी, कपटी और कुटिल निश्चित किया—

कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
इत्यादि

यह और भी विशेषता थी। अतएव विशेषतर धर्मके अभिलाषी जनोंको, जिनको कि भगवत्-सान्निध्यका संयोग न होनेके कारण परिचर्यादि भक्तिका सुअवसर नहीं है, श्रीभरतजीसे शिक्षा लेनी चाहिये और भगवान्‌का ध्यान करके उनकी स्मरणरूप सेवाका अनुसरण करना चाहिये। यथा—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू ॥

श्रीशत्रुघ्नजीके विशेषतम धर्मसे शिक्षा

परमप्रभु भगवान् श्रीरामजीने लोकका सामान्य धर्म चरितार्थ किया, श्रीलक्ष्मणजीने विशेष धर्म स्पष्ट कर दिखाया, श्रीभरतजीने विशेषतर धर्मको प्रकट किया और श्रीशत्रुघ्नजीने सर्वोत्कृष्ट विशेषतम धर्मका प्रमाण दिया। अर्थात् उन्होंने भगवत्-सेवासे भी अधिक महत्त्ववाली भागवत-सेवा श्रीभगवद्भक्त भरतजीकी सेवकाई स्वीकार की—'राम ते अधिक राम कर दासा।' क्योंकि श्रीभगवान्, जो स्वयं आनन्दघन हैं, अपने सेवककी सेवासे सुखी होते हैं, यह प्रमाणित है—'मानत सुख सेवक सेवकाईं।' इसलिये शत्रुघ्नजी भरतजीके सेवक होकर विशेषतम धर्मके पालक हुए—

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी ॥

इस भागवत-सेवाको उन्होंने बड़ी उत्तमतासे निभाया। जिस तरह अपनी छाया अपनी ही अनुगामिनी होती है—जिधरको मुड़िये उधर ही झुकती है—'जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाहीं' उसी तरह श्रीशत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी छाया बन गये थे। उनका रुख देखते हुए

सदैव करबद्ध और अवाक् होकर उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे—

उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥

समस्त श्रीरामचरितमानसमें शत्रुघ्नजीके भाषणका कहीं प्रमाण नहीं मिलता, अतएव वे काष्ठ-चित्रवत् कठपुतलीकी भाँति इशारेपर नाचते थे। उनमें इतनी गम्भीरता थी कि स्वामि-सेवासे विलग होनेपर भी उनमें कोई अन्य प्रवृत्ति नहीं मिलती थी। जहाँ भी आपका प्रसङ्ग है वहाँ श्रीभरतजीका प्रसङ्ग पाया जाता है। तात्पर्य यह कि श्रीभरतजीके कर्तव्यमें शत्रुघ्नजीका कर्तव्य (सेवारूपमें) विलीन हो गया था। मन्थराको दण्ड देते समय केवल एक जगह आपका कर्तव्य स्पष्ट हुआ है—

सुनि सत्रुहन मातु कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
आह दइअ मैं काह नसावा। करत नीक फलु अनइस पावा॥
सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥
भरत दयानिधि दीन्हि छड़ाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई॥

यह भी श्रीभरतजीकी सेवा ही थी। श्रीभरतजी माता कैकेयी और मन्थरा (कुबरी) के कर्तव्योंको सुनकर बहुत दुखी हो रहे थे, नाना प्रकारकी ग्लानियाँ प्रकट कर रहे थे—जिसका मूल कारण मन्थराकी कुसम्मति थी। अतः अनन्य सेवकके द्वारा स्वामीके हृदयमें विक्षेप पैदा करनेवालेको दण्ड क्यों न दिया जाय ? क्योंकि बालपनसे ही स्वामी-सेवककी निष्ठा अखण्डरूपसे दृढ़ थी—

चारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी ॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥

निष्कर्ष यह है कि परमप्रभुने अपने तीनों अंशोंको साथ-साथ प्रकट करके भगवद्भक्ति और भागवत-भक्तिकी चर्याको अपनी लोक-मर्यादाके समान ही आदर्श बना दिया। उचित ही था, क्योंकि लोक-परलोक दोनोंका शिक्षण स्वयं भगवान्‌के अवतारसे ही तो होना था—

अतएव जैसा कि सब भ्राताओंमें छोटे श्रीशत्रुघ्नजीने भागवत-सेवाकी निष्ठाको ही आदर्श बनाया, जीवमात्रके लिये प्रथम सीढ़ी संत-सेवा ही है। श्रीरामचरितमानसमें सत्संगके प्रभावके सम्बन्धमें और भी देखिये—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥

अस्तु, सच्चे हृदयसे अनन्य होकर संतोंकी सेवा करनेसे भगवान् सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर अवश्य ही अपना दुर्लभ प्रेम प्रदान करते हैं। उस भगवद्दत्त प्रेमसे भगवान्‌के प्राप्त होनेतक सदैव श्रीभरत-जीकी चर्याका अनुसरण करना चाहिये। हृदयमें प्रभुजीका ध्यान करके अहर्निश उनके नामका रटन करते हुए उनकी प्राप्तिके लिये अनुरागसे करुणक्रन्दन करना चाहिये। जब श्रीप्रभुकी प्राप्ति हो जाय—साक्षात्कार हो जाय, तब श्रीलक्ष्मणजीकी चर्याका अनुकरण करनेमें तत्पर हो जाना चाहिये। इससे निजत्व और सहजत्वकी प्राप्ति होगी और जीव कृतार्थ हो जायगा। इसी आवश्यकताकी पूर्ति-के लिये श्रीमर्यादापुरुषोत्तम सरकारने त्रिदेवोंको अंशरूपमें साथ लेकर अंशोंके सहित अवतार लिया, जिसकी बड़ी आवश्यकता थी।

श्रीरामचरितमानसमें भजनका महत्त्व

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डान्तर्गत श्रीकाकभुशुण्डिजीके मोहप्रसंगके पश्चात् जब श्रीरघुनाथजीने उनके सिरपर अपने कर-कमलोंको फिराकर उन्हें विगत-विमोह किया, यथा—

'प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी। निज माया प्रभुता तब रोकी॥
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल सकल दुख हरेऊ॥
कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा। सेवक सुखद कृपा संदोहा॥

तब प्रभुकी भक्तवत्सलता देख भुशुण्डिजी पुलकाङ्ग होकर सप्रेम विनम्र स्तुति करने लगे, यथा—

'भगत बछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेषी॥
सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हिउँ बहु बिधि बिनय बहोरी॥

भगवान् भक्तवत्सल अपने अनन्य भक्तकी प्रेमपरिपूर्ण विनतीको सुनकर, अपने निज दासको दीनदशामें देखकर दीनबन्धु प्रभु आज्ञा देते हैं, यथा—

'सुनि सप्रेम मम बानी देखि दीन निज दास।
बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास॥
काकभुसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥'
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

कृपालु श्रीरघुनाथजी परम सुखदायी कोमल वचनोंसे बोले—हे काकभुशुण्डि ! मुझे तुम परम प्रसन्न जानकर आज जो वर चाहो माँग लो । अणिमा आदि सकल सिद्धियाँ, सम्पूर्ण ऋद्धियाँ, सकल सुखकी खानि मुक्तियाँ, ज्ञान, विचार, वैराग्य, विज्ञान एवं मुनियोंको दुर्लभ जगत्‌मात्रके जाननेमें जितने गुण हैं, निस्संशय आज मैं सब कुछ देनेको तैयार हूँ । जो तुम्हारे मनोवाञ्छित हो माँगो ।

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ । मन अनुमान करन तब लागेउँ ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥
भजन हीन सुख कवने काजा । अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥
जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू । मो पर करहु कृपा अरु नेहू ॥
मन भावत बर माँगउँ स्वामी । तुम्ह उदार उर अंतरजामी ॥
अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव ।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुख धाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥

श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं कि गरुड़जी ! मैंने जिस समय श्रीकृपालु प्रभुके उपर्युक्त गम्भीर वचनोंको श्रवण किया तो मेरा हृदय अनुरागसे भर गया; परन्तु मैं अपने मनमें अनुमान करने लगा कि प्रभुने सब प्रकारके सुखोंको देनेके लिये तो कहा सही; पर अपनी भक्तिका देना तो कहा ही नहीं और प्रभुकी भक्तिके बिना सम्पूर्ण सुख वैसे ही निस्सार हैं, जैसे नाना प्रकारके भोजन-व्यञ्जनादि लोन (नमक) के बिना निस्स्वाद नीरस प्रतीत होते हैं; अतः बिना भजनके उपर्युक्त सकल सुख किस कामके हैं ? ऐसा विचार करके मैंने

प्रार्थना की कि 'हे दीनबन्धो ! जो कृपा एवं प्यार करके इस दीन-पर प्रसन्न होकर वरदानकी दया हो रही है तो सरकार परम उदार उर-अन्तर्यामी हैं, यह दास अपने मन भावनेवाला यह वर माँग रहा है कि हे भक्तोंके लिये कल्पतरु ! हे शरणागतके हितकारी ! हे कृपाके सिन्धु ! हे सुखके धाम श्रीरामजी ! वेद-पुराण आपकी जिस विशुद्ध एवं अविरल (तैलवत् धार निसोत सघन) भक्तिका निरूपण करता हुआ सदा उसकी महिमा गा रहा है, जिसे योगीश्वर-मुनीश्वर खोजते रहते हैं और प्रभुकी कृपाप्रसन्नतासे प्राप्त कर पाते हैं, हे श्रीरघुनाथजी ! दया करके वही अपनी भक्ति (भजन) मुझे प्रदान कीजिये ।

एवमस्तु कहि रघुकुलनायक । बोले बचन परम सुखदायक ॥
सुनु बायस तैं सहज सयाना । काहे न मागसि अस बरदाना ॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी । नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी ॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं । जे जप जोग अनल तन दहहीं ॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई । मागेहु भगति मोहि अति भाई ॥
सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें । सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें ॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा । जोग चरित्र रहस्य बिभागा ॥
जानब तैं सबही कर भेदा । मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ॥

माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि ।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि ॥
मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग ।
कायँ बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग ॥

श्रीरघुकुलनायक भक्तवत्सल भगवान्ने 'एवमस्तु' कहकर भक्ति-

वरका प्रदान स्वीकार कर लिया और परम सुखद वचन कहने लगे—हे काक ! तू परम बोधवान् है, ऐसा अनुपम वरदान इसीसे माँगा है, तूने सम्पूर्ण सुखोंकी खानि भक्ति माँगी है, अतः संसारमें तेरे समान बड़भागी कोई है ही नहीं । तेरी इस बुद्धिमत्ताको देखकर मैं निहाल हो रहा हूँ, तेरा भक्तिवरका माँगना मुझे बहुत ही भाया है; अतएव हे विहंग ! (काक !) अब मेरी कृपासे समस्त शुभ गुण तेरे हृदयमें वास करेंगे । भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग एवं सम्पूर्ण लीलाओंके रहस्य तथा विभागादि समस्त साधन-साध्यका भेद तू स्वयं जानेगा, मेरे प्रसादसे अब तुझे किसी साधन-का यह खेद न होगा कि मैंने इसका साधन नहीं किया, उसकी सिद्धि, उसके भेदादि रहस्य (मर्म) स्वाभाविक प्राप्त रहेंगे तथा मायासे उत्पन्न सब प्रकारके भ्रम अब तुझे कभी भी न व्याप सकेंगे । मुझे सदैव भक्त ही प्यारे हैं, ऐसा निश्चय करके हे काक ! मुझको अनादि, अज, निर्गुण एवं दिव्य गुणोंकी खानि परिपूर्ण ब्रह्म जानकर मनसा, वाचा, कर्मणा मेरे चरणोंमें निश्चल अनुराग करना ।

अब सुनु परम बिमल मम बानी । सत्य सुगम निगमादि बखानी ॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही । सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही ॥
मम माया संभव संसारा । जीव चराचर बिबिधि प्रकारा ॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सब ते अधिक मनुज मोहि भाए ॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुति धारी । तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी ॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी । ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी ॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥
भगति हीन बिरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥

परमोदारशिरोमणि श्रीरघुनाथजी प्रसन्नतापूर्वक उपर्युक्त अनुपम अमोघ वरदान देनेके उपरान्त अपने अनन्य भक्त भुशुण्डिजीसे अपना निजी सिद्धान्त भी प्रकट करते हैं कि हे काक ! अब निगमादिमें बखानी हुई मेरी परम विमल, सत्य, सरल वाणी सुन। मैं तुझे अपना निजी सिद्धान्त सुनाता हूँ जिसे सुनकर मनमें धारण कर तथा सबको त्याग करके मेरा भजन कर। वह सिद्धान्त यह है कि मेरी मायासे उत्पन्न संसारमें विविध प्रकारके जो चराचर जीव हैं, वे सभी मुझे प्यारे हैं; क्योंकि सब मेरे ही उपजाये हुए हैं, परन्तु उन सबमें मनुष्य मुझे अधिक प्यारे हैं और मनुष्यमें ब्राह्मण, ब्राह्मणोंमें वेदपाठी, वेदविदोंमें वेदानुकूल धर्माचरण करनेवाले उत्तरोत्तर प्यारे हैं, पुनः उन निगम-धर्मानुसारियोंमें विरक्त अधिक प्रिय हैं, विरक्तोंमें ज्ञानी अधिक प्रिय हैं, ज्ञानीसे भी अधिक प्रिय मुझे विज्ञानी हैं और विज्ञानियोंसे भी अधिक प्रिय मुझे मेरा 'निज दास' है, जिसे मेरी ही गति है और कोई दूसरी आशा नहीं। हे भुशुण्डि ! मैं तुझसे पुनः-पुनः सत्य कहता हूँ कि मुझे सेवक (भक्त) के समान कोई भी प्रिय नहीं है। मेरी भक्तिसे रहित ब्रह्मा भी क्यों न हो, वह भी मुझे सामान्य जीवकी ही भाँति प्यारा होगा, परन्तु भक्तिवाला अति नीच जीव भी मुझे प्राण-प्रिय है; ऐसी मेरी बानि (स्वभाव) है। हे काक ! सावधान होकर सुन ! भला निर्मल (निष्कपट), शीलवान्, सुबुद्धि, सेवक किसको

प्रिय नहीं लगेगा ! वेद-पुराण ऐसी नीति बता रहे हैं कि—

एक पिता के बिपुल कुमारा । होहिं पृथक गुन सील अचारा ॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता । कोउ धनवंत सूर कोउ दाता ॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई । सब पर पितहि प्रीति सम होई ॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा । सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा ॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना । जद्यपि सो सब भाँति अयाना ॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते । त्रिजग देव नर असुर समेते ॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया । भजै मोहि मन बच अरु काया ॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥

'एक ही पिताके अनेक पुत्र हुआ करते हैं, जिनके गुण, शील और आचरण पृथक्-पृथक् होते हैं । कोई तो पढ़कर विद्वान् पण्डित होता है तो कोई ज्ञानी, कोई धनवान्, कोई शूरवीर, कोई दानी, कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मात्मा—इन सभी पुत्रोंपर पिताकी प्रीति समभावकी (बराबर) ही रहा करती है, परन्तु जो पुत्र मनसा, वाचा, कर्मणा अपने पिताका सच्चा सेवक (भक्त) हो गया, जो स्वप्नमें भी दूसरा कोई धर्म (पिताकी सेवाके सिवा) जानता ही नहीं, वह पुत्र यद्यपि सब भाँति और उपर्युक्त गुणोंसे अनजान है, परन्तु पितृभक्तिके ही कारण वह पिताको प्राणोंके समान प्रिय होता है । इसी प्रकार इस मेरे उत्पन्न किये हुए सम्पूर्ण संसारमें जितने तिर्यक् (जिन जीवोंके पेट नीचे पृथ्वीकी ओरको रहते हैं) पशु-पक्षी आदि,

देवता, नर, असुर इत्यादि हैं, सबपर मेरी समान दया रहती है, परन्तु उनमेंसे जो कोई मद-मायाका त्याग करके मनसा, वाचा, कर्मणा मेरा ही भजन करने लगते हैं, वे चराचर जीवोंमें चाहे पुरुष हों या स्त्री, नपुंसक ही क्यों न हों, सर्वभावसे निष्कपट भजन करनेके कारण मुझे परम प्रिय हो जाते हैं। 'हे खग! (भुशुण्डि-जी!) तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ, निष्कपट सेवक मुझको प्राणोंके समान प्रिय हैं। ऐसा विचार निश्चय करके सम्पूर्ण आशाओं और सब प्रकारके भरोसोंको छोड़कर तुम मेरा ही भजन करो।' इस परम गुह्यतम अनुपम भगवत्-भागवत-रहस्यमें यह सिद्धान्त बतलाया गया है कि भगवत्-भजनसे परे और कुछ है ही नहीं। स्वयं श्रीमुख-वचनोंका प्रमाण ऐसे प्रियतम भागवतके प्रति निज सिद्धान्तके रूपमें गरज रहा है। एवं श्रीभुशुण्डिजी-सरीखे मुक्त आत्माका यह निर्णय स्पष्ट है, जिनके समीप 'ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत' अतएव यह वचन श्रीमानसके परम मान्य हैं—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

अतएव—

श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥
कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥

कलियुगका पुनीत प्रताप

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥

'कलियुगका एक पुनीत (पवित्र) प्रताप यह है कि इसमें मानसिक पुण्य तो फलदायी होते हैं; परन्तु मानसिक पापोंका फल नहीं होता।' 'पुनीत प्रताप' इसीलिये कहा गया है कि जिस प्रकार सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें मानसिक पापोंके भी फल जीवोंको भोगने पड़ते थे, उस प्रकार कलियुगमें नहीं होता। यह कलिकी एक विशेषता है। मानसिक पुण्य तो जैसे अन्य युगोंमें फल देते थे, वैसे ही कलिमें भी फल देते हैं। अतएव मानसिक पुण्यके विचारसे नहीं, बल्कि मानसिक पापके फल न देनेके विचारसे ही कलियुगके पुनीत प्रतापका यहाँ उल्लेख किया गया है।* इसीसे 'मानस पुन्य

---

* श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्धमें कलियुगके प्रसङ्गमें श्रीसूतजीने कहा है—

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारंग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥

(१। १८। ७)

'भ्रमरके समान सारग्राही सम्राट् परीक्षित् कलियुगसे द्वेष नहीं करते थे। क्योंकि कलियुगमें एक बड़ा भारी गुण यह है कि इसमें पुण्यकर्म तो मनके सङ्कल्पमात्रसे ही फल देनेवाले हो जाते हैं; परन्तु पापकर्म सङ्कल्पमात्रसे फल नहीं देते, उनका फल तो शरीरसे करनेपर ही होता है।'

होहिं नहिं पापा' अर्थात् मानस-पुण्य तो होते ही रहेंगे और मानसिक पाप नहीं लगेगा—ऐसा कहा गया है। इसी पुनीत प्रतापके कारण कलिमें जीवोंके लिये कुशल है, नहीं तो उनका पापसे उद्धार होना अत्यन्त कठिन हो जाता। क्योंकि—

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥

—यह मलिन कलियुग केवल मलका मूल है। मनुष्योंके मन पापरूपी समुद्रमें मछलीकी भाँति मग्न रहते हैं। भला मछली कब जलसे उपरत होना चाहती है। इसी प्रकार कलिमें जीवोंके मन कभी पापसे अलग होना नहीं चाहते। इसलिये यदि मानसिक पापकी माफी न होती तो उनका उद्धार कैसे हो सकता?

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि मानसिक पाप नहीं लगते तब तो लोग इनसे भय नहीं करेंगे और सदा मनमें पाप-चिन्तन ही किया करेंगे। साथ ही, कोई भी मनुष्य पापसे मनके निरोध करनेका साधन नहीं करेगा। इसका समाधान यह है कि पापसे भय नहीं करनेके लिये यह वचन नहीं है; बल्कि पापकी ओर मनकी सहज प्रवृत्ति देखकर जीवोंको धैर्य बँधानेके लिये है। अभिप्राय यह है कि मन पापकी ओर जाता है तो उससे घबराना नहीं चाहिये; बल्कि सावधानीसे बारंबार उसे पुण्यकी ओर लगाकर पुण्यके सुखद फलका भागी होना चाहिये। यहाँ मानस-पुण्यके स्वरूपको भी जान लेना जरूरी है; क्योंकि लोग बहुधा शङ्का करते हैं कि क्या हमने दस हजार गोदान करनेको मनमें कह दिया तो उसका पुण्य हमें हो जायगा? ऐसा कहनेवाले लोग भूलते हैं। असल बात तो यह है कि ऐसा कहते समय भी मनमें यह विचार रहता ही है कि हमारे

पास न गौएँ हैं, न उनके खरीदनेके लिये धन ही है और न हमारे इस प्रकार कह देनेमात्रसे किसीको गौएँ दानमें मिलती ही हैं-- इत्यादि। फिर यह मानसिक पुण्य कैसे हुआ ? मिथ्या होनेके कारण इसे मानसिक पाप चाहें तो कह भी सकते हैं। मानस-पुण्य उसे कहते हैं, जिसकी मनमें सच्ची धारणा हो। जैसे किसीने ब्राह्मण-भोजन करानेके लिये आटा, चीनी, घी आदि सामान इकट्ठा किया। वह दूसरे दिन ब्राह्मण-भोजन कराना चाहता था; परन्तु संयोगवश वह उसी रातको मर गया। ऐसी अवस्थामें मानस-पुण्यके रूपमें उसे ब्राह्मण-भोजन करानेका फल मिलेगा ? इसके सिवा सत्य, क्षमा, दया, दान, परोपकार आदि सद्‌गुणोंका वारंवार चिन्तन करना मानसिक पुण्य है और मनमें अपने इष्टदेवका ध्यान तथा स्मरण और जपका निरन्तर अभ्यास करना तो दिव्य मानसिक पुण्य है ही।

कलिमें मानसिक पाप नहीं लगते, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सदा मानसिक पापोंमें रत रहा जाय। मानसिक पाप नहीं लगते, इस विचारसे जो मनुष्य पापोंमें मनको लगावेगा उसके समान मूर्ख कौन होगा। क्योंकि मानसिक पाप न लगे, न लगे; पर पाप-चिन्तनमें मन लगाये रखनेसे लाभ ही क्या होता है ? उससे तो जीवन व्यर्थ नष्ट होता है, मानसिक व्यग्रता होती है और फिर जिस विषयका अधिक चिन्तन होता है, वैसी ही क्रिया भी होने लगती है। मानसिक पापको शारीरिक होते देर नहीं लगती, इसलिये उसके बदलेमें मनको शुभ-कर्म-चिन्तनमें लगाकर पुण्यसञ्चयकर शान्तिका उपभोग करना ही बुद्धिमत्ता है। काकभुशुण्डिजीने ठीक ही कहा है—

कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥

इस प्रतिज्ञाके अनुसार इस पुराणश्रुतिके सारभूत 'पावनं पावनानाम्' उदार श्रीरामनामके अपार महत्त्वका परिचय देते हुए श्रीगोस्वामीजीने स्वरचित रामायणकी केवल चौबीस पंक्तियोंको प्रयोजनवश छोड़कर, जिसका कारण फिर कभी अवसर मिलनेपर दूसरे किसी लेखमें विस्तारके साथ स्पष्ट करनेकी सेवा की जायगी, शेष समस्त ग्रन्थ (सातों काण्डोंके प्रत्येक पद) की रचना ऐसे नियमसे की है कि श्रीरामनामके वरवरणयुग (रा) रकार और (म) मकार दोनों अक्षरोंमेंसे एक-न-एक किसी-न-किसी रूपमें प्रत्येक पंक्तिमें अवश्य पाया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें रामनाम ओतप्रोत होनेसे 'रहि महँ रघुपति नाम उदारा' तो सिद्ध हो ही गया है; इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं प्रसङ्गवश अवसर मिला है, वहीं ठौर-ठौरपर प्रकटरूपमें श्रीरामनामका महत्त्व भरपूर गाया गया है। उदाहरणार्थ विभिन्न स्थलोंसे कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥
जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥
जासु नाम त्रयताप नसावन। सो प्रभु प्रगट समुझु जियँ रावन॥
जाकर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरें गृह आवा प्रभु सोई॥
बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

वारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥
जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें तो गुप्त और प्रकटरूपसे श्रीरामनामका महत्त्व प्रदर्शित किया ही गया है; बालकाण्डके वन्दना-प्रसंगमें श्रीरामनाम-वन्दना पृथक् ही नौ दोहोंमें रचकर उस रामनाम-महत्त्वकी असीमता सूचित की गयी है। वह इस तरह कि, अंकोंकी सीमा नौ (९) पर ही जाकर समाप्त हो जाती है। नौके पश्चात् चाहे अर्ब, खर्ब, संख्य, असंख्यतक लिखते जाइये, वही १ से लेकर ९ तकके अंकोंको इकाई-दहाई आदिके स्थानोंमें घूम-फिरकर लिखना पड़ेगा। ९ से अधिक अंक हैं ही नहीं, तब आवेंगे कहाँसे ! इस प्रकार अंकोंकी सीमा ९ ही है। पुनः ९ का ही अंक एक ऐसा अंक है जो अपने गुणनफलमें सदैव अपनी नौकी संख्याको अचलरूपसे पूर्ण बनाये रखता है। यह गुण १ से लेकर ८ तकके किसी दूसरे अंकमें आपको नहीं मिलेगा। यह ऐश्वर्य केवल ९ के अंकको ही प्राप्त है। उदाहरणके लिये किसी एक अंकको गुणा करके देख लीजिये। ८ का दूना १६ हुआ, जिसमें दो अंक १ और ६ हैं। इन दोनों अंकोंको जोड़िये तो दोनों मिलकर ७ हुए, ८ पूरे नहीं हुए। पुनः ८ का तिगुना २४ हुए जिसमें २ और ४ दो अंक हैं। इन दोनोंका योग ६ ही होता है। इसी प्रकार पूरे पह

इकाई और दहाईके अंकोंको जोड़ते जाइये। आठ ही क्यों ७, ६, ५, ४, ३, २, १ किसी भी अंकको अपने गुणनफलमें उसके पूरे रूपमें बराबर नहीं पायेंगे। किन्तु ९ का अंक ऐसा विलक्षण है कि वह हर हालतमें नौका नौ ही मिलता है। जैसे ९ का दूना १८ हुआ, जिसमें १ और ८ दो अंक हैं, इनको जोड़िये तो १+८=९ ही होता है। पुनः ९ का तिगुना २७ हुआ और २ तथा ७ का जोड़ ९ हुआ। फिर ९ का चौगुना ३६ हुआ और ३+६=९ हुआ। इसी प्रकार नौ नवाँ ८१ तक जोड़ते चले जाइये, किसी गुणनफलमें ९ से कम या अधिक जोड़ नहीं होगा। इसके दसगुना नब्बे (९०) तकमें भी ९ और शून्यका जोड़ ९ ही रहता है। अतएव श्रीरामनामकी वन्दना अलग नौ दोहोंमें करके उसके महत्त्वकी असीमता और अचलताका लक्ष्य कराया गया है। और भी ऐसे प्रसंगोंपर जहाँ-जहाँ यह रहस्य सूचित करनेकी आवश्यकता श्रीगोस्वामीजीको प्रतीत हुई है, वहाँ-वहाँ वन्दना और उपमा आदिको नौकी ही संख्यातक रचकर इस नियमको पुष्ट किया है। जैसे, बालकाण्डके आदिमें मङ्गलाचरणके श्लोकोंमें केवल नौ महानोंकी ही वन्दना की गयी है—'वन्दे वाणीविनायकौ'—श्रीसरस्वती और श्रीगणेश (दो), 'भवानीशङ्करौ वन्दे'—श्रीशिव और श्रीपार्वती (चार), 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुम्'—श्रीगुरुदेव (पाँच), 'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ'—श्रीवाल्मीकि और श्रीहनुमान्जी (सात), 'सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्'—श्रीसीताजी (आठ) तथा—

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।

सरकार श्रीरघुनाथजीकी वन्दना अन्तमें करके नौकी संख्या पूरी की गयी है। अयोध्याकाण्डमें जब श्रीसुमन्तजी श्रीसरकारकी वनयात्राके समय उन्हें शृङ्गवेरपुर गङ्गातटपर पहुँचाकर अयोध्या वापस आये हैं तो उनके शोककी पराकाष्ठा दिखानेके लिये वहाँ भी नियमसे ९ ही उपमाएँ दी गयी हैं---

(१) मनहुँ कृपन धन रासि गवाँई।
(२) चलेउ समर जनु सुभट पराई।
(३) बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखें मदपान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥
(४) जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी॥
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदयँ तिमि दारुन दाहू॥
(५) बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी॥
(६) हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जमपुर पंथ सोच जिमि पापी॥
पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि(७) गुर(८) बाँभन(९) गाई॥

फिर उत्तरकाण्डमें जहाँ---

बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

यह निश्चय करना इष्ट था, वहाँ भी नौ ही असम्भव बातोंको गिनाकर असीमताके लिये नौका ही नियम निबाहा गया है। यथा---

(१) कमठ पीठ जामहिं बरु बारा।
(२) बंध्या सुत बरु काहुहि मारा।
(३) फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
(४) तृषा जाइ बरु मृगजल पाना।
(५) बरु जामहिं सस सीस बिषाना।

(६) अंधकारु बरु रबिहि नसावै । राम बिमुख न जीव सुख पावै ॥
(७) हिम ते अनल प्रगट बरु होई । बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥
(८) बारि मथें घृत होइ बरु,
(९) सिकता ते बरु तेल ।

इसी प्रकार नौ अंकके द्वारा, नौ दोहोंमें वन्दना करके श्रीराम-नामका महत्त्व तो प्रकट किया ही गया है, साथ ही इस वन्दनाके एक-एक पदमें जिन सप्रमाण और सगर्भ हेतुओं तथा दलीलोंके द्वारा प्रत्येक शब्द श्रीरामनामके महत्त्वसे भर दिया गया है,—जो भगवत्कृपासे भावार्थोंद्वारा सुझाये जा सकते हैं,—'उनकी गम्भीरता, अगाधता और असीमताका तो ठिकाना ही नहीं है । यदि कोई इन्हीं नौ दोहोंके प्रत्येक पदका भावार्थ लिखकर श्रीरामनामका महत्त्व दिखलाना चाहे तो पूरे सातों काण्ड रामायणसे भी विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो जायगा, किन्तु फिर भी वह पूरा नहीं लिखा जा सकता । इसलिये इस वन्दना-प्रसंगका एक पद आरम्भका तथा एक पद अन्तका सम्पुटरूपमें लेकर इन्हीं दोनों पदोंके भावार्थ संक्षेपरूपमें श्रीरामनाम-महिमा प्रकट करनेके लिये अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार 'तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरे' का अवलम्बन कर समर्पित किये जा रहे हैं ।

आरम्भका पद है—

वंदउँ नाम राम रघुबर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥

इससे पहले श्रीराम रूपकी वन्दना आप कर चुके—

पुनि मन बचन करम रघुनायक । चरन कमल बंदउँ सब लायक ॥

तथा 'गिरा अर्थ जल बीचि सम' की उपमा देकर दोहेमें युगल

सरकारकी एकता भी कर चुके। अतः अब कहते हैं कि 'बंदौं नाम'—श्रीसरकारके नामकी वन्दना करता हूँ। यह नाम क्या है? राम ऐसा नाम है। राम भी तो अनेक हैं; जैसे—परशुराम, बलराम व्यापक राम इत्यादि; तो फिर कौन-से राम? रघुबरको राम। अर्थात् श्रेष्ठ रघुकुलोत्पन्न श्रीदाशरथि रामजी ('रामो दाशरथिर्बभूव' इति तापिनी) इस निर्णयके अनुसार श्रीगोसाईंजी श्रीअवधनाथ, दशरथपुत्र, कौसल्यानन्दन, रघुकुलश्रेष्ठ जो राम हैं, उन रामजीके नामकी वन्दना करते हैं। कैसा है वह रामनाम? वह कृशानु (अग्नि), भानु (सूर्य) तथा हिमकर (चन्द्रमा) का हेतु (कारण) है। तात्पर्य रामके (र) रकारसे अग्नि, (ा) अकारसे सूर्य, एवं (म) मकारसे चन्द्र— इन तीनों कार्यरूपोंकी उत्पत्ति हुई है। इस पदसे श्रीरामनामका महान् महत्त्व इस प्रकार सूचित कर रहे हैं कि इस जगत्‌मात्रके आधार अग्नि, सूर्य और चन्द्र ही हैं, यदि ये तीनों न होते तो संसारका कोई भी कार्य चल ही नहीं सकता था। यह प्रत्यक्ष और निर्विवाद है। जब कार्योंका महत्त्व इतना प्रकट है तब उनके कारण-स्वरूप रामनामके महत्त्वका क्या कहना? अतः इस जीवका जो अर्थ अग्निके द्वारा सिद्ध हो रहा है, उसके लिये तो अग्नि ही समर्थ है; परन्तु जो 'परमार्थ' अग्निके सामर्थ्यमें नहीं है, उस परमार्थके जिज्ञासुको अग्निके कारण (र) रकारकी शरण लेनी चाहिये, तब काम चलेगा। तात्पर्य यह कि सृष्टिके सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अग्निद्वारा भस्म किया जा सकता है; परन्तु शुभाशुभ कर्मोंको भस्म करनेका कार्य इस अग्निसे नहीं सिद्ध हो सकता। इसलिये जिसे शुभाशुभ कर्मोंसे छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त करनेकी चाह हो, वह अनलके

बीज (कारण) रामनामके रकारका अनुसन्धान करे, तब उसके शुभाशुभ कर्म भस्मीभूत होंगे। इसका प्रमाण भी इस प्रकार है—

रकारोऽनलबीजः स्याद् ये सर्वे वाडवादयः।
कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥

इसी प्रकार जो अर्थ सूर्यसे नहीं सिद्ध होनेवाला है, वह जैसे जगत्‌भरके अन्धकारका नाश तो सूर्योदयसे हो जाता है—

रबि मंडल देखत लघु लागा। उदयँ तासु तिभुवन तम भागा ॥

परन्तु हृदयके अज्ञानान्धकारका नाश सूर्यके बीज (कारण) स्वरूप रामनामके अंदर रकारके आगे आनेवाली जो पाई (ा) है, उस अकारके अनुसन्धानसे ही सम्भव है। प्रमाण—

अकारो भानुबीजः स्यात् सर्ववेदप्रकाशकः।
दहत्येव च सद्रीत्या या विद्या हृदये तमः ॥

इसी भाँति जो अर्थ चन्द्रमासे सिद्ध नहीं हो सकता, उसकी सिद्धिके लिये रामनामके (म) मकारकी ही शरण आवश्यक होगी जो चन्द्रका बीजस्वरूप है। संसारी उष्णतासे उत्पन्न होनेवाले तापको हरण करनेमें चन्द्रदेव समर्थ हैं—'सरदातप निसि ससि अपहरई'; परन्तु अन्तःकरणके तापका निवारण तो इनके बीज रामनामके मकारसे ही सम्भव है। प्रमाण—

मकारश्चन्द्रबीजः स्यात् सदस्या परिपूरणम्।
त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥

इन्हीं भावोंकी पुष्टि श्रीरामचरितमानसकी उन बीजक चौपाइयों और दोहोंके द्वारा स्वयं श्रीग्रन्थकारजीने भी स्पष्टरूपमें कर दी है, जिनकी रचना यहाँके बीजको सफल करनेके निमित्त ही प्रसङ्गानुकूल

अवसर पानेपर ग्रन्थके बीच-बीचमें अनेक स्थलोंपर की हुई मिलती है। जैसे—

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥
(बालकाण्ड)

जिन श्रीरामजीका 'राम' नाम पतङ्ग अर्थात् सूर्य है। परन्तु लौकिक तिमिरके लिये नहीं, भ्रम (अज्ञान)-तिमिर (अन्धकार) का नाश करनेके लिये रामनाम सूर्य है। जो तम इन सूर्यसे नष्ट होता है, उसके लिये तो यही समर्थ हैं। पुनः—

जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥
(अवधकाण्ड)

जिन श्रीरामजीका 'राम' नाम पावक अर्थात् अग्नि है। परन्तु पाञ्चभौतिक पदार्थोंको भस्म करनेके लिये नहीं, क्योंकि इन्हें तो यही अग्नि भस्म कर सकती है, श्रीरामनाम तो अघरूप रूईको भस्म करनेके लिये पावकरूप है। पुनः—

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम॥
(वनकाण्ड)

जिन श्रीरामजीका 'राम' नाम चन्द्र है। परन्तु साधारण रजनीके लिये नहीं, इस रात्रिको तो यही चन्द्रमा शोभित करते हैं; श्रीरामनाम भक्तिरूप पूर्णमासीकी रात्रिके लिये सोम अर्थात् चन्द्र है; जहाँ त्रिताप एवं अन्तस्तापका नाम नहीं रह पाता।

साथ ही श्रीगोस्वामिपादने उक्त पदमें अग्नि, सूर्य और चन्द्रके लिये ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है, जिनमें रकार, अकार और

मकार वीजरूपसे झलक रहे हैं और इस तरह इन्हीं भावोंकी पुष्टि होती है। उन्होंने पावक, अग्नि, अनल आदि किसी ऐसे शब्दका प्रयोग न कर, ढूँढ़कर 'कृशानु' शब्द लिखा है, जिस कृशानुमें (र) रकार वीज 'क'में 'ऋ' के रूपमें झलक रहा है। यदि रकारकी मात्रा न रहे तो 'कृशानु' निरर्थक शब्द हो जाय। इसी प्रकार सूर्य, पतङ्ग, दिनेश आदि शब्दोंका प्रयोग न करके, जान-बूझकर 'भानु' शब्द रक्खा गया है, जिसमें 'भ' और 'नु' के वीचमें (ा) अकारकी पाई वीजरूपसे वर्तमान रहे। यहाँ भी पाईके हट जानेपर केवल 'भनु' रह जायगा। जो सूर्यका बोधक ही नहीं होगा। ऐसे ही विधु, शशि, चन्द्र आदि शब्दोंको छोड़कर चन्द्रमाके लिये 'हिमकर' शब्द ढूँढ़ा गया है, जिससे इसमें भी (म) मकार वीज-रूपसे झलकता रहे। इसका भी 'म' हटा देनेपर केवल 'हिकर' शब्द निरर्थक ही रह जाता है।

इस प्रकार कार्य-कारण-भावका पूर्ण प्रमाण देकर यह विशेष वैलक्षण्य श्रीरामनामके महत्त्वमें दिखाया गया है कि कार्योंसे तो केवल एक-एक अर्थ अलग-अलग साधे जा सकते हैं; किन्तु कारण-रूप केवल एक रामनामसे ही तीनों अर्थ एक साथ ही पूर्ण हो जाते हैं—(१) जन्म-जन्मान्तरके शुभाशुभ कर्म भी भस्म हो जाते हैं; (२) अज्ञान-तम भी निवृत्त हो जाता है; तथा (३) सब प्रकारके वाह्यान्तर ताप भी दूर हो जाते हैं, जिससे श्रीभक्ति महारानीकी प्राप्ति होती है तथा हृदय नित्य शीतल एवं आत्यन्तिक सुखमय हो जाता है।

नाम-वन्दना-प्रसङ्गके अन्तका पद, नवाँ दोहा इस प्रकार है—

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल ।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ॥

श्रीरामनाम नरसिंह भगवान्‌की उपमामें है, कलियुग हिरण्यकशिपुकी उपमामें है, नामजापक लोग प्रह्लादकी उपमामें हैं तथा पुण्यात्मा लोग देवताओंकी उपमामें हैं । जैसे सुरसालि (देवताओंको दुःख देनेवाले हिरण्यकशिपु) सुरोंको दुखी करता रहा, उसी प्रकार कलियुग पुण्यात्माओंको (जो अपने वर्णाश्रम-धर्मानुकूल शुभाचरण करते हुए चलना चाहते हैं) रगड़ता रहता है । एक रामनामके जापकोंसे उसकी उसी प्रकार एक भी नहीं चलती, जिस प्रकार हिरण्यकशिपुकी प्रह्लादसे एक भी नहीं चली थी ।

सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा । नरहरि किए प्रगट प्रहलादा ॥

जबतक हिरण्यकशिपु देवताओंको ही दुखी करता रहा तबतक तो भगवान्‌के लिये असह्य नहीं हुआ, किसी प्रकार चलता गया । किन्तु जब उसने नामजापक भक्त प्रह्लादको दुःख देना आरम्भ किया तब—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ । निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई । राम रोष पावक सो जरई ॥

इस उक्तिके अनुसार भगवान्‌ने तत्काल नरसिंहरूपमें प्रकट होकर उसे चीर-फाड़ डाला । वैसे ही अपर यज्ञ-यागादि कर्मावलम्बियोंको कलिकाल क्लेश पहुँचाता रहता है; परन्तु अगर कभी वह किसी रामनाम-जापक भक्तपर जोर दिखावेगा तो उसी समय नष्ट-भ्रष्ट कर डाला जायगा—ऐसा समझकर वह नामजापकोंके नजदीक नहीं आता और न कोई विघ्न ही पहुँचाता है । इसी कारण इस

घोर कलिमें एक नामावलम्ब ही निष्कण्टक मार्ग बताया गया है । जैसे—

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ । कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलंबन एकू ॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि । प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि ॥
सो भव तर कछु संसय नाहीं । नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥

राम राम जपे जैहै जियकी जरनि ।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि ।

(विनय-पत्रिका)

अर्थात् रामनामको छोड़कर और दूसरे समस्त उपाय बिना पगके हो गये हैं, चल नहीं सकते । वे देखनेमात्रको रह गये हैं, कलियुगने उन्हें शक्तिहीन बना दिया है, जैसे चित्रमें सूर्यका आकार तो छिपा रहता है पर वह देखनेभरके लिये होता है; उससे यदि कोई रात्रिका निवारण करना चाहे तो कदापि नहीं हो सकता । हाँ, एक रामनामसे चाहे जो हो सकता है—

नाम प्रताप सही जो कहे कोउ सिला सरोरुह जामो ।

(विनय-पत्रिका)

क्योंकि इसपर अपना जोर डालनेमें कलियुग भय खाता है तथा इसी नाते इतने अंशमें कलियुगकी प्रशंसा भी हो रही है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥
कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहिं लोग ॥

श्रीगोस्वामीजी महाराज 'विनय-पत्रिका' में भी ठीक इसी भावकी अपनी प्रेमपूर्ण सम्मति दे रहे हैं—

नाना पथ निर्वाण के साधन अनेक बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे रटु राम नाम दिन राति॥

फिर 'कवितावली'में भी कितना स्पष्ट कह रहे हैं—

न मिटै भवसंकट दुरघट है तप तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलिमें न विराग न ग्यान कहूँ सब लागत फोटक झूठ जटो॥
नट ज्यों जनि पेट कुपेटक कोटिक चेटक कौतुक ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुख चाहिय तो रसना निसिबासर राम रटो॥

बरवैरामायणमें कहते हैं—

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत। राम नाम जपु तुलसी प्रीति समेत॥
कलि नहिं ग्यान बिराग न जोग समाधि। राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥

ऐसे ही सैकड़ों वचन श्रीतुलसी-ग्रन्थावलीमें भरे पड़े हैं तथा नाना-पुराण-निगमागम भी एकमुख होकर कलियुगमें केवल नामका ही अवलम्बन लेनेकी आज्ञा दे रहे हैं, जिसके प्रमाण ठौर-ठौर भरे पड़े हैं।

उपर्युक्त दोहेमें एक भाव और भी बड़े मार्केका है; वह यह कि इसके ऊपरकी चौपाईमें एक बार कलियुगको कालनेमिकी तथा रामनामको श्रीहनुमान्‌जीकी उपमा दी जा चुकी है—

कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥

किन्तु इस चौपाईमें केवल इतना ही भाव प्रकट हुआ था कि जैसे श्रीहनुमान्‌जीसे कालनेमिका कोई कपट नहीं चल सका, वह खुद ही नष्ट कर दिया गया, उसी प्रकार कलियुगका कोई कपट-

तन्त्र रामनामपर नहीं चल सकेगा और यदि चलायेगा तो वह कलि ही नाशको प्राप्त हो जायगा। इससे यह सिद्ध होता था कि और साधनोंकी भाँति रामनामको कलियुग कील नहीं सकता, रामनाम अपनेको आघातसे बचानेमें पूर्ण समर्थ है। पर इस दोहेके द्वारा इस बातका स्पष्टीकरण किया गया है कि यदि रामनाम जपनेवालेपर कलियुगने आघात किया तो उस हालतमें भी वह नष्ट कर डाला जायगा अर्थात् जब नामसे भिड़ेगा तो कालनेमिकी भाँति और जब नामजापकसे भिड़ेगा तो हिरण्यकशिपुकी भाँति दोनों ही हालतमें नष्ट कर डाला जायगा—चाहे कालनेमिकी भाँति कपटसे जुटे, चाहे हिरण्यकशिपुकी भाँति प्रकट युद्ध करे, उसका कपट-प्रकट एक भी नहीं चलेगा।

उपर्युक्त नाम-वन्दना बालकाण्डके चौबीसवें दोहेके पश्चात्से आरम्भ होकर तैंतीसवें दोहेपर समाप्त हो गयी है। नियमपूर्वक आठ-आठ चौपाइयोंके बाद एक-एक दोहा दिया हुआ है। इस प्रकार कुल नौ दोहोंके अन्तर्गत बहत्तर चौपाइयाँ हैं। इनमें प्रत्येक पदमें मानो श्रीरामनाम-महिमाका भाण्डार भर दिया गया है। यहाँतक कि 'राम न सकहिं नाम गुन गाई' इत्यादि पद भी कह डाले गये हैं। इनमेंसे आरम्भकी एक चौपाई तथा अन्तके केवल एक दोहेका भावार्थ यहाँ संक्षेपमें लिखा जा सका है; परन्तु पाठकोंकी श्रद्धा और विश्वास होनेके लिये तो उपर्युक्त दो ही पदोंसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया है कि श्रीरामनामके ऐश्वर्य और महत्त्व-का ठिकाना नहीं है, न ऐसा सामर्थ्य कहीं हो सकता है तथा इस घोर कलियुगमें केवल राम-नामका ही बोलबाला है। जिस बड़भागीने

रामनाममें अनुराग कर लिया उससे कलिकाल भी दबक जाता है—

काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत।
राम नाम महिमाकी चरचा चले चपत॥

तथा—

प्रिय रामनाम ते जाहि न रामो।
ताकहँ भलो अजहुँ कलिकालहुँ आदि मध्य परिनामो॥

(विनय-पत्रिका)

अब उपर्युक्त महत्त्वकी पुष्टिमें सरकारी मुहर-छापसहित एक और सही देख ली जाय जो श्रीरामचरितमानसके ही अन्तर्गत वर्तमान है। अरण्यकाण्डमें वर्णन है कि जब पम्पा-सरोवरपर श्रीरघुनाथ-जी परम प्रसन्न रूपमें विराज रहे थे—

बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥

तब देवर्षि नारदजीको स्मरण हुआ कि—

मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥
ऐसे प्रभुहिं बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसरु आई॥
यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना॥

× × × ×

नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जियँ जानि।
नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि॥
सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बर दायक॥
देहु एक बर मागउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी॥

श्रीनारदजीके इस प्रकार विनती करनेपर भगवान् श्रीरामचन्द्र-जीने कहा—

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी॥
जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥

श्रीरघुनाथजीकी ऐसी कृपा और उदारता देखकर देवर्षि नारदजी हर्षसे भर गये—

तब नारद बोले हरषाई। अस बर मागउँ करउँ ढिठाई॥
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम॥

भगवद्भक्तिके परमाचार्य, नामनिष्ठशिरोमणि, कीर्तन-कलानिधि, परम भागवत, साक्षात् भगवद्विग्रह ('देवर्षीणां च नारदः'—गीता) महर्षि नारदजी प्रसन्नचित्त होकर विनय करते हैं कि 'हे नाथ! मैं ढिठाई करके ऐसा वर माँगता हूँ कि यद्यपि सरकारके बहुत-से नाम हैं और उन सब नामोंका महत्त्व वेदोंमें एक-से-एक अधिक वर्णित है (तात्पर्य, भगवान्‌के सभी नामोंका असीम महत्त्व वर्णित है); तथापि आपका रामनाम समस्त नामोंकी अपेक्षा पापरूप पक्षियोंके लिये वधिक होनेमें अधिक महत्त्वका होवे। आपकी भक्ति पूर्णिमाकी रात्रि हो और आपके भक्तोंका हृदय विमल आकाश हो। उस हृदयाकाशमें भक्तिरूपा रात्रि पाकर आपके अन्यान्य नाम तारागणकी तरह उदय रहें और आपका राम-नाम सर्वोत्कृष्ट पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति देदीप्यमान रहे।'

इस प्रकारकी देवर्षि नारदकी वर-याचना सुनकर भगवान्

श्रीरामचन्द्रजीने 'एवमस्तु' उच्चारण करते हुए इस अनुपम वरके लिये अपनी स्वीकृति दे दी—

एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ।
तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नायउ माथ॥

इस प्रकार रामनामके महत्त्वपर भगवान्‌की मुहर छाप भी इस रामचरितमानससे ही प्रमाणित है। भगवान्‌के समस्त नामोंसे अधिकता श्रीरामनामके लिये स्वयं नामी भगवान्‌ने ही प्रदान कर रक्खी है। उसपर विलक्षणता यह है कि जैसे वधिक (शिकारी) खगगण (पक्षियों) को खोज-खोजकर वध करनेमें आह्लाद मानता है, वैसे ही श्रीरामनाम शौकके साथ अपने नामजापकोंके पापोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर नष्ट करनेमें आनन्द मानता है। इतना ही नहीं, पापोंकी निवृत्तिमें तो वधिककी भाँति रामनामको सुख होता ही है, भक्तोंको भी सुखी करना नाम भगवान्‌का मुख्य विरद है। अतः वे अपनी अनपायिनी भक्तिरूपा पूर्णिमाकी रात्रि प्रदान कर भक्तोंके हृदयाकाशमें स्वयं चन्द्रमाके समान सदैव उदय रहकर उसे शीतल और सुखमय बनाये रहते हैं। श्रीरामनामरूपी सोमसे सदैव प्रेमामृत स्रवित होकर नामानुरागरूपी प्रेमाङ्कुरका अद्भुत पोषण हुआ करता है।

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष हद तिन्हहुँ किए मन मीन॥

उत्तमता यह है कि श्रीरामनामका जापक भगवान्‌के और समस्त नामोंको भी अपने हृदयमें जगह दिये रहता है, श्रीरामनाम सोम अपने अपर नामसमाजको उडुगणकी भाँति संग लिये रहते हैं—

रामनाम बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा॥

अतएव भगवत्-चरणानुरागियोंको सब ओरसे मुँह मोड़कर इस कलिकालके पहरमें, जब कि—

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥

—की दशा प्राप्त है, रामनाम-कल्पतरुकी ही छायामें गुजारा करनेका निश्चय कर लेना चाहिये—

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

श्रीरामचरितमानसके दो-एक प्रसङ्गोंको उद्धृत कर देनेकी सेवा इस दीनसे हो सकी, इसमें जो त्रुटि हो उसे भगवज्जन क्षमा करेंगे। इस तुच्छको रामनामके महत्त्वका क्या पता?

महिमा राम नामकी जान महेस। देत परमपद कासी करि उपदेस॥
जान आदिकवि तुलसी नाम प्रभाव। उलटा जपत कोल ते भै ऋषिराव॥
कलस जोनि जिय जानेउ नाम प्रताप। कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जाप॥

अपनी दशा तो यह हो रही है कि 'एकहि एक सिखावत जपत न आप।' कारण क्या? कारण यह है कि 'तुलसी नाम प्रेमकर बाधक पाप।' इसलिये इस तुच्छ जीवके लेखकी त्रुटिपर ध्यान न देकर पाठकोंको चाहिये कि श्रीगोस्वामीजीके मूल वचनोंपर विश्वास करें और श्रीरामनामके महत्त्वको यथावत् मानकर हठनियमसे यथाशक्ति संख्याका संकल्प करके रामरटनमें लग जावें। पहला दर्जा हठ है, दूसरा रुचि, तीसरा अभ्यास और चौथा तदाकारता है। जैसे जब हम सब बचपनमें माताका दूध पीते थे और जब अन्नप्राशन-का मुहूर्त पूछकर हमारे मुखमें पहले-पहले अन्न चढ़ाया गया था तब हम थू-थू करके रो उठे थे। परन्तु माता हठ करके रोज चढ़ाती रही। उस हठका फल यह हुआ कि रुचि हो गयी, अनिष्टता गयी,

कुछ दिनों पीछे अभ्यास हो गया। जैसे माताका दूध माँगते थे वैसे अन्नकी रोटी भी माँगने लगे। आज वही अन्न तद्रूप होकर जीवनाधार बन गया है और इस समय उस माताके दूधको याद करनेपर घृणा-सी मालूम होती है। इसी प्रकार जब आपकी बुद्धि नाममहिमापर निश्चितरूपसे विश्वास कर ले तब अपने मनरूप शिशु-से बुद्धिमत्ताद्वारा हठपूर्वक अन्नप्राशनकी भाँति नामरटन आरम्भ करा दीजिये। यद्यपि पहले-पहल वह कुछ बोझ-सा प्रतीत होगा; परन्तु यदि हठ न छोड़ा जायगा तो कुछ दिनोंमें रुचि हो जायगी और फिर आगे चलकर अभ्यास भी हो जायगा। जैसे व्यवहारकी बातोंमें मन लगता है, वैसे ही रामभजनमें भी लगने लगेगा। कुछ दिनों तो दोनों चलेंगे; किन्तु पीछे यदि नियम दृढ़ रहा तो अन्नकी ही भाँति रामभजन ही जीवन हो जायगा, विषय-व्यवहारकी माताके दूधकी भाँति विस्मृति हो जायगी।

माय बाप गुरु स्वामि रामकर नाम। तुलसी जेहि न सोहाय ताहि विधि बाम॥
तप तीरथ मख दान नेम उपवास। सब ते अधिक नाम जप तुलसी दास॥
रामनामपर तुलसी नेह निबाहु। एहि ते अधिक न एहि सम जीवन लाहु॥
आगम निगम पुरान कहत करि लीक। तुलसी नाम राम कर सुमिरन नीक॥
तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि। बेद पुरान पुकारत कहत पुरारि॥
तुलसी राम नाम सम मित्र न आन। जो पहुँचाव रामपुर तन अवसान॥
केहि गनती महँ गनती जस बन घास। नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥
नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु। जनम जनम रघुनन्दन तुलसिहिं देहु॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग

यों तो श्रीरामचरितमानसमें सर्वत्र ही भक्तियोगका पवित्र और परम शान्तिदायी सागर लहरा रहा है, परन्तु प्रकृत भक्तियोगका प्रसंग अरण्यकाण्डके अन्तर्गत—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥

—इस चौपाईसे आरम्भ होता है और—

'भगति जोग' सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

—इस चौपाईपर समाप्त हो जाता है। इस भक्तियोगके साथ उन पाँचों स्वरूपोंके विषयमें प्रश्न किया गया है जिनका वेद-शास्त्रानुसार बोध प्राप्त करना भवसागर पार करनेवाले मुमुक्षुका परम ध्येय है। पाँच स्वरूप ये हैं—

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधकः॥

वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः।
मुनयश्च महात्मानो वेदवेदान्तवेदिनः॥

अर्थात् (१) परस्वरूप, (२) स्वस्वरूप, (३) उपायस्वरूप, (४) फलस्वरूप और (५) विरोधस्वरूप, इन्हींके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है; यथा—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

ज्ञान-विराग (उपायस्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप) माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप) के विषयमें यह प्रश्न पूछा गया है। परन्तु इन सब प्रश्नोंका पर्यवसान केवल भक्तियोगमें ही हुआ है, जिसका सम्पुट प्रश्नके साथ ही लगा हुआ है; यथा—

प्रश्नके आदिमें कहा है—

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥

और प्रश्नके अन्तमें कहा है—

'जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥'

और 'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं।'—भावको स्पष्ट करके ही प्रश्न पूछा गया है, जिससे भगवान्‌का यह विरद भी—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥

—लक्षित हो जाय।

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर आरम्भ करते समय भी सर्वप्रथम अहङ्कारका ही त्याग कराया गया है। जैसे—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥

तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणचतुष्टयमेंसे (१) मन, (२) बुद्धि और (३) चित्तको लगाकर अर्थात् अहङ्कार (चौथे) को त्याग कर सुनो।

इस भक्तियोगका मुख्यसार अहङ्कारका निःशेषरूपसे त्याग ही है। विरोधस्वरूपा मायाका स्वरूप भी जो दो भेदोंसे—'मैं अरु मोर तोर तैं' अविद्या और 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई' विद्या—बतलाया गया है, उसका भी मूलकारण अहङ्कार ही है। क्योंकि दुःखरूपा अविद्यामें तो 'मैं' मोर' 'तोर' आदि शब्द स्पष्ट ही अहङ्कारसूचक हैं और यवनिका (परदा) स्वरूपा विद्याके कार्यरूप जगत्में जो नानात्वका दर्शन होता है, वह भी अहङ्कारमूलक ही है। तभी तो दोनोंकी निवृत्तिमें निर्मानावस्था उत्पन्न होनेपर समदृष्टिसे जगत्को ब्रह्मरूप देखना ही ज्ञान कहा गया है—

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥

तथा—

तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी—

—द्वारा वैराग्य बताकर इस ज्ञान-वैराग्यको भक्तियोगका उपायस्वरूप बतलाया गया है।

ईश्वर (परस्वरूप) के लक्षण—'(१) बन्धमोक्षप्रद, (२) सर्वपर, और (३) माया प्रेरक' कहकर भी सर्वथा अहङ्कारकी ही जड़ उखाड़ दी गयी है। क्योंकि ईश्वर, जीव और माया—इन तीनोंमेंसे जो एक शेष दोनोंपर अपना अधिकार जमाये हुए हैं; वही सर्वपर (सबसे बड़ा) हुआ। अतः सर्वपरत्व गुण ईश्वरमें निश्चित

होनेसे जीवका अहङ्कार जाता रहा। पुनः बन्धमोक्षप्रदत्व गुणसे भी जीवके बन्धन और मुक्तिका अधिकार ईश्वरमें ही रहा, जिसे इस चौपाईके द्वारा दर्शाया गया है—

नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥

चेतन बंदरकी ही तरह यह चेतन जीव नट-रूप ईश्वरके अधीन है; उसका बन्धन और मोक्ष अपने अधीन न होनेसे अहङ्कार-को स्थान कहाँ? पुनः 'मायाप्रेरक' तीसरे गुणसे जो मायाको प्रेरित करनेका अधिकार है; वह—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥

—इस चौपाईद्वारा जड़ कठपुतलीकी उपमा देकर स्थापित किया गया और फिर—

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥

—यह कहकर जीवके अहङ्कारकी आत्यन्तिक निवृत्ति सूचित की गयी है। क्योंकि यह जीव जब मायाके वश हो रहा है और माया ईश्वरके वश है तब 'परबस जीव स्वबस भगवंता' यह स्पष्ट हो जानेसे 'माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव'——जीवका (स्वस्वरूप) अपना स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त चौपाइयोंमें जो मायाके लक्षण कहे गये हैं तथा दोहेके नीचेवाले पदमें जो ईश्वरके लक्षण वर्णित हैं, उन दोनोंसे अलग ही जीवको अपना स्वरूप समझनेके लिये कहा गया है। अतः यह जीव जब ईश्वर और ईश्वरकी आज्ञानुवर्त्तिनी माया दोनोंके ही अधीन ठहरा तब इसका अहङ्कारसे कल्याण होना कैसे सम्भव है? बल्कि अहङ्कारकी ही स्फुरणा होनेसे इसके सहज स्वरूपकी हानि होती

है। इसीलिये जीवमात्रके कल्याणका मार्ग अहङ्कारको सर्वथा त्याग कर सर्वोपायशून्य होकर श्रीभगवान्के शरणापन्न—प्रपन्न होना ही बतलाया गया है, इस प्रपत्तिको ही 'भक्तियोग' कहते हैं। अतएव स्पष्ट वाक्योंमें कहा गया है—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

क्योंकि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों अपने-अपने पूर्व साधनोंके अपेक्षित रहनेसे स्वतन्त्र अवलम्ब नहीं हैं। कहा है—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

अर्थात् जबतक वर्णाश्रम आदिके अनुसार स्वधर्मका पूर्ण पालन नहीं किया जायगा तबतक (धर्म तें बिरति) वैराग्य उत्पन्न ही न होगा; जबतक वैराग्य न होगा तबतक कर्मोंका फल-त्यागादि न होनेके कारण कर्मयोग न हो सकेगा; जबतक निष्काम कर्मयोग न होगा तबतक (जोग तें ग्याना) ज्ञान उत्पन्न न होगा; और जबतक ज्ञान न होगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। परन्तु यह भक्तियोग मेरे भक्तोंके लिये सुखद, सुलभ, स्वतन्त्र अवलम्ब है। इसके द्वारा मैं बेगि (तुरंत) ही द्रवीभूत होकर (अहं भक्तपराधीनः) स्वयं अपने भक्तोंके अधीन हो जाता हूँ (फिर मोक्षकी तो गिनती ही क्या है?)।

इस प्रकार जो जीव ईश्वर तथा माया दोनोंके अधीन होकर—

सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

—दुःखरूप भवकूपमें पड़ा था, वही जीव भक्तियोगके सुलभ सहारेसे सहज ही मायाको कौन कहे, 'सर्वपर' नित्यस्वरूप ईश्वरको भी

अपने प्रेमाधीन कर लेता है; क्योंकि 'राम पुनीत प्रेम अनुगामी' है।

इस भक्तियोगकी प्राप्तिके सुलभ और सुगम पन्थ निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्गवालोंके लिये अलग-अलग दो प्रकारके बतलाये गये हैं।

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥

संतके अनुकूल होनेपर भक्तिकी प्राप्ति होनेकी बात उन बड़भागियोंके लिये कही गयी है, जिनका मन प्रवृत्तिमार्गसे उपरत हो गया है और जिन्होंने गृहस्थाश्रम-धर्मका त्याग कर, विरक्तवेष धारण कर, किसी विरक्त संत सद्गुरुकी शरण लेकर सदाके लिये शिष्यभावसे उनकी सेवामें अपना जीवन समर्पित कर दिया है। ऐसे समाश्रितोंको उनके अधिकारके अनुसार भगवद्भक्तिका पात्र समझकर जब भक्तियोगी संत उनके अनुकूल होते हैं, तब उन्हें भक्तिकी प्राप्ति होती है। इसी कारण इस मार्गकी नवधा साधन-भक्तिका वर्णन प्रसिद्ध श्रवण-कीर्तनादिके क्रमके अनुसार न होकर दूसरे ही क्रमसे है। इस क्रमको स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्रीशबरीजीसे इस प्रकार कहा है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

प्रवृत्ति-मार्गवाले गृहस्थाश्रमियोंके लिये (जिनको विरक्त होकर किसी त्यागी संत सद्गुरुकी अनुकूलताका सुयोग नहीं प्राप्त हो सका है, उनके लिये) इस प्रकार बतलाया गया है—

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

अर्थात् इन भाग्यवानोंको पहले ब्राह्मणोंके चरणोंमें निष्ठा होनेके और गृहस्थाश्रमादि वर्णाश्रमधर्मोंका वेदानुसार पालन करनेसे (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन, इसे नवधा साधनाद्वारा (जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट आया है) भक्तियोगकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार साधनावस्थाकी नवधा भक्ति दोनों मार्गवालोंके लिये दो प्रकारकी होनेपर भी सिद्धा, प्रेमा या पराभक्ति एक ही है। अतएव गृहस्थ और विरक्त दोनोंके लिये अपने-अपने अधिकारानुसार उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियोग सुलभ है।

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

अर्थात् उन भक्तियोगियोंकी प्रीति केवल भगवत् और भागवतोंमें ही अत्यन्त दृढ़ हो जाती है और मनसा, वाचा, कर्मणा अनन्यभावसे मेरा भजन करनेका ही उनका नियम निश्चित हो जाता है। वे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति, देवता आदि सब मुझको ही जानकर दृढ़तासे मेरी सेवामें लगे रहते हैं; मेरा गुणानुवाद गाते हुए पुलकित हो जाते हैं; उनकी वाणी मेरे प्रेममें गद्गद हो जाती है और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होती है। मैं सदा ऐसे निष्काम और निष्कपट भक्तियोगीके वशमें रहता हूँ।

वास्तवमें भक्तियोग ही एक ऐसा सुलभ और स्वतन्त्र अवलम्ब है जिसके प्रभावसे सर्वेश्वर स्वतन्त्र ईश्वरको भी प्रेमाधीन होकर निरन्तर भक्तोंके वश रहना पड़ता है तथा सदैव उनके हृदयमें ही निवास करना पड़ता है। इसीलिये—

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

—इस भक्तियोगको सुनकर जीवमात्रको कल्याण-पथ लखानेवाले (शेषावतार रामानुजाचार्य) श्रीलक्ष्मणजीने परमानन्द प्राप्त किया और प्रभुके चरणोंमें शीश नवाकर शरणागति-मार्ग भक्तियोगको शिरोधार्य किया। अतः जीवमात्रके लिये भगवत्-प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्-प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें ज्ञान है; नहीं तो जहाँ भगवान्‌की भक्तिका प्राधान्य नहीं है, वह योग कुयोग है एवं वह ज्ञान अज्ञान माना गया है। यथा—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

'सियावर रामचन्द्रकी जय!'

कलियुगी जीवोंके कल्याणका साधन

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु विचार ।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार ॥
एहिं कलिकाल न साधन दूजा । जोग जग्य जप तप व्रत पूजा ॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि । संतत सुनिअ राम गुनग्रामहि ॥

—श्रीरामचरितमानस

यह 'दीन' लेखक पाठक महानुभावोंसे सर्वप्रथम उपर्युक्त पदोंमें आये हुए 'यह' तथा 'एहिं' शब्दपर विचार करनेके लिये विनम्र प्रार्थना करता है । श्रीमानस-ग्रन्थके रचयिता गोस्वामी श्रीतुलसीदास-जीने बार-बार 'यह कलिकाल, एहिं कलिकाल' का प्रत्यक्ष अंगुल्या-निर्देश करके निश्चयपूर्वक यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया है कि इस वर्तमान घोर कलिकालमें श्रीभगवान्के नाम और यश (चरित्र) को छोड़कर दूसरे जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसीसे भी सिद्धि नहीं हो सकती । वे सभी साधन अनुभव करके देखे जा चुके हैं । श्रीगोस्वामिपादने अपने अनुभवकी बातको विनय-पत्रिकाके भी निम्न-लिखित पदोंमें व्यक्त कर दिया है । यथा—

'यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलनि फरो सो ॥'
'ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम समाधि रे ॥

राम-नाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे॥'
'जोग, जाग, जप, बिराग, तप, सुतीरथ-अटत।
बाँधिबेको भव-गयंद रेनु की रजु बटत॥
परिहरि सुर-मुनि सुनाम, गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि, तुलसि तोहिं हटत॥'
'साधन बिनु सिद्धि सकल बिकल लोग लपत।
कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत॥'

'बिस्वास एक राम-नामको।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को?
करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दामको।
ग्यान बिराग जाग जप तप, भय लोभ मोह कोह कामको॥'

'राम-नामके जपे जाइ जियकी जरनि।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि॥
करम-कलाप परिताप पाप-साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग-ग्यान,
बचन बिसेष बेष, कहूँ न करनि॥
राम-नामको प्रताप हर कहैं, जपैं आप,
जुग जुग जानैं जग, बेदहूँ बरनि॥'

'नाना पथ निरबानके, नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन-राति॥'
'जपहि नाम रघुनाथको, चरचा दूसरी न चालु॥'
'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो॥

'प्रिय रामनामतें जाहि न रामो ।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि-मध्य-परिनामो ॥'
'राम जपु जीह ! जानि, प्रीति सो प्रतीत मानि,
रामनाम जपे जैहै जियकी जरनि ।
रामनामसों रहनि, रामनामकी कहनि,
कुटिल कलि-मल-सोक-संकट-हरनि ॥'
'संभु-सिखवन रसन हूँ नित रामनामहि घोसु ।
दंभहु कलि नाम कुंभज सोच-सागर-सोसु ॥'

इसी प्रकार विनय-पत्रिकाके और भी बहुत-से पदोंमें तथा गीतावली, दोहावली, कवितावली, बरवैरामायण आदि समस्त तुलसीरचित ग्रन्थोंमें इस घोर कलिकालके लिये केवल रामनाम और यशको ही सर्वोत्तम एवं सफल साधन ठहराकर दूसरे सब साधनोंको निस्सार तथा निष्फल सिद्ध करनेके अनुभवयुक्त प्रमाण दिये हुए हैं, जिन सबको उद्धृत करनेसे लेख बड़ा हो जायगा । इसलिये इस वर्तमान कलियुगमें जन्म पाये हुए सभी मनुष्योंको उपर्युक्त 'एहिं कलिकाल' के ही निर्दिष्ट भावपर विचार करना चाहिये । हमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी सामर्थ्यसे अपनी सामर्थ्यकी तुलना करनी चाहिये । यदि हममें उनसे अधिक वैराग्य, ज्ञान, ध्यानादिकी साधन-सामग्री नहीं हो, तब तो यही उचित है कि वर्तमान युगके उन निकटतम आचार्यने (श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने) अपने अनुभवसे जो निर्णय किया है, उसीपर हम दृढ़ विश्वास कर लें और निर्भयता-पूर्वक उन्हींके बताये मार्गपर चलकर सर्वसुलभ साधन भगवन्नाम-यशके जप-कीर्तनद्वारा बिना प्रयास संसार-सागरके पार हो जायँ । श्रीमानसके ये वचन कितने स्पष्ट हैं—

सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।
गुनउ बहुत कलियुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥
कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

—उत्तरकाण्ड

यहाँ साधारणतः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जगत्‌में जब अनेकों आचार्योंने अनेकों साधन-मार्ग बतलाये हैं, तब हम कलियुगी जीवोंकी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीसे ही क्या घनिष्ठता है? हम क्यों उन्हींसे अपनी तुलना करें और उन्हींके अनुभवोंको अपने लिये उपयोगी मानें? इसके उत्तरमें भी यह 'दीन' लेखक उसी 'एहिं' शब्दपर विचार करनेकी प्रार्थना करता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके साथ हम कलियुगी जीवोंकी घनिष्ठता जोड़नेवाला वही 'एहिं' शब्द है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सत्ययुग, त्रेता अथवा द्वापरमें जन्म ग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका वह कथन नहीं है; कलियुग भी अनेकों व्यतीत हो चुके, उन बीते हुए कलियुगोंमें जन्मग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका भी वह कथन नहीं है। बल्कि वह अनुभवयुक्त कथन उन श्रीतुलसीदासजीका है, जो इसी वर्तमान कलियुगमें, कुछ ही वर्षों पूर्व जन्म ले चुके हैं। जिन्होंने अपना सारा जीवन ही हमारे-जैसे कलि-कुटिल जीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी भेंट चढ़ा दिया था और इसीलिये जिन ब्रह्मभूत आत्माका इस कलियुगमें अवतार हुआ था? यथा—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी भयो।'

—श्रीनाभादासकृत भक्तमाल

'उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥'

—श्रीरामचरितमानस

अस्तु, महर्षि वाल्मीकिजीकी ब्रह्मभूत आत्माने गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रूपमें अवतार लेकर हमारे कल्याणके निमित्त हमसे कुछ ही दिनों पहले इस कलियुगके दुःख-द्वन्द्वोंका साक्षात् अनुभव किया और फिर यह विचार किया कि—

'कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥'

—श्रीरामचरितमानस

इस प्रकार कलियुगी जीवोंके साधन पुरुषार्थका विचार करके डंकेकी चोटसे यह सिद्धान्त उद्घोषित किया गया—

'यहि कलिकाल न साधन दूजा।'

'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार॥'

—श्रीरामचरितमानस

'यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलन फरो सो।'

—विनय-पत्रिका

फिर इस कलिकालमें जो साधन फलीभूत हो सकता है उस सुलभ, सुखद और सच्चे साधनकी दुन्दुभी बजायी गयी। हम यहाँ केवल उन मूल वचनोंको ही उद्धृत कर देना चाहते हैं। यथा—

'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलम्बन एकू॥'
'कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥'
'कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥'
'नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥'

सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि ॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥

कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुख मूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल ॥
कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर ॥

—श्रीरामचरितमानस

न मिटै भवसंकटु, दुर्घट है तप तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलिमें न बिरागु, न ग्यानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूँठ-जटो ॥
नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक-ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुखु चाहिअ तौ, रसनाँ निसिबासर रामु रटो ॥

—कवितावली

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
रामनाम जपु तुलसी प्रीति समेत ॥
कलि नहिं ग्यान बिराग न जोग समाधि।
राम नामु जपु तुलसी नित निरुपाधि ॥
तप तीरथ मख दान नेम उपबास।
सब ते अधिक नाम जपु तुलसीदास ॥

—बरवैरामायण

नाम रामको अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून ॥
राम नाम अवलंब बिनु परमारथकी आस।
बरसत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास ॥

—दोहावली

इससे अधिक सुन्दर और स्पष्ट उपदेश और क्या हो सकते हैं?

सियावर रामचन्द्रकी जय!

श्रीमानसमें भेदभक्ति

श्रीमद्गोस्वामीजीद्वारा रचित श्रीरामचरित मानसके सातों सोपानमें 'भेद भक्ति' शब्द केवल तीन ही प्रसङ्गोंमें मिलता है। इन तीन स्थलोंके अतिरिक्त यह शब्द ग्रन्थभरमें और कहीं नहीं आया है। जिन तीनों प्रसङ्गोंमें भेदभक्तिका प्रयोग हुआ है वहाँका रहस्य बहुत गम्भीर, परम मनोहर एवं भक्तजनोंके लिये महान् लाभदायक है। उससे उपासनासम्बन्धी अनेकों शंकाओंका सर्वथा समाधान होकर अज्ञ जीवोंके भ्रमात्मक सन्देहोंका समूह निवारण हो जाता है। अतएव ऐसे मार्मिक प्रसङ्गोंका स्पष्टीकरण परम आवश्यक जानकर श्रीमानसप्रेमियोंकी सेवामें पुष्पाञ्जलिरूपसे समर्पण किया जा रहा है। यद्यपि भक्ति-सम्बन्धी प्रसङ्गोंपर विचार समर्पण करनेका साहस इस दीनके लिये ठीक 'साक बनिक मनि गुन गन जैसे' का ही रूपक है, परन्तु 'सब तें सेवक धरमु कठोरा' के भी मार्मिकोंके निश्चयानुसार 'अग्या सम न सुसाहिब सेवा' को परम धर्म जानकर उसीके आधारपर यह ढिठाई हो रही है। अतः अपनी विवशताको निवेदन करते हुए दीनभावसे प्रार्थना करता हूँ कि—

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई॥

भेदभक्ति शब्द तीन जगह कहाँ-कहाँ आया है?

१—अरण्यकाण्डान्तर्गत श्रीशरभंगजीके प्रसंगमें—

'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति वर लयऊ॥'

२—लङ्काकाण्डान्तर्गत श्रीदशरथजी महाराजके प्रसंगमें—

'ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥'

३—उत्तरकाण्डान्तर्गत श्रीकाकभुशुण्डिजीके प्रसंगमें—

श्रीभुशुण्डिजीने श्रीगरुड़जीसे कहा है—

'ताते नास न होइ दासकर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगवर ॥'

उपर्युक्त तीनों चौपाइयोंमें 'ताते' शब्दका प्रयोग ही पूर्वप्रसङ्गकी अपेक्षा निश्चित कर रहा है। अतः पूर्वापरसमन्वयसंयुक्त प्रत्येक प्रसंग स्पष्ट हो जानेसे ही भेदभक्तिका स्वरूप लक्षित होगा। इसलिये क्रमानुसार पहले श्रीशरभंगजीका प्रसंग स्पष्ट किया जा रहा है।

भगवान् श्रीरघुनाथजी महाराज वनके मार्गमें विराध असुरका वधकर उसे निज धाम भेजकर श्रीशरभंगजीके यहाँ पधारे हैं—

पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा॥
देखि राम मुख पंकज मुनिबर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग॥
कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर मानस राजमराला॥
जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन ऐहहिं रामा॥
चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥
सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेउ जन मन चोरा॥
तब लगि रहहु दीन हितलागी। जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी॥
जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥
एहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदयँ छाड़ि सब संगा॥
सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम॥
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा।
ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

रिषि निकाय मुनिवर गति देखी । सुखी भए निज हृदयँ बिसेषी ॥
अस्तुति करहिं सकल मुनि बृंदा । जयति प्रनत हित करुना कंदा ॥
पुनि रघुनाथ चले बन आगे । मुनिवर बृंद बिपुल सँग लागे ॥

महर्षि शरभंगजीके अगाध प्रेमका प्रमाण उपर्युक्त दोनों दोहोंसे ही स्पष्ट है, जो उनकी भक्तिमणि (रत्न) के उपक्रम और उपसंहारमें साक्षात् प्रेमसम्पुटरूप रचे गये हैं। प्रथम दोहेमें श्रीसरकारके देखते ही उस अनुपम विग्रह-कमलमें उनके लोचन भृंग होकर जा लिपटते हैं, जिस अलौकिक छविमकरन्दके सादर पानसे शिव, श्रीभुशुण्डि और श्रीयाज्ञवल्क्य तथा ग्रन्थकार श्रीगोस्वामी-जी इत्यादि चारों वक्ता एकमुख होकर 'धन्य जन्म सरभंग' की घोषणा कर रहे हैं। दूसरे दोहेमें उन्हीं 'नील जलद तनुस्याम सगुनरूप' श्रीरामजीको निरन्तर 'हिय' में ही बसा लिया गया है। इस प्रकार 'जग जनम भये का लाभ' लेकर कृतार्थ होते हुए मुनि योगाग्निसे तनको जलाकर श्रीराम-कृपासे साक्षात् नित्यविभूति (परम दिव्य भगवद्धाम वैकुण्ठ) में नित्य-कैंकर्यपदको प्राप्त होते हैं।

अब इस विलक्षण सम्पुटके अंदरका अनुपम रत्न (भक्तिमणि) मानसी जौहरियोंके मानसचक्षु (हृदयनेत्रों) के समीप विशुद्ध बुद्धिरूपी कसौटीपर कसकर परखनेके लिये सर्वप्रथम महर्षि शरभंग-जीके इसी वाक्यपर विचार किया जा रहा है कि—

जात रहेउँ बिरंचि के धामा । सुनेउँ श्रवन बन ऐहहिं रामा ॥

आपका कहना है कि मैं ब्रह्माजीके धाम (ब्रह्मलोक) को जा रहा था, कानोंसे सुना कि श्रीरामजी वनमें ही आवेंगे। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि महर्षि ब्रह्माके लोकको क्यों जाते थे तथा यहाँ

किसलिये उसको बता रहे हैं ? इसका उत्तर आपकी आगे प्रार्थना की हुई अभिलाषासे स्पष्ट हो रहा है कि—

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी॥

इस दीनके हितार्थ तबतक सरकार यहाँ ठहरे रहें जबतक कि मैं तन त्यागकर प्रभुमें लीन न हो जाऊँ। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्माके लोकमें इसी अभिप्रायसे अर्थात् श्रीभगवान्‌में लीन होनेके लिये ही आप जा रहे थे। सरकारसे बताते इसलिये हैं कि ब्रह्मधाममें होकर जिस भगवान्‌में लीन होनेके लिये मैं जा रहा हूँ वही भगवान् (भूमिका भार उतारनेके लिये अवतार लेकर) स्वयं इस वनमें ही पधार रहे हैं। ऐसा सुना तब विचार किया कि अब मुझको लोकलोकोत्तर पार करते हुए ब्रह्मलोक पहुँचकर ब्रह्माकी आयुपर्यन्त प्रतीक्षा करके तब ब्रह्ममें लीन होनेका प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है ? यहीं उन्हीं साक्षात् (श्रीरामजी) में क्यों न लीन हो जाऊँ, वे ही तो ये हैं और मुझे घर बैठे प्राप्त होनेवाले हैं। ऐसा निश्चयकर—

'चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥'

तभीसे दिन-रात बाट जोह रहा था। अब आज प्रभुका दर्शन पाकर हृदय शीतल हो गया। हे नाथ ! मैं सब साधनहीन दीन हूँ। हे जनोंके मनको चुरानेवाले ! आपने अपने प्रणतपाल विरदको पालन करनेके लिये ही इस जन (दास) पर कृपा की है। अब थोड़ी देर आप ठहर जायँ, जिससे कि मैं आपमें लीन होकर सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त हो जाऊँ। श्रीशरभंगजी ब्रह्मविद् योगिराज थे, और योगकी सिद्ध-दशाको प्राप्त होकर सायुज्य-मुक्ति (ब्रह्ममें लीन

होने) की तैयारीमें थे। इसीसे विरिञ्चिलोक (ब्रह्मधाम) जा रहे थे।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(गीता ८ । २४)

ब्रह्मवेत्ता योगियोंका यह अनावृत्तिमार्ग अग्निलोक, सूर्यलोकादि लोकोंको पार करके ब्रह्माके लोकमें प्राप्त हो, ब्रह्माके साथ मुक्त होकर 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' का ही होता है। अर्थात् 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' श्रीत्रिपादविभूतिमें, जो विरजापार नित्यलोक श्रीवैकुण्ठधाम है, वहीं मुक्त जीव चारों प्रकारकी मुक्तियोंको प्राप्त हुआ करते हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य—ये चार प्रकारकी मुक्तियाँ हैं। इन चारोंसे पुनरावृत्ति नहीं होती। सालोक्य-मुक्तिसे तात्पर्य उसी दिव्यधामको प्राप्त होनेसे है, जहाँका वर्णन—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५ । ६)

—इस प्रकार गीतामें किया गया है।

सामीप्य-मुक्तिसे तात्पर्य उस परम प्रभुके नित्यसमीपताका ही है। सारूप्य-मुक्तिसे तात्पर्य उस परमधाममें भगवत्सदृश रूपकी प्राप्ति है। और सायुज्य-मुक्तिसे अभिप्राय उस परम प्रभुमें संयोगसे है किसी भाँति मिल जाना (लीन हो जाना वा अलङ्कारादि होकर आभूषणवत् सदा दिव्य अङ्गपर रहना)। श्रीशरभंगजी इसी सायुज्य-मुक्तिके अधिकारी थे और इसीकी प्राप्तिके लिये भगवान्

श्रीरामचन्द्रजीको ठहराकर लीन हो जानेपर तत्पर थे। परन्तु जब उस सगुण स्वरूपकी रूपमाधुरीकी अनुपम छटाने अपना प्रभाव डालकर योगिराज, ब्रह्मज्ञानी श्रीशरभङ्गजीके हृदयमें ऐसी स्फुरणा उत्पन्न कर दी जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेवने कहा है कि—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(३ । २९ । १३)

भगवज्जनोंका सर्वस्व तो नित्यकैङ्कर्य ही है, जिसके लिये आलवन्दारस्तोत्रमें स्वामी यामुनाचार्यजीके भी वचन हैं—

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरं
प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः ।
कदाहमैकान्तिकनित्यकिङ्करः
प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितम् ॥

तथा जिसके सम्बन्धमें श्रीभुशुण्डिजी साक्षात् दर्शनके समय समस्त वरदानोंके मिलनेपर भी यों विचार करते हैं कि—

प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥
भजन हीन सुख कवने काजा । अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥
अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव ।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुख धाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥

इसी सर्वोच्च परम लाभके विचारसे चतुरशिरोमणि श्रीशरभङ्गजी-ने सायुज्य-मुक्ति (लीन होने) के बदले 'भेदभगति' के वरको प्राप्त किया। यथा—

जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥

× × × ×

ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

इसका कारण यह है कि—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

तात्पर्य यह कि इस जीवको जब नित्यलोक श्रीपादविभूतिमें नित्यकैङ्कर्य प्राप्त होता है तो सायुज्य आदि चारों मुक्तियोंका सुख तो अपने-आप उसके पासँगमें ही मिलता रहता है। उस दिव्यधाममें रहकर ही भक्ति (सेवा) प्राप्त है अतः सालोक्यमुक्तिका सुख हुआ। सेवा समीप रहकर होती है अतः सामीप्यमुक्तिका सुख हुआ, भगवत्पार्षद सब चतुर्भुज भगवान्के ही स्वरूपानुरूप रहकर सेवा करते हैं अतः सारूप्यमुक्तिका सुख हुआ और बिना स्पर्शके सेवा कैसे हो ? अतः सायुज्यमुक्तिका सुख मिला। इस प्रकार नित्यभक्तिवालेको चारों मोक्षोंका सुख भी प्राप्त है एवं नित्यधामसे पुनरावृत्तिका तो भय है ही नहीं। श्रीभगवान्की सेवा जो चारों प्रकारसे मुक्त जीवोंको भी दुर्लभ है, भेदभगतिवालोंको अधिक मिल रही है ऐसा विचारकर जो 'परम सयाने' जन हैं वे मुक्तियोंको न चाह (निरादर) कर भक्तिके लिये ही लुभाते हैं। यही शरभङ्गजीने किया। नहीं तो, यह स्पष्ट बात है कि कोई भी विचारशील पुरुष बोध रहते हुए किसी बड़ी चीजके बदलेमें छोटी चीजको स्वीकारतक न करेगा। तब फिर स्वयं बदलकर कोई अच्छी गतिसे

बुरी गतिको क्यों लेगा ? इसलिये लीन होने (सायुज्यमुक्ति) से भेदभक्तिका दर्जा कम मान लेना अपनी भूल है।

यदि कोई यह शङ्का करे कि 'भेद' शब्द लगा है इसलिये 'भेद भगति' कोई भेदबुद्धिकी चीज होगी तो इसके समाधानके लिये स्वयं मानसग्रन्थका ही मूलपद प्रमाण है, जिससे सिद्ध होता है कि भेदभक्ति सगुण उपासनाको ही कहते हैं, जो आगे श्रीदशरथजीके प्रसङ्गमें आवेगा । जब सगुण उपासक मोक्ष स्वीकार नहीं करते, तब उन्हें भगवान् 'निज भक्ति' प्रदान करते हैं। श्रीशरभङ्गजी प्रथम किसी अवतारस्वरूप (सगुण विग्रह) के उपासक न होकर निराकार ब्रह्मकी निर्गुण उपासना (अभेदभक्ति) में रत थे। अतः योग, यज्ञ, जप, तप आदि करके सायुज्यमुक्तिके पूर्ण अधिकारी होकर लीन होनेके लिये ब्रह्मके परमधामको जा रहे थे, परन्तु जब श्रीरामजीके स्वयं पधारनेकी बात मालूम हुई, तब उन्होंने श्रीरामावतारमें ही उपास्य (ब्रह्म) निष्ठा करके उन्हींके सगुण विग्रहमें लीन हो जाना निश्चय किया। इससे सगुणरूप श्रीरामजीके सगुण उपासकका दर्जा आ गया और उस सगुण प्रेमके कारण ही (सगुण उपासना) का ही सिद्ध वर लेकर उन्होंने मुक्तिका त्याग कर दिया और यही अभीष्ट स्पष्ट प्रकट भी है कि—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम॥
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा॥

अब 'वैकुण्ठ' शब्दके भ्रमको भी निवृत्त करना आवश्यक है। विचार करना चाहिये कि सायुज्य (लीन होनेवाली) मुक्तिको न

लेकर कौन ऐसा मूर्ख है, जो जन्म-मरणवाले लोकको जाना स्वीकार करेगा। तात्पर्य यह है कि जिसको स्वतः ब्रह्ममें लीन होनेसे नित्य-लोककी सायुज्यमुक्ति मिल रही है, वह अपनी इच्छासे उसके बदलेमें आवागमनवाले किसी लोकमें जाना माँगकर अपनी सारी बनी-बनायी बातको बिगाड़कर जन्म-मरणके दुःखका भागी बनेगा यह कैसे सम्भव है? फिर जो भगवद्भक्त भगवान्‌की सेवाके लिये ही मुक्तिका भी निरादर करता हो—'बैठे हृदयँ छाड़ि सब संगा।'

सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया
तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः।
महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय
क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदुस्सहः॥
(आलवन्दारस्तोत्र)

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

ऐसे अनन्यनिष्ठ भक्तको यदि भगवान् पुनरावृत्तिवाले वैकुण्ठ-लोकमें भेज देंगे, जहाँसे उसको पुनः संसारदुःख भोगनेके लिये आना पड़े तो यह कितने परितापकी बात हो जायगी। तब तो भगवत्स्नेहकी महिमा, भगवान्‌की भक्तवत्सलता एवं निष्काम भजनकी महत्ता आदि सभी विधानोंका सत्यानाश होकर समस्त शास्त्र ही व्यर्थ हो जायँगे। जिस 'रामकृपा' का उक्त पदमें प्रयोग हुआ है कि 'राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा' उस रामकृपाको फिर श्रीरामजीकी अकृपा (कोप) के अर्थमें बदलना पड़ेगा। अतएव यहाँ वैकुण्ठका अर्थ नित्यधाम श्रीत्रिपादविभूति न करके लीलाविभूति ब्रह्माण्डान्तर्गत वैकुण्ठ

लोकविशेष कर लेना भी अपनी ही भूलका सूचक होकर 'निज अग्यान राम पर धरहीं' का ही अपचार होगा। अतः श्रीशरभङ्गजी भेदभक्तिके प्रतापसे साक्षात् त्रिपादविभूति नित्यवैकुण्ठधाममें नित्यकैङ्कर्यके भागी बन चारों मुक्तियोंसे भी ऊँचे दर्जेपर गये हैं। भगवान्‌की सगुण उपासना (भेदभक्ति) की ऐसी महिमा प्रकट करनेके लिये ही शरभङ्गजीका प्रसंग ग्रन्थमें इस प्रकार वर्णित हुआ है।

२—अब श्रीदशरथजीका प्रसंग लीजिये—

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए। तनय बिलोकि नयन जल छाए॥
अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा॥
तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यों अजय निसाचर राऊ॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥
रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥
ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गए सुरधामा॥

लङ्का-विजय हो जानेपर जब ब्रह्मादि देवता श्रीरघुनाथजीकी स्तुति करनेके लिये वहाँ आये, उसी अवसरपर श्रीदशरथजी महाराजका सुरधामसे आना वर्णित है। स्वायम्भुवमनु-स्वरूपमें पहले ही आपने वर ले लिया था कि—

सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥

अतएव आपके हृदयमें वही पुत्रभावकी भावना सुरधाम जानेपर (शरीरान्त होनेपर) भी उक्त वरके प्रसादसे बनी रही। अतः 'तनय बिलोकि नयन जल छाए' और उसी भावकी पुष्टि श्रीप्रभुजीकी ओरसे

भी की गयी। जैसे 'सहित अनुज प्रनाम प्रभु कीन्हा।' पिताका आशीर्वाद लेकर 'तात' सम्बोधनमें पिताके ही पुण्यप्रभावसे विजय होना कहा गया है; परन्तु जब 'सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी' नेत्र सजल हो गये, रोमाञ्च हो आया, तब श्रीरघुनाथजीने प्रथम प्रेमका अनुमान करके कि जैसे पहले वियोग न सह सकनेके कारण नरदेहका त्याग हो गया था इसी प्रकार पुनः यहाँसे विदा होनेमें वियोग फिर असह्य होकर इस सुरदेहका भी त्याग न हो जाय इसलिये 'चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना' पिताकी दशाको देखकर सरकारने दृढ़ ज्ञान दिया कि जिसमें देवशरीर छूटनेसे बच जाय। उस दृढ़ ज्ञानकी प्राप्तिसे यह लाभ हुआ कि पूर्ववत् अगाध प्रेम रहते हुए भी इस बार प्रेममें शरीर नहीं छूटा। अब यह प्रश्न खड़ा हो गया कि ज्ञानका फल तो मोक्ष है, केवल देव-शरीरके बचनेमें ज्ञानकी कौन-सी बड़ाई रही? इसके समाधानमें यह कहा जाता है कि श्रीदशरथजी महाराजका मन भेदभगतिमें लगा था अर्थात् वे सगुण-उपासक थे। सगुण-उपासक मोक्ष नहीं लेते (चाहते ही नहीं) तब उन्हें श्रीरामजी निज भगति देते हैं। इसी कारण श्रीदशरथजी मोक्षको प्राप्त नहीं हुए। उनको नित्यसेवामें स्वीकार किया गया और वे नित्यलोक अर्थात् त्रिपादविभूति नित्यधामको श्रीसरकारके साथ ही (जब लीलाधामसे स्वयं श्रीरघुनाथजी वैकुण्ठको पधारे तब) ले जाये गये। अतः उस दृढ़ ज्ञानने सेवक-सेव्य-भावको बोध करा देनेका काम किया, जिससे पिता-पुत्र-भाव एकदम बदल गया। जैसे—

बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गए सुरधामा॥

आनेके समय पुत्रभाव था, इसीलिये श्रीरामजीके प्रणाम करनेपर

पितारूपसे उन्हें आशीर्वाद दिया। उन्हें तनय (पुत्र) भावसे देखा। सुतभावसे वचन सुनकर प्रीति बढ़ी, परन्तु जब दृढ़ ज्ञान प्राप्त हो गया, तब श्रीदशरथजीने सरकारमें प्रभुभाव निश्चय करके बारम्बार दासभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम किया और प्रभु जबतक इस भू-लोकमें लीलाहेतु रहे तबतक (सदा सन्निधिका वियोग न सहन होनेके कारण ही) पुनः सुरधाममें ही लौटकर ठहरे। क्योंकि देवलोकसे भूमण्डलकी लीला देख सकनेका अवसर था। यदि ब्रह्माण्ड पार करके त्रिपाद-वैकुण्ठमें उसी समयसे चले जाते तो राजगद्दी आदिकी आनन्दलीला देखनेसे वञ्चित रह जाते, जो आपका पूर्वसे ही अभीष्ट भी था।

प्रभु भी अपने अनन्य भक्तोंकी सभी रुचि पूरी किये बिना नहीं रहते, यह भी विरद इसी बातसे बन गया। पश्चात् जब प्रजा-सहित रघुवंशमणिने निजधाम (पर-वैकुण्ठ) को प्रस्थान किया, तो सुरलोकसे श्रीदशरथजी भी सेवामें साथ ही चले गये और सदा नित्य-लोकमें नित्य-सेवा (निजभक्ति) की प्राप्तिमें, जो मुक्तिसे भी उच्च दर्जेकी है (जो सगुण उपासकोंको ही मुक्ति न लेनेपर प्रदान होती है), स्वीकार किये गये। 'तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं' का यही अर्थ ही है; क्योंकि—

'भज सेवायामित्याहुः' या

भज इत्येष धातुर्वै सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी॥

अतः जब 'भज' धातुसे बना हुआ भक्तिका सेवा अर्थ हुआ तो 'भक्ति निज दीन्ह' अर्थात् नित्यस्वरूप भगवान्‌ने (अपनी कृपासे)

नित्यरूपमें अपनी सेवा प्रदान की। जिनको इस रहस्यका बोध नहीं है वे बहुधा प्रश्न किया करते हैं कि—

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम॥

अन्तमें मुखसे राम-नाम उच्चारण करते हुए श्रीरामजीके प्रेममें मग्न होकर शरीर छोड़नेपर भी दशरथजी सुरधाम ही क्यों गये? मुक्त क्यों न हुए? उन्हें यह विचार करना चाहिये कि जब मरते समय अधमके मुखसे 'राम-राम' निकल जानेमात्रसे मुक्ति मिल जाती है, यह वेदप्रमाण है—

जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥

—तब श्रीदशरथजी महाराज जो पूर्व-जन्मके स्वायम्भुव मनु थे, जिन्होंने पूर्वजन्ममें ही नैमिषारण्यमें अपनी भक्तिमयी अनन्य भावनासे घोर तपके द्वारा साक्षात् परम प्रभुको प्राप्त करके सुतविषयक पदरति (भक्ति) का वर प्राप्त कर लिया था। जिसकी पूर्तिके लिये साक्षात् परब्रह्म स्वयं आकर उनके पुत्र बने। जिनके लिये कहा गया है—

अवधपुरीं रघुकुल मनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ॥
धरम धुरंधर गुननिधि ग्यानी। हृदयँ भगति मति सारँग पानी॥

ऐसे मुक्तात्मा अन्त समयमें भगवत्प्रेममें 'श्रीराम, राम' कहते हुए शरीर छोड़ें और मुक्त न होकर आवागमनरूपी बन्धनमें डाले जावें ऐसा कभी हो नहीं सकता। जो परम प्रभु मुखसे—अपना नाम निकलनेके नाते अजामिल-जैसे अधमोंको मुक्त कर देते हैं, वही परम परमात्मा श्रीदशरथजीको पदरति (भक्ति) का वर देकर, पिता बनाकर अपने ही प्रेममें राम-राम कहकर प्राण त्यागते

हुए शरीर छोड़नेपर संसारी दुःखके भोगनेको बन्धनमें डालेंगे, यह कैसे सम्भव है ? अतएव श्रीदशरथजी महाराजने सगुणभक्तिके ही कारण स्वयं मोक्षको स्वीकार नहीं किया बल्कि मुक्तिलोकगत श्रीपरम-प्रभुकी नित्यसेवा (निजभक्ति) को सम्पादन करके नित्यकैङ्कर्यमें जा पहुँचे, जहाँ चारों मुक्तियोंका सुख अपने-आप प्राप्त है और इसी निष्ठासे श्रीसरकारके निजधाम पधारनेतक स्वर्गमें ही रुककर लीला-सुखका आनन्द लेते रहे ।

कोई-कोई यह भी प्रश्न किया करते हैं कि दशरथजीके स्वर्गसे नित्यलोक वैकुण्ठमें जानेका क्या प्रमाण है ? ग्रन्थमें तो सुरधाम ही जाना लिखा है 'तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम ।' जिन महानुभावोंका यह प्रश्न है, उन्हें 'राउ गयउ सुरधाम' के नीचेकी पंक्तियोंकी अर्थात् दोहेके साथ ही रची हुई दोनों चौपाइयोंको पढ़कर कुछ विचार करना उचित है कि केवल स्वर्गप्राप्त प्राणीके लिये ऐसा क्यों कहा जा रहा है कि—

जिअन मरन फलु दसरथ पावा । अंड अनेक अमल जसु छावा ॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा । राम बिरह करि मरनु सँवारा ॥

अर्थात् जीने और मरनेका जो वास्तविक लाभ है वह दशरथजीने ही प्राप्त किया । जीते समय साक्षात् परब्रह्म श्रीरघुनाथजीका मुख-चन्द्र निरखते रहे और उन्हीं श्रीरामके विरहको मरणका हेतु बनाकर मरनेका भी वास्तविक फल प्राप्तकर मरणको भी सँवार लिया । मरणका सँवारना तभी सिद्ध होता है, जब जीव आवागमन (जन्म-मरण) के दुःखसे रहित हो जाता है । स्वर्गलोक पुनर्जन्मका मिटानेवाला नहीं है । 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।' इसी प्रकार न मनुष्य

जीवनका फल ही स्वर्ग माना गया है । जिस ग्रन्थमें श्रीदशरथजीको 'जीवनफल' पाना कहा जा रहा है, उसी ग्रन्थमें उत्तरकाण्डमें 'श्रीराम-गीता'में कहा गया है कि—

एहि तन कर 'फल' बिषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥

जब इस मनुष्य-तनका फल स्वर्ग भी नहीं है तब स्वर्गकी प्राप्ति होनेपर ही श्रीदशरथजीके लिये उपर्युक्त चौपाइयोंका कहा जाना अनर्थ सिद्ध हो जायगा । तथा ग्रन्थभरका अनुबन्धचतुष्टय, जो नीचे लिखे वाक्योंमें अभ्यसित है, व्यर्थ हो जायगा—

जौं मैं राम त कुलसहित कहिहि दसानन आइ ।

यह श्रीमुखका 'आइ' शब्द नित्यलोकका ही सूचक है ।

विवेकशीला कौशल्याजीका वचन है —

जिऐ मरै भल भूपति जाना । मोर हृदय सत कुलिस समाना ॥

महर्षि भरद्वाजका कथन है—

दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं । अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं ॥

श्रीवशिष्ठजीका विचार है—

राम बिरहँ तजि तन छनभंगू । भूप सोच कर कवन प्रसंगू ॥

श्रीभरतजीका वाक्य है—

भूपति मरन पेम पनु राखी । जननी कुमति जगतु सबु साखी ॥

श्रीमुखवचन है—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ पेम पन लागी ॥

श्रीजनकजीका वचन है—

रामहि रायँ कहेउ बन जाना । कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना ॥

श्रीग्रन्थकारकी ही वन्दना है—

वंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

सत्यप्रेम एक दशरथजीके लिये कहा, पुनः ग्रन्थभरमें किसीके लिये नहीं कहा गया है।

इसलिये इस प्रसङ्गमें भी भेदभगति श्रीत्रिपाद-विभूति नित्य-वैकुण्ठमें नित्यकैङ्कर्यके ही अर्थमें है, जो मुनियोंसे भी ऊँचे दर्जेकी स्थिति है।

३—अब श्रीकाकभुशुण्डिजीके प्रसङ्गपर भी विचार किया जाता है।

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह॥
एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥
नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना॥
ग्यान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥
हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥

श्रीकाकभुशुण्डिजी नीलशैल (उत्तर दिशा) से अयोध्यामें श्रीरामावतारकी बाललीलाके समय आकर काकरूपसे ही प्रभुका जूठन-प्रसाद आँगनमें लेते हुए कृतार्थ हो रहे थे, उसी समय साधारण बालकोंकी भाँति श्रीसरकारकी माधुर्य-लीला देखकर उन्हें जो मोह हुआ और जिस प्रकार श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणासे विद्या-मायाका सञ्चार होकर उनकी सगुणा उपासना (भेदभक्ति) प्रौढ़ हुई, उसी प्रसंगमें यह भेदभक्ति शब्द तीसरी बार आया है। यह तो ग्रन्थमें ही प्रमाण है कि श्रीकाकजीकी अविद्या-माया प्रथमसे ही निवृत्त थी। 'व्यापइ तहँ न अविद्या जोजन एक प्रजंत'। जीवके लिये अविद्या-माया ही दुःखद है, 'जा बस जीव परा भवकूपा', जिसका स्वरूप 'मैं अरु मोर तोर तैं (माया)' है; विद्या-माया दुःखद नहीं है। इसका स्वरूप 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई' के साथ ही—

एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

—बतलाया गया है। यही कारण था कि भुशुण्डिजीको यह दुःखद नहीं प्रतीत हुई। 'सो माया न दुखद मोहि काहीं' दूसरे जीवोंकी भाँति संसार बढ़ानेवाली न होकर वह विद्या-माया प्रभुकी प्रेरणासे भेदभक्तिको बढ़ानेवाली थी। 'आन जीव इव संसृत नाहीं' तथा यह भी सिद्धान्त आगे निश्चित किया गया है कि—

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या॥

अर्थात् भगवत्-सेवकोंको अविद्या माया (मैं,मोर,तैं,तोर) व्यापती ही नहीं, उन्हें जब कभी उनके प्रेमकी बाधाका कोई संयोग भक्त-रक्षक भगवान् देखते हैं, तो उनके हितार्थ अपनी विद्या-मायाको प्रेरित करके सब प्रकारकी कोर-कसर दूर कर शुद्ध प्रेमस्वरूपा श्रीभेदभक्ति (निज-सेवा) को दृढ़ कर देते हैं। अतएव 'तातें नास

न होइ दास कर' इसीसे भक्तोंका कदापि पतन नहीं होता। 'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥' (गीता ९। ३१) उनकी सगुण-उपासना (भेदभक्ति) की सदा वृद्धि होती जाती है। इस प्रसंगमें भी भेदभक्तिकी महिमा—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

—आदिद्वारा ज्ञानकी अपेक्षा स्पष्टरूपसे ऊँची बतलायी गयी है। दूसरे दोहेमें भी 'राकापति षोडस' से षोडशों प्रकारकी उपासना, तारागणसमुदायसे नाना प्रकारके कर्म एवं 'सकल गिरिन्ह दव लाइअ' से ज्ञानाग्निको उपमेय बनाकर कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंसे मायारूपी रात्रिकी निवृत्ति न होकर श्रीसरकारकी भेदभक्ति (हरि-भजन) को ही रविका दर्जा देकर जीवके क्लेशकी आत्यन्तिकी निवृत्ति बतलायी गयी है। क्योंकि यद्यपि मायाकृत नानात्व भेद 'मुधा' (मृषा) है, परन्तु 'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया' सिद्धान्त कर रहे हैं। इस वाक्यमें भी उसी भगवद्भक्तिकी ही उत्कृष्टताका लक्ष्य है। 'ग्यान अखंड एक सीताबर' इत्यादि प्रसंगसे यह सूचित कर रहे हैं कि सगुण-उपासकोंकी अपूर्णता भी भेदभक्तिके ही नाते श्रीसरकार-से विद्या-मायाके द्वारा पूर्ण की जाती है। उन्हें कदापि पतनका भय नहीं। इस प्रकार श्रीभेद-भक्तिमें 'साधन सिद्धि राम पद नेहू' का ही स्वरूप लक्षित है। अर्थात् श्रीअवताररूप सगुण विग्रहकी उपासना साधन भेदभक्ति है एवं श्रीअवतारीरूप नित्य सगुण विग्रह-की नित्यसेवा (उपासना) सिद्धरूपा भेदभक्ति है जो चारों मुक्तियोंसे भी उच्च श्रेणीकी स्थिति है !



श्रीहरि-भक्ति सुगम और सुखदायी है

भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

भाव यह कि भगवद्भक्ति मुँहमें कौर ग्रहण करनेके समान ही सुगम है—'भोजन करिअ तृपिति हित लागी।' वैसे ही वह सुखदायी भी है—'जिमि सो असन पचवै जठरागी॥' जिस प्रकार भोजन करते समय प्रत्येक कौरके साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होती

है उसी प्रकार भक्तिसे भी तीनों बातें एक ही साथ प्राप्त होती हैं; श्रीमद्भागवतमें यही कहा गया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
(११।२।४२)

श्रीजनकजी महाराजके प्रश्न करनेपर नौ योगीश्वरोंमें प्रथम योगीश्वर श्रीकविजी महाराज, यह बतलाते हुए कि जो गति बड़े-बड़े योगियोंको अनेक जन्मोंतक साधन करनेपर भी दुर्लभ है, वह एक ही जन्ममें भगवन्नाम-कीर्तनमात्रसे तत्काल कैसे प्राप्त हो जाती है, कहते हैं—'जैसे भोजन करनेवाले मनुष्यके प्रत्येक ग्रासके साथ सुख, उदर-पोषण और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों काम एक ही साथ सम्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही भजन करनेवाले पुरुषमें भगवत्प्रेम, परम प्रेमास्पद भगवान्‌के स्वरूपकी स्फूर्ति और सांसारिक सम्बन्धोंसे वैराग्य—ये तीनों एक साथ ही प्रकट होते चलते हैं।'

'सुगम सुखदाई' कहनेका यह भी तात्पर्य है कि पूर्व-प्रसङ्गानुसार वर्णित ज्ञान आदि साधनोंमें हृदयसे समस्त सांसारिक वस्तुओंके प्रति पूर्ण एवं दृढ़ वैराग्यकी तो आवश्यकता है ही, साथ ही उनको बड़ी सावधानीके साथ स्वरूपसे त्यागनेमें ही कुशल है। यह बड़ा कठिन मार्ग है। परन्तु भगवद्भक्ति ऐसी सुगम है कि वह केवल त्याग और वैराग्यमें ही नहीं, संग्रह और रागकी स्थितिमें भी बढ़ती जाती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि प्राप्त तो हों संसारके

भोग्यपदार्थ और बढ़े भगवान्‌का विशुद्ध प्रेम ! उदाहरणार्थ ज्ञानी और विरक्त साधकके लिये धन आदिका छूना और चाहना निषिद्ध है, वह किसी सांसारिक पदार्थको ग्रहण करते ही अपने साधनसे च्युत हो जाता है, परन्तु जो भगवत्प्रेमी भक्त एकमात्र 'राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा' की स्थितिमें है वह अपने योगक्षेमके लिये साधारण-सी सांसारिक सामग्री पाते ही इस भावमें डूबने-उतराने लगता है कि हे प्रभो ! हे विश्वम्भर ! हे भक्तोंके योगक्षेम वहन करनेवाले ! आपकी इस अहैतुकी दयाको धन्य है, धन्य है ! आप ऐसे दयासिन्धु और करुणानिधि हैं कि मेरे-जैसे खोटे भक्तपर भी ऐसी असीम कृपा करते हैं। ऐसे भावमें मग्न होनेके कारण वह भक्त 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' नामकी तीसरी शरणागतिकी सच्ची दृढ़ता प्राप्त करता है और श्रीप्रभुके चरणोंमें उसके प्रेमकी वृद्धि होती है। इधर तो उसके शरीरके लिये योगक्षेमकी सामग्री मिल गयी और उधर भगवान्‌के प्रति प्रेम और विश्वासकी वृद्धि एवं दृढ़ता भी प्राप्त हो गयी। फिर सांसारिक सम्बन्धोंसे उपरामता तो हुई ही—'जिमि सो असन पचवैं जठरागी ॥' सचमुच श्रीहरिभक्ति ऐसी ही 'सुगम सुखदाई' है।

अवश्य ही दूसरे साधनोंमें 'रमा बिलासु' विघ्न हैं। परन्तु प्रेमी भक्त जब अपने निर्वाहमात्रके लिये उसे भगवत्प्रसादके रूपमें स्वीकार करता है तब वहाँ वह अमृतका फल देता है। क्योंकि यदि भक्त उस सामग्रीको भगवत्प्रदत्त नहीं निश्चय करेगा, स्वतन्त्र मानेगा तब तो वह उसे पचेगी ही नहीं; उसका वमन हो जायगा—'रमा बिलासु रामु अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी ॥'

जिस समय श्रीअवधका राज्य भक्तराज श्रीभरतजीके गले बाँधा जा रहा था, उस समय उन्होंने अपने श्रीमुखसे स्पष्टतः यह निर्णय दे दिया था कि 'मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥' उनके कहनेका भाव यह कि श्रीके पति तो एकमात्र मेरे प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही हैं, जो मेरे पिता-तुल्य हैं। इस राज्यश्रीके भोगका अधिकार उन्हींको है। मैं तो उनका शिशु-सेवक हूँ। भला पुत्र कभी अपनी माताका पतित्व ग्रहण कर सकता है? यदि राज्यपदपर मेरा अभिषेक किया जायगा तो यह धरातल रसातलमें धँस जायगा। परन्तु पीछेसे जब उसी राजशासनकी सेवा श्रीप्रभुकी चरणपादुकाके प्रसादरूपमें प्राप्त हुई तब उन्होंने 'बिनु रागा' अर्थात् स्वयं भोक्ता न बनकर चौदह वर्षकी अवधितक भजनरूपसे उसका निर्वाह किया। उससे उन्हें लोक-सुयश और परलोकसुख दोनों ही प्राप्त हुए। उनकी कोई हानि नहीं हुई, इतना ही नहीं, उनके आदर्शसे जगत्का भी सुधार होता है, वे तरन-तारन हो गये!

'जठरागी' की उपमा देकर एक बात और भी कही गयी है। जैसे भोजन पचकर भोजन करनेवालेके लिये अधिक पुष्टिका कारण बनता है, वैसे ही लौकिक वस्तु भी प्राप्त होकर भक्तके भगवत्प्रेमकी वृद्धि और पुष्टि ही करती है। क्योंकि भक्त भगवान्की कृपाको ही उसकी प्राप्तिका कारण मानता रहता है। इसलिये अन्य साधनोंमें तो केवल त्याग और निग्रहसे ही बल मिलता है, परन्तु भक्तिमें सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे भी उसकी पुष्टि होती है—'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥'

'तृपिति हित लागी' कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तोंको शरीरकी रक्षाके लिये अन्न-वस्त्र आदि तो ग्रहण करना पड़ता है, परन्तु उसकी प्राप्तिसे पुष्ट होता रहता है उनका अपने प्रभुमें विशुद्ध प्रेम ! इस प्रकार उनके लोक और परलोक दोनों ही बनते हैं ! अतः अन्य साधनोंकी अपेक्षा हरिभक्ति 'सुगम' और 'सुखदाई' है, यह सिद्ध होता है । ज्ञान आदि अन्य साधनोंमें लोक-अर्थका न्यास होनेपर ही परलोक बन सकता है । 'भोजन' की उपमा देकर भक्तिमें एक यह भी खूबी दिखलायी गयी है कि इस साधनमें यह नियम नहीं है कि जब साधन पूरा हो जाय तभी लाभ हो, अन्यथा नहीं; बल्कि जैसे भोजनके समय प्रत्येक ग्रासके साथ ही क्रमशः तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होने लगती है, वैसे ही भक्तिमें भी ज्यों-ज्यों भजन किया जाता है, त्यों-त्यों उसके फलस्वरूप प्रभुमें प्रेम, उनके स्वरूपकी अनुभूति और लोक-परलोकसे वैराग्य होने लगता है । इस बातकी बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहती कि साधन सोलहों आने पूरा होनेपर ही सफलता मिलेगी । भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(२ । ४०)

अर्थात् 'इस योगमें आरम्भका नाश नहीं है और न विपरीत फलरूप दोष ही होता है । इस धर्मका थोड़ा-सा साधन भी महान् भयसे तार देता है ।'

सियावर रामचन्द्रकी जय !

श्रीमानसमें अद्वैतवाद

श्रीरामचरितमानसके अंदर आठ प्रसंगोंपर कुछ ऐसे शब्दोंका संयोग हो गया है, जिसके आधारपर कुछ सज्जन अद्वैतवादके अनुकूल यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्रीगोस्वामिपादका मत भी अद्वैतवाद ही था। अतएव उन आठों स्थलोंका स्पष्टीकरण अलग-अलग उन्हींके पूर्वापर-प्रसंगोंका प्रमाण देते हुए किया जा रहा है, जिसमें श्रीमानसभक्तोंके हृदयमें इस प्रकारकी कोई शंका न रह जाय।

(१) पहले बालकाण्डके मंगलाचरणके छठे श्लोकका यह दूसरा चरण उद्धृत किया जाता है—

यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

अर्थात् जिसकी सत्तासे सम्पूर्ण जगत् मिथ्या होते हुए भी सत्यकी तरह भासित होता है, जैसे रस्सीमें सर्पका झूठा भ्रम हुआ करता है। यहाँपर उन सज्जनोंका कहना है कि श्रीगोस्वामीजीने जगत्को मिथ्या माना है; अतएव वे अद्वैतवादी थे।

समाधान—यहाँपर पहले तो 'यत्सत्त्वात्' शब्दपर ध्यान देनेकी जरूरत है, जिसका अर्थ है—जिस प्रभुकी सत्तासे ऐसा हो रहा है—

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा॥

दूसरे, इसी श्लोकके प्रथम चरणमें स्पष्ट कहा गया है—

'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः

अर्थात् 'जिस प्रभुकी मायाके वशमें होकर सारा संसार, ब्रह्मादिक देवता और असुर कर्मबन्धनमें पड़े हुए हैं।' तीसरे, इसी श्लोकके तीसरे चरणमें अद्वैतवादके विरुद्ध यह कहा गया है—

'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्'

अर्थात् 'जिस प्रभुका चरणकमल ही संसारसिन्धुसे पार जानेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये नौकारूप है।' इसमें स्पष्ट उपासना (भक्तियोग) है। चौथे, इसके अन्तिम चरणमें तो श्रीरामजीका नाम सूचित कर उनकी वन्दना ही 'वन्देऽहं' शब्दद्वारा इष्ट और आधार मानी गयी है। इससे अवतारवाद और सेवक-सेव्यभाव स्पष्ट सिद्ध होता है। इस कारण ऐसे स्थलमें भला अद्वैतवाद कैसे सिद्ध हो सकता है। यहाँपर श्रीरघुनाथजीके, जो साक्षात् श्रीहरिके अवतार हैं, ऐश्वर्यका वर्णन किया गया है कि वही कर्मयोग, ज्ञानयोग और उपासना (भक्तियोग) के अधीश्वर, आधार, आधेय तथा समस्त कारणोंके भी परम कारण परमेश्वर हैं।

अब रहा यह प्रश्न कि जगत् मृषा कितने अंशमें मालूम होता है; इसका निर्णय दी हुई उपमासे ही कीजिये! रस्सीको साँप

मानना मिथ्या है, न कि रस्सी और साँप ये दोनों मिथ्या हैं; क्योंकि यदि साँपका अस्तित्व ही न होता तो उसका भ्रम ही कहाँसे आता। इसी प्रकार यह जगत् कारणरूपसे सत्य और कार्यरूपमें मृषा है, इसीसे हमें रामरूप जगत्में नानारूप जगत्की भ्रान्ति हो रही है अर्थात् है तो यह जगत् (स्थावर-जंगम) श्रीरामरूप—'अगजगरूप भूप सीतावर' (विनय-पत्रिका), परन्तु हम-लोगोंको प्रभुकी ही मायाके आवरणके कारण नाना रूपमें भास रहा है। जैसे रस्सी यथार्थमें है, वैसे ही यह समस्त जगत् रामरूपमें यथार्थ है—

'सीय राममय सब जग जानी'
'निज प्रभुमय देखहिं जगत'
'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'

—ये सब वचन श्रीमानसमें ही आये हुए हैं। जिस तरह रज्जुमें साँपका भ्रम झूठा है, उसी तरह इस रामरूप जगत्में गृह, वृक्ष, पर्वत, सरिता, पशु, पक्षी, पुत्र-कलत्र आदि नानात्वका भासना झूठा है। परन्तु जिस तरह साँप किसी समय देखा-सुना हुआ है, साँपका होना मिथ्या नहीं है, उसी प्रकार यह नानारूप जगत् भी कभी पहले उत्पन्न हुआ था और इस दृश्य-जगत्के प्रलयके बाद फिर उत्पन्न होगा। अतः यह विधि-प्रपञ्च भी कारण-रूपसे नित्य और अनादि है। श्रीमानसके अयोध्याकाण्डमें श्रीकौसल्याजीका वचन है—

विधि प्रपंचु अस अचल अनादी।

श्रीगीताजीमें कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

अतएव जगत्‌को सर्वथा मिथ्या नहीं कहा गया है, बल्कि इस प्रकट जगत्‌का नानारूपमें सत्य-सा प्रतीत होना मिथ्या कहा गया है।

(२) दूसरे पुनः बालकाण्डके १२० वें दोहेके बाद श्रीशिवजीका वचन है—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥

अर्थात् 'जिसे जाने बिना झूठा भी सत्य हो रहा है।' यहाँपर भी लोगोंका कहना है कि जगत्-प्रपञ्चको झूठा कहा गया है; अतः यहाँ अद्वैतवाद है।

समाधान—परन्तु यहाँपर भी ऊपरकी तरह ही साँप और रस्सीकी उपमा है। अतएव यहाँ भी उसी प्रकार प्रकट जगत्‌के नानात्वका सत्य भासना मृषा है, न कि जगत्। इसके बादकी चौपाइयाँ स्पष्ट ही बतला रही हैं कि यह जगत् जब रामरूपमें यथार्थ भासता है तब इसका नानारूप प्रतीत होना खो जाता है, यथा—

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

तथा—

बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥

तात्पर्य यह कि जिस रूपमें हम जगत्‌को देख रहे हैं वह सत्य नहीं है, इसका रूप राममय है। अतः इस जगत्‌का नानाकार झूठा है, न कि जगत् ही झूठा है। जगत् तो रामरूप आकारमें

सत्य है, क्योंकि जब हमको जगत् निज प्रभु-राममय जान पड़ता है तब इसका नानात्व उसी प्रकार गायब हो जाता है जिस प्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम नष्ट हो जाता है । स्वप्नका भ्रम क्या है—

सपने होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ।

अर्थात् 'कोई राजा स्वप्नमें अपनेको भिक्षुकके रूपमें जानता या देखता है अथवा कोई भिक्षुक अपनेको इन्द्रके रूपमें देखता है।' परन्तु स्वप्नमें राजाका भिक्षुक होना तथा भिक्षुकका इन्द्र होना मिथ्या था, न कि संसारमें भिक्षुकका होना और स्वर्गमें इन्द्रका होना। ये दोनों बातें सत्य ही हैं, केवल स्वप्नमें उन व्यक्तियोंका अपने लिये ऐसा परिवर्तन देखना झूठा था। इसी प्रकार जगत्‌को झूठा न कहकर उसमें जो नानात्व भासता है, उसे ही झूठा कहा गया है। साथ ही जगत् जिस रामका रूप है, उसकी वन्दना की गयी है और नामजप (उपासना) की बात भी कही गयी है, जो अद्वैतवादके विरुद्ध है।

(३) तीसरे बालकाण्डके १२५ वें दोहेके ठीक ऊपरकी निम्नलिखित चौपाई अद्वैतमतके समर्थनमें उद्धृत की जाती है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

यहाँ यह कहा जाता है कि मायाको असत् कहा गया है, अतः यह अद्वैतवाद है।

समाधान—इसके भी ऊपरकी चौपाई देखिये—

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

इसमें श्रीरामजीको मायाधीश कहकर स्पष्ट मायावाद सूचित

किया गया है तथा जगत् शब्द जड़ मायाके पर्यायवाचीशब्दके रूपमें व्यवहृत हुआ है। दोहेके नीचेकी चौपाईमें भी—

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥

—जगत्का भासना ही असत्य कहा गया है। क्योंकि यहाँ भी वही स्वप्नकी उपमा दी गयी है, यथा—

जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥

और इस भ्रमका हटना सिवा रामकृपाके और किसी साधनसे सम्भव नहीं है—

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥

यद्यपि यह भ्रम तीनों कालमें मिथ्या ही है, अर्थात् यह जगत् तीनों कालमें रामरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, फिर भी उस भ्रमको कोई भी अपने पुरुषार्थसे हटानेमें समर्थ नहीं है। जैसा कि इस दोहेमें कहा है—

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥

यहाँ 'रजत सीप'की उपमासे विद्या-माया और 'भानु कर बारि' की उपमासे अविद्या-मायाको सूचित किया गया है; क्योंकि विद्या-माया—'एकु रचइ जग गुन बस जाकें' दुःखद नहीं है, परन्तु वह नानारूप जगत्को भासित कराकर—पर्दा-सा डालकर भ्रम उत्पन्न करती है और दूसरी अविद्या-माया मृगतृष्णाकी भाँति 'मैं', 'तैं', 'तोर, मोर' बन्धनवाली दुःखरूप है—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा ॥

इन दोनों प्रकारकी मायाओंसे युक्त जगत् न कभी पहले भूतकालमें ही रामरूपको छोड़कर वस्तुतः इस नानारूपमें था, न अब वर्तमान कालमें ही है और न आगे कभी भविष्यमें ही इसका यह नानात्व वास्तविक होगा; तीनों कालमें यह जगत् भगवत्स्वरूप ही सिद्ध है। इसीसे कहा गया है—'एहि विधि जग' अर्थात् इस प्रकारका यह जगत् है, जो 'हरि आश्रित रहई' अर्थात् जिसके आश्रय केवल भगवान् राम ही हैं, जिनका यह विश्वरूप है—

विस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वास।

अतएव यहाँ भी माया या जगत्को मिथ्या न कहकर उसके नानात्व-भ्रमको ही मिथ्या कहा गया है, जो भ्रम श्रीरामकृपासे ही मिटता है। भ्रम मिटनेपर जीवको यह संसार श्रीरामरूप भासने लगता है तथा वह भ्रमजनित दुःखसे मुक्त होकर सुखी हो जाता है। इसलिये यहाँ भी अद्वैतवादसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) चौथे, अवधकाण्डके पाँचवें छन्द और सोरठेके नीचेकी अष्टपदीमें १२२ वें दोहेके ऊपरकी इस चौपाईका भी सहारा लिया जाता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

इसका अर्थ वे इस प्रकार करते हैं कि जीव ब्रह्मको जानकर ब्रह्म ही हो जाता है। इस तरह अद्वैतवाद सिद्ध किया जाता है।

समाधान—इसके भी ऊपर और नीचेके प्रसङ्गोंको देखिये। ऊपर श्रीवाल्मीकि महर्षि श्रीरघुनाथजीसे कहते हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥
राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥
जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥

ये सब वचन 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' के पूर्व हैं, जिनमें श्रुतिसेतुपालक श्रीरामजीको जगदीश (ब्रह्म) और श्रीजानकीजीको माया (ह्लादिनी शक्ति) और श्रीलखनलालको जीव (शेष) कहा गया है, जो अद्वैतवादके सर्वथा विरुद्ध है। और सोरठेमें तो 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' श्रुतिप्रतिपादित शब्दोंद्वारा श्रीरामस्वरूपकी अपारता दर्शायी गयी है, जिसको वेद भी 'न इति, न इति' कहकर प्रतिपादित करते हैं। फिर इस जगत्को एक तमाशा बतलाया गया है जिसके द्रष्टा श्रीरामजी हैं और उस नाचके नचानेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी हैं। जब इन त्रिदेवोंको भी, जो नचानेवाले हैं, प्रभुके मर्मका पता नहीं है, तब नाचनेवाले जीवोंको जाननेकी सामर्थ्य कहाँसे प्राप्त हो सकती है। अतः वही जान सकता है जिसे आप अपनी कृपासे बता दें—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' और आपके मर्म (स्वभावादि) को जानकर वह फिर आपका ही हो जाता है, यथा—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

अब रहा यह कि प्रभु किसे जनाते हैं ? इसका उत्तर ठीक इसके बादकी यह चौपाई दे रही है—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

अर्थात् आप कृपा करके अपने भक्तोंको ही जनाते हैं और आपको जाननेवाले आपके भक्त ही हैं । यहाँ भी अद्वैतवादका लेश नहीं ।

(५) पाँचवें, उत्तरकाण्डका यह १०० वाँ दोहा उद्धृत किया जाता है—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि ।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि ॥

यहाँ भी उनका कहना है कि मायाको मिथ्या कहा गया है, इसलिये अद्वैतवाद है ।

समाधान—यहाँ भी ऊपरका प्रसङ्ग—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही । को जग काम नचाव न जेही ।

—से लेकर—

ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड ।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड ॥

—तक देखिये । इसमें 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' जो अविद्या है, उसीका पूरा वर्णन करते हुए संसारचक्र दिखाया गया है । अतः उसीके लिये, जिसके वशमें होकर यह जीव 'मैं,' 'मोर', 'तैं', 'तोर' आदिमें पड़ा हुआ है—'जा बस जीव परा भवकूपा', 'सो' शब्दका इस दोहेमें व्यवहार किया गया । जब यह 'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर' ही उसका स्वरूप है तब तो यह अज्ञानता, मिथ्या

मोहजन्य है ही। परन्तु यह भी श्रीरामकृपाके बिना निवृत्त नहीं हो सकती, यह श्रीकाकभुशुण्डिजी प्रतिज्ञा करके कह रहे हैं; क्योंकि यह श्रीरामजीके ही अधीन है। इसका प्रमाण भी निम्नलिखित है—

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥

अतः मोह, काम, चिन्ता, श्रीमद, लोभ, यौवन, ममता, मत्सर, एषणा आदिको ही जिन्हें ऊपर 'माया कर परिवारा' बताया गया है, मिथ्या कहा गया है, क्योंकि ये सब मोहमूलक हैं। इनका आभास तभीतक मिलता है जबतक श्रीरामकृपासे यह जगत् राममय नहीं भासता, जबतक—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

—का भाव उदय नहीं होता। अतएव यहाँ भी स्पष्टरूपमें मायावाद और श्रीरामजीकी कृपासे उसकी निवृत्ति सूचित की गयी है।

(६) छठे, उत्तरकाण्डके १११ वें दोहेके नीचेकी चौपाई—

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

—को प्रमाणके रूपमें पेश करके कहते हैं कि यहाँ ईश्वर और जीवके भेदको मुधा (झूठा) कहा गया है, अतः इससे अद्वैतवाद सूचित होता है।

समाधान—इसके भी ऊपरके पदोंको देखिये—

ग्यान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥

माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

जब ये पद ईश्वर और जीवका भेद बतानेवाले हैं तब इसी प्रसङ्गमें उसी भेदको झूठा कहकर 'वदतो व्याघात' होना कैसे सम्भव है? अतः यहाँ यह सूचित किया गया है कि यह जगत् जो हमें भेदाभेदरूपमें भास रहा है, इसका कारण माया ही है। यद्यपि यह नानारूप जगत्का भेद जो मायाकृत है, मृषा अर्थात् झूठा है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् एक भगवद्रूप ही है, फिर भी भगवान्की कृपाके बिना यह नानादर्शन कभी जा नहीं सकता। इसीकी पुष्टि नीचेके पदोंसे भी होती है—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

श्रीरामजीके भजनद्वारा, उनकी कृपासे ही यह द्वन्द्वदुःख हट सकता है; अन्यथा कोई चाहे ज्ञानवान् भी क्यों न हो बिना श्रीरामजीके भजनके, अपने पुरुषार्थपर भवसागर पार करनेका दावा करनेवाला बिना सींग-पूँछका पशु ही है। जहाँ ऐसी बात है वहाँ अद्वैतवादका अर्थ करना भूल नहीं तो और क्या है?

(७) सातवें, उत्तरकाण्डके १६९ वें दोहेके नीचेका लोमश मुनिका यह वचन प्रमाणके रूपमें रक्खा जाता है—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

—कहते हैं, यहाँ जीव और ब्रह्मकी एकता बतायी गयी है; अतएव अद्वैतवाद है ।

समाधान—यहाँपर मानसभक्तोंको सचेत होकर विचार करना चाहिये कि यह उपर्युक्त वचन हेय अर्थमें आया है या ध्येय अर्थमें ? इसी बातको तो श्रीभुशुण्डिजीने स्वीकार नहीं किया और लोमश ऋषिसे बहस छेड़ दी । उन्होंने इसपर शङ्का उपस्थित करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ॥

इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने जीव-ब्रह्मकी एकता सुनना भी भक्तिके विरुद्ध समझा; उन्होंने साफ-साफ कह डाला—

राम भगति जल मम मन मीना । किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना ॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया । निज नयनन्हि देखौं रघुराया ॥
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा । तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ॥

इसी विवादपर क्रुद्ध होकर लोमशने उन्हें काक हो जानेका शाप दे दिया और उसे भी भक्तभूषण श्रीभुशुण्डिजी सहर्ष शिरोधार्य-कर निर्भय उड़ चले । क्योंकि वास्तवमें विरोधरहित हृदय तो भगवद्भक्तोंका ही हो सकता है, जो अपनेको दास और सारे जगत्को अपने प्रभुका रूप मानते हैं, जैसा कि भगवान् शिवने भुशुण्डिजीसे कहा है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

इसी भावकी पुष्टि इन वचनोंसे भी हो रही है—

सुनु खगेस नहिं कछु रिपि दूपन। उर प्रेरक रघुवंस बिभूषन ॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी ॥
मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना ॥
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई ॥
मम परितोष बिबिधि बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब दीन्हा ॥
बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपा निधाना ॥
मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा ॥

रामभक्त भुशुण्डिजी जो कुछ भी हुआ उसे अपने प्रभु रघुवंश-विभूषणकी ही प्रेरणा मानते हैं; परन्तु उनको ऐसा विश्वास है कि ब्रह्म-जीवकी एकताका कथन मुनिजीकी मति भोरी करके श्रीप्रभुने कराया था, क्योंकि ऐसा अनुचित और असम्भव कथन भोरी बुद्धि हुए बिना कभी नहीं हो सकता था। यही कारण है कि उन्होंने उस कथनका सर्वथा विरोध करके और शापतक स्वीकार करके अपनी भक्तिकी दृढ़ताका प्रमाण दिखाया। ऐसे प्रसङ्गको भी अद्वैतवादके पक्षमें खींचना कहाँतक उचित है, यह विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

(८) आठवें, उत्तरकाण्डके १७ वें सोरठेके नीचे ज्ञानदीपकके प्रसङ्गमें आयी हुई इस चौपाईको उद्धृत करते हैं—

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ॥

यहाँ भी उनका कहना है कि 'सोहमस्मि' शब्द लिखकर श्रीगोस्वामीजीने अद्वैतवादको स्वीकार किया है।

समाधान—इस ज्ञानदीपक-प्रसङ्गको भी आरम्भसे ही देखिये, स्पष्ट शब्द भरे पड़े हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

इससे साफ-साफ जीवको ईश्वरका अंश माना गया है और यह भी कहा गया है कि वह मायाके अधीन है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और माया, तीनों तत्त्वोंको अनादि मानकर प्रसङ्ग उठाया गया है। पुनः उस जड-चिद्-ग्रन्थिकी निवृत्तिका आधार भी ईश्वरकी कृपा ही दिखायी गयी है—

अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥

इसके अतिरिक्त यहाँ केवल वाक्यज्ञान, वाक्यबोध ही नहीं, वरं सम्पूर्ण साधनका क्रम दिया हुआ है। उसके बाद 'सोहमस्मि' वृत्तिको केवल दीपशिखा माना है; अभी ग्रन्थिका छूटना बाकी है। ग्रन्थिका उसी प्रकाशमें पीछे छूटना बताते हैं—

तब सोइ बुद्धि पाइ उजिआरा। उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥

वहाँ 'सोहमस्मि' को फलस्वरूप माना है—उसके बाद कुछ बाकी ही नहीं रह जाता। इसलिये इस 'सोहमस्मि' का तात्पर्य यह है—सः (वह), अहं (मैं), अस्मि (हूँ); सः अर्थात् वही ईश्वर अंश जो ऊपर कहा गया है, जो इस जीवका शुद्धस्वरूप है, जिसको भूलकर यह अपनेको किसीका पुत्र, किसीका पिता, किसीकी प्रजा, किसीका राजा, किसी कुलका, किसी वर्णका, किसी आश्रमका मान रहा था,

उस भ्रमकी निवृत्ति इतने साधनोंके बाद हो जानेपर जीव यह निश्चय करता है कि मैं तो शुद्धस्वरूप ईश्वरका अंश, चेतन, अमल हूँ; ये मायाकृत संसारी नाते झूठे थे और जब उसने अपनेको ईश्वरका अंश मान लिया तब वह संसार-सम्बन्धको मिथ्या मानकर उससे अलग हो जाता है। यही ग्रन्थिको निरुआरना या छोड़ना है। जब निश्चितरूपसे संसारी नाते छूट जाते हैं और केवल प्रभुकी ही प्रसन्नता जीव स्वीकार कर लेता है तब वह कृतार्थ हो जाता है। अतः यहाँ भी अद्वैतवाद नहीं है।

इस तरह आठों स्थलोंके प्रसङ्गसे यह सिद्ध हो गया कि वे अद्वैतवादको सूचित नहीं करते। इनके अतिरिक्त सारा ग्रन्थ भक्तिप्रधान पदोंसे भरा हुआ है। यथा—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥
अस हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ॥
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं ।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं ॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि ॥

कहाँतक लिखा जाय, ऐसे अनेक पद उद्धृत किये जा सकते हैं। इस तरह जहाँ भक्तिको कामधेनु और केवल ज्ञान (अद्वैतवाद) को आककी उपमा दी गयी है; जहाँ भक्तिके अतिरिक्त दूसरे उपायोंको अपनी भूलके कारण महार्णवको तैरकर पार करनेका प्रयास बताया गया है; जहाँ कैवल्यादि मुक्तियाँ भक्तिके अधीन कही गयी हैं; जहाँ यह मानते हैं कि भक्तिके अतिरिक्त मोक्षसुखको कहीं ठिकाना नहीं है; जहाँ यह कहा जाता है कि भक्तशिरोमणि मुक्तिका निरादर करके भक्तिको ही अपना उद्देश्य समझते हैं; जहाँ उस भक्तिको जठराग्निकी उपमा देकर उसकी महिमा इस तरह बता रहे हैं कि जिस तरह भोजन पेट भरनेके लिये किया जाता है और उसका पाचन जठराग्निसे स्वाभाविक ही हो जाता है, उसी तरह भक्तोंको, जो सर्वोपायसे शून्य होकर भगवान्‌के ही आश्रित हो जाते हैं, शारीरिक रक्षाके लिये सांसारिक पदार्थोंकी भी प्राप्ति होनेपर उनमें भगवान्‌की ही भक्ति दृढ होती है, जैसे किसी भक्तको शीत लगनेपर कंबलकी आवश्यकता हुई, परंतु वह है त्वचाका विषय; फिर भी जैसे वह मिला, उसका

भोग करते हुए भक्त अपने भगवान्‌की दयाको स्मरण कर और भी अधिक प्रेमानन्दमें डूब गया और उसकी भक्ति दृढ़ हो गयी; ज्ञानियोंको विषयके सर्वथा त्यागसे जो संसार-निवृत्तिरूप फल मिलता है, वही भक्तोंके लिये विषयकी प्राप्तिमें भी सुलभ हो जाता है और भगवत्प्रेम भी बढ़ता रहता है—ऐसी सुगम और सुखदायिनी हरिभक्ति है; कौन ऐसा मूढ़ होगा जिसे यह न सोहायगी, इससे तो बिना प्रयास ही संसृतिके मूलका नाश हो जाता है; जहाँ यह सिद्धान्त दिया गया है कि सेवक-सेव्यभावके बिना कोई भवसागरसे तर ही नहीं सकता; क्योंकि चेतनको जड़ और जड़को चेतन बना देनेकी सामर्थ्य उन श्रीरघुनाथजीमें ही है, उनका भजन करनेवाले ही धन्य हैं; ब्रह्म समुद्र है और ज्ञान मन्दराचल पर्वत है तथा संतलोग देवताओंकी जगहपर हैं, अमृतकी तरह श्रीरामकथा मथकर निकाली गयी है, उस अमृतमें मधुर स्वाद है और इस रामकथामें मधुर भक्ति है; फिर वैराग्य ढाल हैं, ज्ञान तलवार है, उसके द्वारा मद-लोभ-मोहरूप शत्रुओंको मारकर जय प्राप्त करनेवाली हरिभक्ति ही है; जहाँ भक्तिको चारुचिन्तामणि कहकर उसे ही सर्वोच्च और परम फल अक्षर-अक्षरसे सिद्ध किया गया है, वहाँ भला दूसरे किसी वादको कहाँ स्थान है। अतएव जो श्रीगोस्वमीजी भगवान् श्रीरामजीके परम भक्त, सेवक-सेव्यभावकी निष्ठामें अद्वितीय हैं, उन्हें अद्वैतवादी कहना अनुचित है।

बोलो सियावर रामचन्द्रकी जय!

श्रीमानसमें संत-लक्षण

बालकाण्ड

साधु चरित सुभ चरित कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ ॥
संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु ।
बालबिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु ॥
जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

अरण्यकाण्ड

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ । जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा । अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥
अमितबोध अनीह मित भोगी । सत्यसार कबि कोबिद जोगी ॥
सावधान मानद मदहीना । धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥

गुनागार संसार दुख रहित विगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

किष्किन्धाकाण्ड

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥
सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई॥

सुन्दरकाण्ड

राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा। हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥

सगुन उपासक पर हित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

उत्तरकाण्ड

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता ॥
संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥

ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग वल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड ॥

विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन ॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री ॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर ॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज ॥

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥
संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी ॥
भूर्ज तरू सम संत कृपाला। पर हित निति सह बिपति बिसाला ॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्हि कै करनी ॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

अब श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें वर्णित इन उपर्युक्त संत-लक्षणोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये मूलपदोंके क्रमानुसार इनका सरलार्थ भी लिखा जा रहा है। संत-लक्षणका वर्णन मानसके आदिमें वन्दनाप्रसंगगत पद्योंसे ही आरम्भ हुआ है।

बालकाण्ड

तुलसीदासजी कहते हैं—'संतोंका शुभचरित्र (सुन्दर व्यवहार) कपास (रूई) की भाँति रसरहित किन्तु स्वच्छ, उज्ज्वल और गुणमय फलवाला होता है। जिस प्रकार कपास ओटाई, धुनाई, कताई और बुनाई आदि क्रियाओंद्वारा नाना प्रकारके दुःखोंको सहकर भी दूसरे प्राणियोंके लिये वस्त्रादि बनकर उनके छिद्रोंको ढँकता तथा मर्यादा और सुख-साजका आधार बनता है, उसी प्रकार संतोंके समस्त कर्म कामना और स्वार्थसे रहित होते हैं, वे निर्विकार एवं निर्हेतुरूपसे अपनेको कष्ट दे-देकर भी पराये हितके लिये लोक-परलोक बनानेमें वन्दनीय होते हैं तथा इस जगत्में उन्हें महान् यशकी प्राप्ति होती है। उन संतोंकी समचित्तताकी वन्दना है जिनका इस सम्पूर्ण विश्वमें न तो कोई हितू है और न वैरी है, बल्कि जो सभी जीवोंके साथ राग-द्वेषसे रहित होकर उसी प्रकार समानभाव रखते हैं, जिस प्रकार मनुष्यकी अञ्जलिमें पहुँचा हुआ पुष्प दायें-बायेंका कोई भेदभाव न रखकर उसके दोनों हाथोंकी हथेलियोंको एक ही तरहसे सुगन्धित करता है। संतोंका सरल-चित्त जगत्भरका हितैषी होता है (उनकी इस स्नेहशीलता और स्वभावको जानकर तुलसीदासजी उनसे बालविनय करते हैं और कहते हैं कि वे) इस

बालविनयको सुनकर कृपा करके तुलसीदासको श्रीरामजीके चरणोंकी भक्ति प्रदान करें।' (यहाँ यह शङ्का होती है कि 'ऊपर तो यह कहा गया है कि संतोंका कोई हितू नहीं है और नीचे कहा जाता है कि सारा जगत् उनका हितू है—यह परस्परविरोधी बात कैसी ?' इसका समाधान यही है कि संत लोग अपना हितैषी अथवा वैरी किसीको नहीं मानते। तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टिमें उनका हित अथवा अनहित करनेवाला कोई होता ही नहीं, बल्कि वे ही स्वयं संसारभरके हितमें लगे रहते हैं।)

'विधाताने इस विश्वको जड़-चेतनमय अथवा गुण-दोषमय रचा है—(बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना) परन्तु संत लोग इस जगत्में हंस पक्षीकी भाँति हैं जो गुणोंको दूधकी तरह निकालकर ग्रहण कर लेते हैं और दोषको जलके समान अलग करके त्याग देते हैं।'

अरण्यकाण्ड

महर्षि नारदजीके द्वारा—

संतन के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन भव भीरा॥

—इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किये जानेपर श्रीरघुनाथजी अपने मुखारविन्दसे संत-लक्षण बतलाते हैं—

'हे मुने! सुनो, मैं संतोंके उन लक्षणोंको बतलाता हूँ जिनके कारण मैं स्वयं उन संतोंके वशमें रहा करता हूँ। संत लोग काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ-मत्सर (डाह) इन छहों विकारोंको जीत लेते हैं, वे इनके वशमें कभी नहीं होते। वे निष्पाप और निष्काम होते हैं, निश्चल चित्तवाले, निर्धन (संग्रहीन) आन्तर-बाह्य दोनोंसे शुद्ध

और सुखके धाम होते हैं। उनके बोध (ज्ञान) की सीमा नहीं होती, वे चेष्टा (इच्छा) से हीन और थोड़ेमें अपना निर्वाह करनेवाले होते हैं; सत्य ही उनके लिये सार होता है तथा वे भगवद्गुणानुवादके रचयिता कवि, बड़े सुयोग्य पण्डित और योगारूढ़ भी होते हैं। वे बड़े ही सचेत, सबको मान देनेवाले परन्तु स्वयं मदसे हीन, सदा धैर्यवान् और धर्मपालनकी गतिमें पूरे प्रवीण होते हैं। वे गुणोंके तो केन्द्र ही होते हैं, संसारी सुखोंसे अलग तथा सन्देहसे बिल्कुल रहित रहते हैं, एवं मेरे चरणकमलोंके सिवा उनको अपना शरीर अथवा घर कुछ भी प्रिय नहीं होता। अपनी बड़ाई सुनते ही वे सकुच जाते हैं तथा दूसरेके गुणोंको सुनकर हर्षित हुआ करते हैं। वे 'सम' अर्थात् राग-द्वेषसे रहित, 'शीतल' अर्थात् त्रितापसे विमुक्त और नीतिमें सदैव रत रहते हैं। उनका स्वभाव सरल, सीधा एवं सभीसे प्रीति रखनेवाला होता है। संत जप-तपमें निरत, व्रत रखनेवाले, इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, नियम-निरत, गुरु, गोविन्द (भगवान्) तथा ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखनेवाले होते हैं। वे श्रद्धायुक्त, क्षमा, शील तथा मैत्री और दयासे सम्पन्न होते हैं। वे सदा-सर्वदा अन्तर्बाह्य दोनों रूपोंसे प्रसन्न रहते हैं और मेरे चरणोंमें प्रीति (भक्ति) रखकर मायासे अलग रहते हैं। संत वैराग्य, ज्ञान, नम्रता और विज्ञानके तो स्वरूप ही होते हैं एवं वेद-पुराणोंका उन्हें भलीभाँति यथार्थ बोध रहता है। उनके पास दम्भ (छल-पाखण्ड), मान (बड़ाईकी चाह), मद (अहंकार) आदि कभी नहीं फटकते और वे कुमार्ग अर्थात् वेदनिषिद्ध पथपर भूलकर भी पग नहीं रखते। वे सदा मेरे चरित्रोंको गाया और सुना करते हैं तथा परहितमें बिना

कुछ उनसे लिये—निष्कामभावसे सदा रत रहते हैं । हे नारद मुने ! सुनो, साधुओंके जितने गुण होते हैं उतने संत-लक्षणोंको श्रुति और शारदा भी कहनेकी सामर्थ्य नहीं रखतीं !'

किष्किन्धाकाण्ड

किष्किन्धापुरीके प्रवर्षण गिरिपर विराजमान होकर श्रीरघुनाथजी भाई लक्ष्मणजीको सम्बोधित करके वर्षा और शरद् ऋतुका वर्णन करते हुए कहते हैं—

'संतजनोंमें इतनी सहनशीलता होती है कि वे खलोंके वचनोंका सहन करनेके लिये अपने हृदयको पाषाणके सदृश बना लेते हैं । जिस प्रकार पर्वत वर्षाकी बूँदोंका आघात सह लेते हैं, उनमें पानीके बूँद प्रवेश नहीं कर पाते, उसी प्रकार संतोंके हृदयमें खलोंके वचनोंका प्रवेश नहीं हो पाता । खलोंके वचन और लोगोंके लिये वज्रके समान दुःखद होते हैं—'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा'—परन्तु वे ही संतोंके लिये पानीकी बूँदोंके समान होकर उन्हें कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाते, बल्कि उनके सामने संतलोग पहाड़के सदृश अचल बने रहते हैं । शरद् ऋतुमें सरिताओं और तड़ागोंका जल इस तरह शोभा पाने लगता है जैसे संतोंके हृदय मद और मोहसे रहित होकर निर्मल बने रहते हैं । आकाश बादलोंसे रहित होकर उसी भाँति निर्मल होकर शोभायमान होता है जैसे संतलोग सब प्रकारकी आशाओंको हृदयसे त्यागकर शोभासम्पन्न रहते हैं । शरत्कालका चन्द्रमा रात्रिमें दिनकी धूपका ताप उसी प्रकार हरण करता रहता है जैसे संतोंके दर्शनसे जीवोंके पातक (पाप) दूर

रहते हैं। (संतलोग अपना दर्शन देकर तो जगत्‌को सुखी करते हैं और भगवान्‌का दर्शन करके अपने-आप सुखी होते हैं, यथा—

देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई ॥

यहाँ संत और भगवान् दोनोंको चन्द्रमाके समान बतलाकर समता सूचित करते हुए यह भाव दिखाया गया है कि 'संतोंको भगवान्‌के दर्शनसे जो सुख होता है वही सुख जीवोंको संतोंके दर्शनसे प्राप्त होता है।)'

सुन्दरकाण्ड

श्रीहनुमान्‌जी ब्रह्मवेलामें, प्रहरभर रात रहते विभीषणजीके द्वारपर उपस्थित होकर वहाँके बाह्य चिह्नोंको देखकर यह तर्क कर रहे थे कि 'इस लङ्कामें संतोंके स्थान-जैसा यह चिह्न क्यों ? क्या यहाँ वास्तवमें कोई संत रहते हैं ?' तबतक विभीषणजी जग गये—

मन महुँ तरक करैं कपि लागा। तेहीं समय बिभीषनु जागा ॥

और जागते ही 'राम-राम'का उच्चारण करने लगे। तब श्रीहनुमान्‌जीने यह निश्चय कर लिया कि 'इनका योगियोंके जागनेके समयमें जागना और जागते ही राम-नामके रटन-स्मरणमें लग जाना इनके संत-लक्षणोंका परिचायक है, अतः हो-न-हो विभीषणजी संत हैं।' और इस निश्चित पहचानके कारण हनुमान्‌जीके हृदयमें बड़ा ही हर्ष हुआ। जिस समय रावणने हितोपदेश देनेवाले विभीषणको लात मारी; किन्तु विभीषणजीने उसपर रावणसे कोई द्वेष नहीं माना, बल्कि उन्होंने—

तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। रामु भजें हित नाथ तुम्हारा ॥

—अपनी यह प्रार्थना जारी रक्खी, उसी समय विभीषणमें इस प्रकारके संत-लक्षण देखकर श्रीशिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—'हे उमा ! संतोंका यही बड़प्पन है कि यदि कोई उनके साथ बुराई भी करता है, तब भी वे बुराई करनेवालेके साथ भलाई ही किया करते हैं। माता-पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, हितू (मित्र) और परिवार इन दसोंसे इस जीवने सम्बन्ध मान रक्खा है। इन सबके प्रति बनी रहनेवाली ममताके—जो तागे (धागे) के समान कच्ची और स्वतः टूटनेवाली है—सम्बन्धमें महाराज श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे कहते हैं कि जीवको चाहिये कि वह मुझसे अखण्ड सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये इन सब पदार्थोंमें होनेवाली ममतारूप तागोंको सब जगहसे एक स्थानमें बटोरकर डोरी बना ले—पुष्ट कर ले और उसके द्वारा मेरे श्रीचरणोंमें अपने मनको मजबूतीके साथ बाँध दे। यही संतका लक्षण है। संत समदर्शी अर्थात् राग-द्वेषसे रहित होते हैं, उन्हें किसी बातकी इच्छा नहीं रहती तथा उनके मनमें न कभी हर्ष होता है, न कभी शोक होता है और न कभी वे भयभीत ही होते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे फिर कहते हैं—'जो लोग सगुण ब्रह्मकी उपासनामें दृढ़ नियमयुक्त होते हैं, सदा नीतिमें रत रहते हैं एवं जीवोंके परमहितमें लगकर ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखते हैं, वे मनुष्य मुझको प्राणोंके समान प्रिय लगते हैं।'

उत्तरकाण्ड

श्रीभरतजीके संत-लक्षण पूछनेपर श्रीरघुनाथजीके श्रीमुखका वचन है—

'हे भ्राता ! सुनो, संतोंके लक्षण अगणित रूपसे वेद और पुराणोंमें विख्यात हैं। उन्हें कहाँतक कहा जा सकता है ? संत और असंतोंमें (खलों) की परस्पर ऐसी 'करनी' होती है जैसा कुठार (कुल्हाड़ी) और चन्दनके पारस्परिक व्यवहार होता है। अर्थात् चन्दनको कुठाररूपी खल तो काटता है; परन्तु वह चन्दनरूप संत उस काटनेवाले कुठारको भी अपना सुगन्धरूपी गुण देकर उसे सुगन्धित कर देता है। और इन दोनोंको अपनी-अपनी करनियोंका फल भी प्राप्त होता है। चन्दन जो संतस्वभाववाला है वह तो कट जानेपर देवताओंके मस्तकपर चढ़ाया जाता तथा संसारको प्रिय लगता है। किन्तु उस खल स्वभाववाले कुठारको अग्निमें—भट्ठीमें भस्म करके लोहेके घनोंसे उसका मुँह खूब पीट-पीटकर थूरा जाता है, यही उस परशुचदन (कुठार) के लिये दण्ड मिलता है। संतलोग विषयोंसे विरक्त रहते हैं, शील और शुभगुणोंकी खान होते हैं, पराये दुःखको देखकर दुखी तथा पराये सुखको देखकर सुखी हुआ करते हैं। वे सभी प्राणियोंमें समभाव रखते हैं, उनका कोई भी शत्रु नहीं होता, क्योंकि वे किसीका कोई अपकार करते ही नहीं। वे मदसे अलग और वैराग्यसे युक्त होते हैं एवं लोभ, अमर्ष, हर्ष, भय इत्यादि उनके पास जाते ही नहीं। उनका चित्त सदैव कोमल बना रहता है, दीनोंपर सदा उनकी दया बनी रहती है और वे मनसा, वाचा, कर्मणा मेरी भक्तिमें रत रहकर मायासे रहित रहते हैं। संत सबको मान देनेवाले परन्तु स्वयं अमानी होते हैं। हे भरतजी ! ऐसे संत-लक्षणोंवाले प्राणी मुझको प्राणोंसे भी प्यारे होते हैं। संत सब प्रकारकी कामनाओंसे बिल्कुल दूर रहकर मेरे नामके

भजनमें परायण रहते हैं तथा शान्ति, वैराग्य और नम्रतासे युक्त होकर सदैव प्रसन्नचित्त रहा करते हैं। वे शीतल स्वभाववाले, सीधे और मित्रताके भावसे सम्पन्न होते हैं। ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम करनेमें तथा धर्मपालनमें सदा इस प्रकार चौकस रहते हैं मानो उन्होंने धर्मको तालेमें बंद कर दिया हो। तात्पर्य यह कि वे धर्मसे कभी विचलित नहीं होते। हे तात! ये सब लक्षण जिस मनुष्यमें पाये जाते हों उसे सदैव सच्चा संत जानना चाहिये। संत मनको तथा इन्द्रियोंको निगृहीत रखनेवाले और नियम-नीतिमें अचल होते हैं, कभी किसीसे कठोर वचन बोलते ही नहीं। जिन्हें निन्दा-स्तुति दोनों ही बराबर मालूम होते हैं, मेरे चरणकमलोंमें जिनका ममत्व [अनुराग] रहता है ऐसे संत-लक्षणसम्पन्न, गुणोंके केन्द्र और सुखोंकी राशि सज्जन मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं।'

गरुड़जीने श्रीभुशुण्डिजीसे संत-असंतका भेद पूछा था, उसके उत्तरमें भुशुण्डिजी गरुड़जीको सम्बोधित करके संत-लक्षण बतला रहे हैं—

'मन, वचन और काया तीनोंसे दूसरोंका उपकार करते रहना ही संतोंका सहज स्वभाव हुआ करता है। संत तो दूसरेके हितके लिये दुःख सहते हैं किन्तु अभागे खलजन दूसरोंको दुःख देनेके लिये ही दुःख उठाते हैं। संत भोजपत्रके वृक्षकी भाँति दूसरोंके कल्याणार्थ [यन्त्रादि बनवानेके लिये] अपनी खालतक कढ़वाकर भारी विपत्ति मोल लेते हैं। संतोंका हृदय संसारके लिये सदैव उसी प्रकार सुखकारी होता है जैसे सूर्य और चन्द्रमा सदा-सर्वदा विश्वको सुखदायक होते हैं।'

इस प्रकार उत्तर पाकर जब गरुड़जी पूर्णरूपसे सन्तुष्ट हो गये तथा उनका मोह, संशय और भ्रम निवृत्त हो गया तब उन्होंने संतशिरोमणि श्रीभुशुण्डिजीकी स्तुति करते हुए स्वयं कहा—

हे श्रीभुशुण्डिजी ! संत, वृक्ष, नदी, पहाड़ और पृथ्वी—ये पाँचों पराये हितके लिये ही कर्म करते हैं। (यहाँ संत-चेतनको प्रथम स्थान देकर उनकी सत्ताद्वारा शेष चारों जड पदार्थोंमें चेतनताके लक्षणका आविर्भाव बतलाया गया है । और संतोंमें वृक्षवत् सहिष्णुता, नदीकी भाँति परोपकारिता, पहाड़ों-सरीखी निश्चलता एवं पृथ्वीके समान क्षमाशीलता होती है—इस बातका भी संकेत किया गया है।) इन पाँचोंमें स्वार्थका लेश भी नहीं होता । जैसे वृक्ष अपने खानेके लिये नहीं फलते, नदियाँ अपने पीनेके लिये जल नहीं बहातीं, पर्वत अपने प्रयोजनके लिये पाषाण नहीं बढ़ाते और पृथ्वी अपनी क्षुधाशान्तिके लिये अन्नादि नहीं पैदा करती, वैसे ही संतोंका भी कोई कार्य अपने लिये न होकर पराये हितार्थ ही होता है। संतोंके हृदयको कविलोग मक्खनके सदृश कोमल बतलाते हैं, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मक्खन तो तभी पिघलता है जब स्वयं उसपर आँच लगती है, किन्तु संतोंका हृदय इतना कोमल होता है कि वह परायेकी आँच—दूसरेके दुःखको दूरसे देखकर ही पिघल जाता है (अपने सन्तापसे नहीं पिघलता)। ऐसे सुपुनीत संत धन्य हैं, धन्य हैं, धन्य हैं !'

श्रीमानसमें गुरुवन्दनाका महत्त्व

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर ॥

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा । सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके आरम्भमें संस्कृत श्लोकोंमें जिन नौ वन्दनीयोंकी वन्दना की गयी है, उनमें चारके नाम—(१) वाणी, (२) विनायक (३) भवानी, (४) शङ्कर तो ऊपर हैं और चारके नाम—(१) कवीश्वर, (२) कपीश्वर तथा (३) सीता और (४) 'रामाख्यमीशं हरिम्'—नीचेके श्लोकोंमें है । इनके मध्यमें श्रीगुरुदेवकी वन्दना रक्खी गयी है । यह बात इस भावको सूचित करती है कि श्रीगुरुदेवकी ही कृपाके द्वारा बुद्धिमें वन्दना करनेकी स्फुरणशक्ति पहुँच रही है । श्रीगुरुवन्दना ही 'देहलीदीपक-न्याय' के अनुसार दोनों ओर बराबर प्रकाश प्रदान करके आराध्यदेव और इष्टदेवकी वन्दना कराकर कल्याणके साधन जुटाये हुए हैं । अब देखिये कि श्रीगुरुतत्त्वकी महत्ता कितनी ऊँची है ।

ऊपरके श्लोकमें 'शङ्कररूपिणम्' पद जो आया है, उससे पूर्ण-

रूप, सम्पूर्ण शरीर (पूरे दिव्यमङ्गलविग्रह) की वन्दना मानी जा सकती है। परन्तु इस भावको हृदयङ्गम करके श्रीगोस्वामीजी महाराज अपनी इस निष्ठाको स्पष्ट कर रहे हैं कि कहाँ तो अत्यन्त महान् गुरुतत्त्व और कहाँ मैं सब प्रकारसे दीन-हीन प्राणी; मेरा अधिकार कहाँ कि मैं श्रीगुरुदेवके पूर्ण विग्रह (रूप) की वन्दना करनेका साहस कर सकूँ। अतएव उन्होंने पुनः सोरठेमें अपनी अभिलाषा प्रकट की कि 'वंदउँ गुरु पद कंज', अर्थात् मैं समस्त रूपकी वन्दना करनेके योग्य अपनेको न मानकर केवल श्रीगुरुदेवजीके पद-कमलकी ही वन्दना कर रहा हूँ। परन्तु पदकमलकी भी महिमा तो अपार है; उस चरणकी भी वन्दना करनेका अधिकार मुझे कैसे हो सकता है ? अतः चौपाईमें उन्होंने यह निर्धारित किया कि 'वंदउँ गुरु पद पदुम परागा', अर्थात् श्रीगुरुदेवके चरणकमलकी भी वन्दना करनेका अधिकार मुझे नहीं है; उन निर्मल, निष्पाप, दिव्य कोमल चरणकमलोंको भी ध्यानमें अपने पापी, कलिग्रसित अन्तःकरणसे स्पर्शकर कैसे कलंकित करूँ; अतएव उन चरणोंके तलुओंमें जो रज (धूलि) लगी हुई है, केवल उस धूलिकी ही वन्दना करके अपनेको कृतार्थ कर रहा हूँ—श्रीगुरुदेवके पदकमलके पराग (रज) की ही वन्दना करता हूँ। कैसी है वह रजश्री ? 'सुरुचि सुबास सरस अनुरागा' है; तात्पर्य यह कि सुन्दर रुचि, सुन्दर वास (गन्ध) अर्थात् सुन्दर यश और अनुराग अर्थात् भगवत्प्रेमको सरस करने-वाली (बढ़ानेवाली) है।

यहाँपर सुरुचि, सुबास और अनुराग—ये तीनों शब्द क्रमशः मुक्ति, भुक्ति और भगवद्भक्ति इन तीनों परम अर्थोंको सूचित कर रहे

हैं। रुचि वही उत्तम कही जाती है जो पारमार्थिक हो, जो अपने मुख्य अर्थको सिद्ध करे। विनयपत्रिकामें कहा है—

मुख्य रुचि होत बसबेकी पुर रावरे
राम ! तेहि रुचिहि कामादिगन घेरे ॥

—यहाँ 'रावरे पुर बास' से मोक्षका ही भाव निकलता है। इस तरह सुरुचिसे मोक्ष (मुक्ति) सिद्ध हुआ। अब 'सुबास' अर्थात् सुन्दर यश कब प्राप्त होगा ? जब सब प्रकारसे वेदविहित धर्म-कर्म करते हुए लोकहितैषी पुण्यकर्म किये जायँगे—'पावन जस (यश) कि पुन्य बिनु होई।' इस तरह लोकख्याति सिद्ध हुई। अब तीसरे 'अनुराग' शब्दसे मुक्ति-भुक्ति दोनोंसे परे भगवान्‌में अनुराग (प्रेम) प्राप्त होना—भगवद्भक्ति सिद्ध हो रहा है। कहा है—

रामभगति सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ॥

इस प्रकार उस श्रीगुरुचरणरजका यह प्रभाव बताया गया कि केवल वह एक रजश्री ही लोकयश, परलोकप्राप्ति तथा अनुपम भक्तिको प्रदान करनेवाली है—'साधन एक सकल सिधि देनी।'

इस चौपाईके ठीक नीचे जो क्रमशः तीन चौपाइयाँ हैं, उनकी रचना मालूम होती है। इन्हीं तीनों शब्दोंके मुख्यार्थको सूचित करनेके लिये की गयी है। यथा—'सुरुचि' शब्दका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये पहले यह चौपाई दी गयी है—

अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू ॥

'चूरन' रुचिकारक होता ही है। कैसा भी अजीर्ण हुआ हो कोई भी चीज खानेकी रुचि न होती हो, परन्तु जहाँ निदानानुकूल

चूर्ण फाँका गया कि सब रोग शमन हो जाते हैं, डाक आती है, हाजमा ठीक होनेसे तुरंत भूख बढ़ती है और भोजनादिमें रुचि पैदा हो जाती है। इसी तरह श्रीगुरुचरणकी रज, जो कोई साधारण चूर्ण नहीं, बल्कि 'अमिअ मूरिमय चूरन' है—अमृत जड़ी, सञ्जीवनी बूटीसे ओतप्रोत चूर्ण है, समस्त भवरोगको नष्ट करके सुन्दर रुचि —परमार्थप्राप्तिकी रुचि पैदा कर देती है। शारीरिक रोगकी निवृत्ति होनेपर जैसे भोजनकी क्षुधा बढ़ती है, वैसे ही काम-क्रोधादि भवरोग (मानस-रोगों) की निवृत्ति होनेपर—

सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥

और जब बुद्धि विशुद्ध हो गयी तब पारलौकिक सुन्दर रुचि छोड़कर और अच्छा ही क्या लग सकता है? अतः यह चौपाई 'सुरुचि' शब्दकी ही पुष्टिके लिये दी गयी है।

'सुबास' शब्दके लिये यह दूसरी चौपाई है—

सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥

'सुकृत' अर्थात् पुण्यकर्मोंसे ही संसारमें यश होता है और पापकर्मोंसे अयश मिलता है—

पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई॥

यहाँपर शुभ कर्म शिवजीके शरीरके स्थानमें हैं, जिसको श्रीगुरुपदरजश्री विमल विभूतिकी भाँति शोभित और पवित्र बना रही है। अर्थात् जिस प्रकार श्रीशिवजी अपने इष्ट 'रामनाम' का उच्चारण (मुर्देको श्मशान ले जाते समय जो 'रामनाम सत्य है' की ध्वनि की जाती है, उसे) सुनकर संस्कार करनेवालोंमें सम्मिलित हो जाते हैं,

परन्तु संस्कार समाप्त कर घर लौटते समय वह उच्चारण न होनेके कारण उनका साथ छोड़कर श्मशानघाटमें वापस जाकर जले हुए शवकी राखको इष्टसम्बन्धी मानकर अपने शरीरमें धारण कर उसे पवित्र बनाते हैं (सिव अंग भूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी), उसी प्रकार समस्त पुण्यकर्म (सुकृत) श्रीगुरुचरणोंकी रजका आश्रय पाकर यथार्थ सफलताको प्राप्त होते हैं। शिष्यको जो कुछ भी सुकृति करनी हो, उसे अहंकर्तृत्वाभिमान छोड़कर करनी चाहिये; क्योंकि श्रीगुरुदेवकी चरणरजका अवलम्बन ही कल्याणकारी होता है। स्वयं श्रीमुखका वचन है कि—

गुर श्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥

गुरु और वेदके आदेशानुसार जो धर्म किये जाते हैं, उनके फल बिना परिश्रम ही प्राप्त होते रहते हैं; परन्तु बिना गुरुजनोंकी सम्मतिके हठपूर्वक यदि पुण्यकर्म भी किये जाते हैं तो वे क्लेशप्रद हो जाते हैं। अतः वह रजश्री सुकृतपोषक है और सुयशको भी सरस करनेवाली है; वह पवित्र मंगल और मोदकी खानि है।

इसी प्रकार 'अनुराग' शब्दकी ही पुष्टिके लिये यह चौपाई दी गयी है—

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥

अनुराग कब होता है? जब मन निर्मल होता है। जबतक मन-मुकुर मलिन है—

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना॥

क्योंकि—

अग्य अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥

—तबतक अनुराग कहाँ। श्रीमुखका वचन है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

तथा—

जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥

अतः अपने जनोंके मनके मलको भी हरकर अनुराग प्रदान करनेवाली वह रजश्री है, जिसे मस्तकपर चढ़ानेसे सब गुण वशमें हो जाते हैं।

इस प्रकार इन तीनों चौपाइयोंको रचकर उस रजश्रीका गुणगान करके श्रीगोस्वामीजीने जब अपनी वाणी, काया तथा मनको पवित्र बना लिया—'चूरन' का सेवन मुखसे होता है, इसलिये पहली चौपाईसे वचनकी शुद्धि हुई; 'सुकृत' शरीरसे किया जाता है, इसलिये दूसरी चौपाईसे काय-(कर्म) शुद्धि प्राप्त हुई; तथा 'अनुराग' (भक्ति) मनके निर्मल होनेपर होता है, इसलिये तीसरी चौपाईसे मनकी शुद्धि प्राप्त हुई,—तब उन्हें लालसा हुई कि श्रीगुरुदेवके दिव्य विग्रहमेंसे कम-से-कम चरणाङ्कके भी किसी अंशकी वन्दना कर लूँ, जिससे नित्य अङ्गसे सम्बन्ध जुड़ जाय। क्योंकि अभीतक जो रजकी वन्दना हुई है वह उस दिव्य वपुका तो अङ्ग है नहीं, वह तो पृथ्वीका अङ्ग है; वह बाहरकी वस्तु श्रीगुरुदेवके अङ्गका संग पाकर इस प्रभावको प्राप्त हो गयी है। अतएव पहले रजश्रीकी वन्दनाद्वारा मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्ध होकर नित्य अङ्गसे सम्बन्ध प्राप्त कर लेनेकी

अभिलाषासे श्रीगुरुदेवके दिव्य शरीरमेंसे केवल चरणोंके नखोंकी वन्दना करनेका साहस चौथी चौपाईमें आरम्भ किया गया है; वह भी पहले सबसे छोटी—कनिष्ठा अंगुलीके ही छोटे नखकी वन्दना करनेकी ढिठाई इस चौपाईमें लक्षित हो रही है—

श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥

श्रीगुरुचरणके (सबसे छोटे) एक नखकी आभा किस प्रकारकी है, मानो बहुत-सी मणियोंका ढेर हो और उसमेंसे सबकी एक साथ मिली हुई ज्योति निकल रही हो; उस कनिष्ठाके छोटे नखका प्रभाव यह है कि उसके स्मरणमात्रसे हृदयके दिव्य नेत्र (ज्ञान, वैराग्य) खुल जाते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस तरह इस चौथी चौपाईमें छोटे नख (कनिष्ठा) की वन्दना आरम्भ करके पाँचवीं चौपाईमें अँगूठेके बड़े नखकी वन्दना करके तथा उसकी महिमा बताकर पदकमलके पाँचों नखोंको वन्दनीय भावमें सम्पुटित किया गया है। पाँचवीं चौपाई है—

दलन मोह तम सोसु प्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥

अर्थात् श्रीगुरुचरणके अँगूठेकी प्रभा तो सोसु अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशवाली है, जो मोहरूप अन्धकारका निःशेष निराकरण कर देती है। बड़े भारी सुकृतका जब उदय होता है, तब उसका आविर्भाव अन्तःकरणमें होता है।

रामायणकी बहुत-सी प्रतियोंमें 'सोसु प्रकासू' न छपकर 'सो सुप्रकासू' इस तरह पाठ छप गया है, जिससे टीकाकारोंको 'वह सुन्दर प्रकाश' ऐसा अर्थ करना पड़ा है। परन्तु यदि हम उससे

मणिगणज्योतिका निर्देश मान लें तो यह दोष खड़ा हो जायगा कि उससे मोह-तमकी पूरी निवृत्ति सम्भव न होगी। क्योंकि तमका पूरा-पूरा नाश तमारि (सूर्य) के अतिरिक्त मणि, पावक आदि किसी दूसरे पदार्थके प्रकाशसे नहीं हो सकता। इसका प्रमाण इस दोहेमें मौजूद है—

राकापति षोड़स उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥

अतः यहाँपर 'सोसु' पाठ ही शुद्ध है जिसका अर्थ सूर्य होता है। अब यहाँ कोई यह शङ्का कर सकता है कि 'नखकी ही उपमा एक बार मणिगणसे देकर पुनः सूर्यसे क्यों दी गयी?' इसका समाधान उपर्युक्त भावार्थसे हो जाता है कि मणिगणकी उपमा कनिष्ठा-के छोटे नखके लिये दी गयी है और 'सोसु' (सूर्य) की उपमा अँगूठेके बड़े नखके लिये; और इस तरह सम्पुटरूपमें सबसे छोटे और सबसे बड़े नखको लेकर पूरे चरणके पाँचों नखोंकी वन्दना कर ली गयी है तथा एकके प्रतापसे हृदयमें दिव्य दृष्टिका होना एवं दूसरेके प्रतापसे मोह-तमका आत्यन्तिक निराकरण होना सिद्ध किया गया है। इसी कारण छठी चौपाईके दोनों चरणोंमें क्रमशः हृदयमें दिव्य दृष्टि (बिमल बिलोचनके उघार) का होना और मोह-तम (भव-रजनीके दोष-दुःख) का मिट जाना स्पष्ट कर दिया गया है। छठी चौपाई है—

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥

तात्पर्य यह कि उन नखोंका स्मरण हृदयमें होते ही ज्ञान-विरागरूपी हृदयके दोनों विमल विलोचन खुल जाते हैं और संसार-

रूपी रात्रिके दोष (अन्धकाररूप अज्ञान) तथा दुःख (असूझरूप आसक्ति) दोनोंके मिट जानेसे मोह-तमकी पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। तब—

सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥

श्रीरघुनाथजीके ऐश्वर्य और माधुर्यके गुप्त और प्रकट चरित्र जो मणि और माणिक्यरूप हैं, वे सब उसी तरह सूझने लगते हैं जिस तरह सुअञ्जन (सिद्धाञ्जन) लगा लेनेपर जिस जगह और जिस खानमें मणि-माणिक्य होते हैं, वहाँ वे आसानीसे दिखायी देने लगते हैं। इसी बातको नीचेके दोहेमें उपमा देकर स्पष्ट किया गया है—

जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥

जिस प्रकार सिद्धाञ्जन लगाकर साधक केवल शैल (पथरीली पृथ्वी) का, सिद्धलोग केवल वनका तथा सुजानलोग सम्पूर्ण भूतलका कौतुक देख लेते हैं उसी प्रकार श्रीगुरु-पद-रजसे मन-मुकुरको निर्मल कर तथा श्रीगुरु-पद-नखके मणिवत् और सूर्यवत् प्रकाशके द्वारा हृदयमें दिव्यदृष्टि प्राप्तकर तथा मोह-तमका नाश करके सम्पूर्ण गुप्त और प्रकट श्रीरामचरितके देखनेकी शक्ति प्राप्त की जाती है, परन्तु सिद्धाञ्जन लगानेवालोंको मणि-माणिक्यादि देखना इष्ट होता है, जिन्हें वे शैल, वन और भूतलमें खोजकर प्राप्त करते हैं; श्रीगोस्वामीजीको मणि (सर्पकी मणि*)-रूप श्रीरामजीका ऐश्वर्यचरित और माणिक्य

* वैसे तो साधारण तौरपर मणिका अर्थ भी पर्वतकी मणि (हीरा) ही माना गया है। जैसे—

(लाल)-रूप श्रीरामजीका माधुर्यचरित देखना इष्ट है, जिनका प्रत्यक्ष श्रीगुरुदेवकी उपर्युक्त वन्दनाके प्रतापसे उन्हें अपने हृदयमें ही हो रहा है। इसके स्पष्ट प्रमाण ग्रन्थभरमें मिलते हैं। जैसे,

गुप्त ऐश्वर्यचरित—

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

पावन परबत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥

× × × ×

भाव सहित जो खोजइ प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥

परन्तु जहाँ 'माणिक' के साथ 'मणि' का प्रयोग हुआ है, वहाँ अहि (सर्प) की मणि ही अर्थ निश्चित हुआ है।

जैसे—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥

अतः यहाँ मानिकके साथ 'मनि' शब्दका अर्थ सर्पकी ही मणि होगा। सर्पकी मणिकी उपमा ऐश्वर्यचरितसे दी गयी है; क्योंकि जैसे मणि सर्पका सार अङ्ग है, मणिके विना उस मणिवाले सर्पकी जिंदगी ही नहीं और न सर्पके विना उस मणिकी ही स्थिति है, वैसे ही ऐश्वर्य श्रीराम (ब्रह्म) का सहज स्वरूप है, श्रीरामतत्त्व ऐश्वर्यहीन है ही नहीं। और पर्वतके माणिक्य (लाल) की माधुर्यचरितसे उपमा दी है; क्योंकि पर्वतोंका अस्तित्व लालकी खानके सहित और रहित दोनों दशाओंमें सिद्ध है। इसी प्रकार श्रीरामजी गुणातीत ऐश्वर्यवाले होकर भी अपने भक्तोंके लिये निज इच्छानुसार माधुर्य-चरितको भी ग्रहण कर लेते हैं—

नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥

प्रकट ऐश्वर्यचरित—

'छुअत सिला भई नारि सुहाई ।'

तथा—

'मुनि समूह महँ बैठे सनमुख सब की ओर ।'

गुप्त माधुर्यचरित—

'गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा ।'

तथा—

'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए ।'

प्रकट माधुर्यचरित—

'सुनि गुर बचन चरन सिर नावा । हरष बिषाद न कछु उर आवा ॥

—इत्यादि

इससे आगे दो और चौपाइयोंको रचकर गुरुवन्दना समाप्त की गयी है । वे चौपाइयाँ हैं—

गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन ॥
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन । बरनउँ राम चरित भव मोचन॥

अर्थात् श्रीगुरुदेवकी चरण-रज ही 'नयन अमिअ' कोमल और स्वच्छ अञ्जन है, जो नेत्रोंके दोषको विशेषरूपसे नष्ट कर देनेवाला है । उस रज-अञ्जनसे अपने विवेक-विलोचनको विमल करके संसारसे छुड़ानेवाले श्रीरामचरितका वर्णन कर रहा हूँ ।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि श्रीगुरु-पद-रज सूखी वस्तु है और उसकी उपमा भी ऊपर चूर्ण और विभूति इत्यादि सूखी-सूखी वस्तुओंसे ही देते चले आये हैं; अब उसी धूलिको अञ्जन कैसे बना

लिया गया ? क्योंकि अञ्जन सूखा नहीं होता । जबतक किसी तरह (जल, स्नेह आदि) पदार्थका संयोग न हो, तबतक शुष्क वस्तु गीली कैसे बन जायगी ? अतएव यहाँपर जो बड़े मर्मकी बात लक्ष्य करायी गयी है, वह है शिष्यकी निष्ठाका सप्रमाण वास्तविक स्वरूप ! श्रीगुरुदेवकी रजश्रीमें तो सब सामर्थ्य मौजूद हैं ही; परन्तु उसका ठीक उपयोग करना उन्हीं बड़भागी, शुद्ध निस्स्वार्थ अनुरागवाले शिष्योंके ही भाग्यमें होता है, जिनके ललाट, नेत्र, नासिका, अधरादिमें सदैव उस रजश्रीकी छाप लगी रहती है, जो प्रेमाश्रुसे डबडबायी हुई आँखोंसे उस रजश्रीको उठाते हैं । जब शिष्य उस प्रेमदशामें विह्वल, पुलकाङ्ग होकर सजल नेत्रोंसे उस रजका चुम्बन करते हैं तब उन सच्चे, शुद्ध शिष्योंके प्रेमाश्रुसे भीग-भीगकर वह रज अञ्जनका रूप धारण कर लेती है । अतएव इस अञ्जनकी उपमासे शिष्यकी प्रेमनिष्ठा सूचित होती है । अर्थात् जब शिष्यकी ऐसी प्रेमनिष्ठा होती है, तब वह उस रजश्रीको अञ्जन बना लेता है और उससे अपने विवेकादि विलोचनोंको विमल करके कृतार्थ होता है । श्रीग्रन्थकार अपनी इस दशाका चित्र-सा खींचकर कह रहे हैं कि "इस प्रकारसे 'तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन', उस रजश्रीको अञ्जन बनाकर, उससे अपने हियके विवेकादि विलोचनोंको विमल करके 'श्रीरामचरित भव-मोचन' का वर्णन कर रहा हूँ ।"

सि

'सीयावर रामचन्द्रकी जय !'

श्रीमानसगत रामगीता

रामगीता श्रीरघुनाथजीके श्रीमुखका उपदेश है, जिसे उन्होंने अपने अतिप्रिय अवधवासियोंको दिया था। यह गीता रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें—

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए॥

—इस चौपाईसे आरम्भ हुई है तथा चार अष्टपदियों और चार दोहोंमें वर्णित होकर—

सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबन्हि पद कृपाधाम के॥

—इस चौपाईपर समाप्त हुई है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके हस्तलिखित मानस-बीजककी चतुर्थ प्रतिके अनुसार श्रीकोदवरामजी-द्वारा सम्पादित जो प्रामाणिक प्रति संवत् १९५२ में बम्बईके वेंकटेश्वर-प्रेससे प्रकाशित हुई थी, उसमें इस प्रसङ्गके ऊपर 'अथ रामगीता प्रारम्भ' और नीचे 'इति रामगीता समाप्त' छपा हुआ है।

रामगीताका प्रसंग आरम्भ करनेके पूर्व श्रीग्रन्थकारने यह दोहा लिखा है—

जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरि कथाँ न करहिं रति तिन्ह के हिय पापान॥

इस दोहेसे तथा रामगीताके आरम्भकी निम्नलिखित चौपाइयोंसे विचारशील पाठकोंको पता चल जायगा कि यह हरिकथा (रामगीता) कितने महत्त्वकी है। रामगीताके कथनकी भूमिकामात्रमें ही पहली अष्टपदीको लगभग समाप्त कर दिया है—

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुरु द्विज पुरवासी सब आए॥
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भव भंजन॥
सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

इन छः चौपाइयोंतक तो दिये जानेवाले उपदेशका आरम्भ भी नहीं हो सका है। अभी केवल भूमिका ही बाँधी जा रही है और रहस्यपूर्ण ढंगसे इस बातका स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि जो उपदेश दिया जानेवाला है, उसमें ममताका लेश भी नहीं है, उससे अनीति अथवा प्रभुत्वका कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि श्रोताओंको इस बातकी स्वतन्त्रता है कि वे कथनमें अनीतिसम्बन्धी भ्रमकी यत्किञ्चित् प्रतीति होनेपर भी निर्भय होकर रोक-टोक कर दें और सुननेके पीछे जो बात पसंद आ जाय, उसे ही ग्रहण करें। इतनी स्वाधीनता प्राप्त होनेपर भी यदि कहीं कुछ ग्रहण हो जाय तो उसका लाभ इतना भारी है कि वही श्रोता (जीव) वक्ता (भगवान्) का सबसे बढ़कर प्यारा होगा तथा वही उनका वास्तविक सेवक होगा। इतना औदार्य है! धन्य हो दयासिन्धो!

अब इन चौपाइयोंका सरलार्थ पढ़िये। एक बार श्रीरघुनाथजी महाराजने सार्वजनिक सभा (आम दरबार) की। उसमें सभी अवधपुरवासी बुलाये गये। अर्थात् सभामें गुरु वशिष्ठादिसहित सम्पूर्ण द्विजमण्डली, श्रीभरतादि तीनों भाई, विरक्त मुनिगण (कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी। बसहिं ग्यान रत मुनि संन्यासी॥) तथा

समस्त गृहस्थाश्रमी एवं सज्जन प्रजागण आ-आकर यथास्थान बैठे। तत्पश्चात् स्वभक्तोंका भव-भय दूर करनेवाले श्रीरघुनाथजीने आदेश करना आरम्भ किया। उन्होंने कहा—"हे पुरवासीवृन्द! आपलोग मेरे वचन सुनिये। मैं जो कुछ कहता हूँ, उसमें मेरी कोई ममता नहीं है। तात्पर्य यह है कि आपलोग मेरी बातोंको मेरी प्रसन्नताके लिये खामखाह मान ही लें, ऐसा मेरा कोई आग्रह नहीं है। (यहाँ 'ममता' शब्दका अन्वय 'बानी' के साथ करना ही ठीक है, क्योंकि पुरजनोंपर तो प्रभुकी अत्यन्त ममता है ही—'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी') परन्तु आग्रह न होनेका यह मतलब भी नहीं कि मेरे वचन नीतिविरुद्ध होंगे। मैं इस भावसे कुछ भी नहीं कहूँगा कि आपलोग उसे राजाज्ञा समझकर मानें ही। मेरे वचनोंसे प्रभुताका भी कोई सम्बन्ध नहीं है। आप लोगोंको पूरी स्वतन्त्रता है। श्रवण करनेके पश्चात् यदि मेरे वचन आपलोगोंको सुहायें—रुचें, तभी आपलोग उनका पालन करेंगे। इस प्रकार अपने स्वतन्त्र विचारसे जिस किसीको मेरे अनुशासन मान्य होंगे, वही मेरा सेवक तथा मेरे लिये सबसे बढ़कर प्यारा होगा। हे पुरवासी भाइयो! यदि मेरे भाषणमें कुछ भी अनीति जान पड़े तो आपलोग निडर होकर मुझे रोक दें, मैं आपलोगोंको इस बातका पूरा अधिकार देता हूँ।"

यहाँपर पुरवासियोंको 'भाई' कहकर सम्बोधित करना कितना मधुर और निर्भयकारक है। यह आवश्यकता पड़नेपर श्रोताओंमें बरजनेका साहस पैदा कर देता है। वस्तुतः जीवमात्रके सच्चे कल्याणका पारमार्थिक उपदेश ग्रहण करनेके लिये जबतक श्रोताओं-

को स्वतन्त्रता और श्रद्धासे संयुक्त श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनका अवसर नहीं दिया जायगा तबतक उनके हृदयोंमें स्थित कुछ भी संकोच, भय अथवा आशाके कारण वह उपदेश हृदयग्राह्य और स्थायी न होगा। अस्तु,

उपर्युक्त आवश्यक कथनके पश्चात् मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके श्रीमुखसे अब परम अनुपम सर्वगुह्यतम वचन उसी प्रकार आरम्भ होते हैं, जिस प्रकार उनके दूसरे अवतार लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें अर्जुन-को अपना उपदेश—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

—इत्यादि चरम मन्त्रके रूपमें प्रदान किया था। भगवान् श्रीरघुनाथजी महाराज परम हितवार्तके श्रवणार्थ सभामें एकत्रित हुए समस्त गृहस्थाश्रमियों, विरक्तों और पुरवासियोंसे कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

अर्थात् "हे सज्जनवृन्द! आपलोगोंने बड़े भाग्यसे यह मनुष्य शरीर पाया है। सच्छास्त्रोंमें कहा गया है कि मनुष्ययोनि बड़े महत्त्वकी है। मानव-शरीर देवताओंको भी दुर्लभ है; क्योंकि साधन-योनि यही है, देवयोनिमें साधन नहीं होता। वहाँ केवल सुकृत कर्मोंका भोग होता है। अतः देवताओंकी भी यही अभिलाषा रहती

है कि यदि उन्हें मनुष्ययोनि मिल जाती तो वे समुचित साधनाओंके द्वारा अपने जन्म-मरणके बन्धनको छिन्न-भिन्न कर डालते और मोक्ष प्राप्त कर लेते, क्योंकि मोक्षका द्वार एकमात्र यह मनुष्यतन—

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी । ग्यान बिराग सकल गुन देनी ॥

—ही है । इसीके द्वारा सारी साधनाएँ हो सकती हैं, अन्य किसी योनिमें साधन नहीं बन पाते । अतः ऐसी सुरदुर्लभ साधन-धाम योनिको पाकर भी जिसने अपना परलोक नहीं बनाया, वह निश्चय ही दुःख भोगेगा तथा माथा पीट-पीटकर ईश्वर और कर्मको झूठा दोष लगा-लगाकर पछतायगा ।"

यहाँपर यह शंका हो सकती है कि यदि ऐसी बात है तो अवधकाण्डमें कैकेयी अम्बाके प्रति इन्हीं श्रीरघुनाथजीके श्रीमुखवचन दूसरी तरहके क्यों हैं ? यथा—

पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी । काल करम बिधि सिर धरि खोरी ॥

—इसका सहज समाधान यह है कि देही (आत्मा) और देह (शरीर)—ये दो पदार्थ हैं । शरीरके जितने सम्बन्ध और व्यवहार हैं उनसे काल, कर्म और ईश्वरका सम्बन्ध अवश्य ही है । कालानुसार, कर्मानुसार और ईश्वरके आज्ञानुसार शरीरको सुख-दुःखका प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है; उसमें वह स्वतन्त्र न होकर सर्वथा परतन्त्र है । बस, इसी दृष्टिसे अयोध्याकाण्डमें मनुज-अनुहारी सुख-दुःख-भोगविषयक निजकृत कर्मका प्रबोध किया गया है । परन्तु यहाँपर यह बात है कि जीवात्माको परलोक-साधनके क्रियमाण कर्मोंमें काल, कर्म और ईश्वर बाधा नहीं पहुँचाते । यह जीवका ही

अपराध है कि कर्म करनेकी स्वतन्त्रता पाकर भी वह उत्तम कर्म भगवदर्थ नहीं करता और परम लाभसे वञ्चित रह जाता है। इसीको लक्ष्यमें रखकर काल, कर्म और ईश्वरपर उसके द्वारा मिथ्या दोष लगानेकी बात कही गयी है। अतएव अपने-अपने स्थानपर उपर्युक्त दोनों ही प्रकारके वचन सार्थक एवं यथार्थ हैं।

श्रीरघुनाथजी फिर कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

"भाइयो! इस मनुष्य-तनकी प्राप्तिका फल सांसारिक विषय-भोग नहीं है। सांसारिक विषय-भोगोंकी बात कौन कहे, स्वर्गादिके विषय-सुख भी एक तो सीमित होते हैं, दूसरे अन्तमें दुःखदायी होते हैं। क्षय और वृद्धिका विकार वहाँ भी लगा हुआ है। वहाँ भी जीव एक दूसरेको अपनेसे अधिक सुखी देखकर डाहसे जलते रहते हैं और जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वहाँसे च्युत होकर मृत्युलोकमें गिर पड़ते हैं ('क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं'—गीता ९। २१)। अतः नरशरीर पाकर जो विषयोंमें मन लगाते हैं वे मूर्ख अमृतको

देकर बदलेमें विष ले रहे हैं। क्या उन व्यक्तियोंको भी कोई भला कह सकता है, जो प्राप्त पारसमणिको अपने हाथोंसे फेंककर बदलेमें घुँघची ग्रहण करते हैं!"

यहाँ एक विचारणीय प्रसङ्ग आ गया है, अतः इसपर विचार करनेके बाद भगवद्वचनोंको उद्धृत करेंगे। बात यह है कि एक ही बातके लिये एक ही प्रसङ्गमें दो उपमाओंके देनेकी क्या आवश्यकता थी। या तो सुधाके बदलेमें विष लेनेकी बात कह दी जाती या पारसमणिके बदलेमें गुंजा ग्रहण करना ही कह दिया जाता। प्रयोजन तो एकसे भी सिद्ध हो सकता था। इस शंकाके समाधानार्थ यह निवेदन है कि यहाँकी दोनों उपमाओंमें गूढ़ रहस्य है। यह उपदेश जीवमात्रके लिये हो रहा है और मानवसमाजमें समीचीन मार्ग सदासे दो श्रेणियोंमें विभक्त है—एक गृहस्थसमाजका प्रवृत्तिमार्ग दूसरा विरक्त-समाजका निवृत्तिमार्ग। इस सभामें भी प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गी समस्त अयोध्यावासी एकत्रित हैं। ऊपरके प्रसङ्गमें यह बात स्पष्टतः आ चुकी है कि सभामें अवधवासी गृहस्थ सज्जनोंका तथा सरिता-तीर-निवासी ऋषि-मुनि, विरक्त महात्माओंका—दोनों दल विराजमान है। अतः सुधा पलटकर विष लेनेकी जो पहली उपमा दी गयी है, वह प्रवृत्तिमार्गियोंके लिये है। 'नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं' कहकर यह स्पष्ट किया जा रहा है कि प्रवृत्तिमार्गपर चलते हुए लोगोंके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग उचित नहीं है तथा असम्भव-सा भी है। अतः केवल मनसे ही उनका त्याग करना चाहिये, जो सम्भव भी है। तात्पर्य यह कि प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थाश्रमियोंको दृढ़ निष्ठाके साथ यह निश्चय कर रखना चाहिये कि 'हम, हमारा सारा परिवार

धन, जन आदि सब कुछ, यहाँतक कि यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का ही है और हम श्रीभगवान्‌की आज्ञासे यहाँ सबके साथ उचित व्यवहार करनेके लिये मैनेजर या सेवक नियुक्त किये गये हैं। जिस प्रकार हमारे पूर्वज अपनी-अपनी आयु पूरी करके चले गये, वैसे ही हम भी अपनी पारी पूरी करके इनसे अलग हो जायँगे। इसलिये कोई भी हमारे नहीं हैं, सब भगवान्‌के ही हैं।' इस तरह प्रत्येक गृहस्थाश्रमीको अपने मनमें पूर्णरूपसे निश्चय करके अपने सब कार्य उसी खूबीके साथ करते रहने चाहिये, जिस तरह किसी राज्यका एक ईमानदार और परिश्रमी मैनेजर सम्पूर्ण राज्यकार्योंको अपनेकी भाँति समझकर ही करता है, परन्तु स्वप्नमें भी न तो उस राज्यको अपना मानता है और न उसके धन और लाभमें अपना कोई स्वत्व समझता है। तथा न किसी खास काममें या उसके फलमें अपनी खास आसक्ति या कामना रखता है। अस्तु, श्रीरघुनाथजी महाराजका यही कहना हो रहा है कि जो प्रवृत्तिमार्गी उपर्युक्त भावानुसार कुछ भी अपना न मानकर तथा अपने मनको भगवान्‌में लगाकर निष्काम भावसे भगवदर्पण-बुद्धिसे व्यवहार करता है, वह अमृत-तुल्य मनुष्य-देहके सुयोगको सफल बनाकर अमृतस्वरूप मोक्षकी प्राप्तिका अधिकारी होता है। परन्तु जो इस भावके प्रतिकूल आचरण करते हैं, यानी सबको अपना मानकर अपनेको ही सबका कर्त्ता-भोक्ता निश्चित करके विषयासक्त मनसे विषयोंमें ही रमे रहते हैं, वे शठ हैं तथा अमृतरूप नरतनुके सुयोगको नष्ट करके विषयरूपी विषको ग्रहण कर रहे हैं, जिससे उन्हें मोक्षप्राप्तिकी जगह उलटे चौरासी लाख योनियोंमें गिरकर महान् दुःखागारमें सड़ना पड़ेगा।

दूसरी उपमा जो पारसमणिको खोकर गुंजा ग्रहण करनेकी दी गयी है, वह निवृत्तिमार्गियोंके लिये है, जिन्होंने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १।१।१) के अनुसार पूर्वमीमांसादि समस्त कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करके संन्यास ले लिया है। तात्पर्य यह कि जो लोग मनुष्य-तन पाकर, जिसका फल विषयभोग है ही नहीं, उसे वास्तवमें सफल बनानेके लिये समस्त प्रपञ्चोंसे मुख मोड़कर निवृत्तिको प्राप्त कर चुके हैं, अर्थात् चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट होकर काषाय-वेष धारण कर चुके हैं वे ही यदि सांसारिक प्रवृत्तियोंके प्रपञ्चोंमें फँसते हैं यानी जिस कर्मका न्यास किया था उसीमें पुनः प्रवृत्त होते हैं तो मानो वे अनमोल पारसमणि को फेंककर गुंजा [घुँघची, जो दमड़ीभरकी चीज भी नहीं है] ग्रहण कर रहे हैं।

इस प्रकार गृहस्थोंके लिये दी गयी पहली उपमामें, मन शब्दका प्रयोग किया गया है और दूसरी उपमामें, जो संन्यासियोंके लिये है ग्रहइ शब्दका प्रयोग करके कर्मेन्द्रिय (हाथ) की ही क्रिया ग्रहण-द्वारा उनके क्रमको लक्षित कराया गया है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी नोट करने लायक है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजीके श्रीमुखसे गृहस्थाश्रमियों (प्रवृत्तिमार्गियों) की चूकपर तो उन्हें 'शठ' कहा गया है (पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं); परन्तु विरक्तवेष-धारियोंको उनके वेषकी मर्यादा रखनेके लिये उनकी बड़ी चूकपर भी ऐसी कोई बात नहीं कही गयी है बल्कि बड़ी नरमीसे उनके लिये कहा जा रहा है कि ऐसी भयङ्कर गलती करनेपर भी क्या उन्हें कोई कभी भला कह सकता है—'ताहि कबहुँ भल कहइ

कोई ।' अस्तु, इन दोनों उपमाओंद्वारा संसारके दो मानवसमाजों—प्रवृत्तिमार्गियों और निवृत्तिमार्गियोंके सुधारका सन्मार्ग बतलाकर दोनोंके परलोकसाधनका हितोपदेश कथन किया गया है ।

अब भगवान्‌के परम कल्याणकारी उपदेशोंकी ओर आइये । वे अपने श्रीमुखसे कहते हैं—'हे पुरवासियो ! अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और स्थावर—इन चार प्रकारकी सृष्टियोंमे चौरासी लाख योनियाँ* हैं । इन सबमें यह जीव मायाकी प्रेरणासे काल, कर्म, गुण

---

* स्थावरं विंशतिर्लक्षं जलजं नवलक्षकम् ।
कूर्मश्च रुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणाम् ॥
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः ।
ततो मनुष्यताप्राप्तिस्ततः कर्माणि साधयेत् ॥

अर्थात् इस जगत्‌में २० लाख वृक्षादि, ९ लाख जलज, ११ लाख कछुए (जो जल-थल दोनोंमें रहा करते हैं), १० लाख पक्षीगण, ३० लाख पशु (चौपाये), ४ लाख वंदर यानी कुल ८४ लाख योनियाँ हैं ।

मनुष्ययोनि इनके बाद है, जिसमें कर्म करनेका अधिकार होता है । इसीलिये मनुष्ययोनिको कर्मयोनि अथवा 'साधनधाम' कहा जाता है । मनुष्ययोनिके सिवा इस भूलोककी चौरासी लाख योनियाँ तथा स्वर्ग-नरकादि अन्यान्य लोकोंकी सभी योनियाँ भोगयोनियाँ हैं । इन सब योनियोंमें जा-जाकर जीव अपने किये हुए कर्मोंका भोगमात्र कर सकता है । मनुष्ययोनिकी तरह इन योनियोंमें जीवको कर्म (साधन) करनेका अधिकार और अवसर प्रायः बिल्कुल नहीं है । अतः मनुष्ययोनिमें पैदा करके भगवान् जीवको यह अवसर देते हैं कि वह साधन करे तथा अपना उद्धार करके संसृतिके जन्म-मरणादि क्लेशोंसे छुटकारा पा जाय । भगवत्कृपाके अतिरिक्त और किसी उपायसे जीवको नर-तनकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अन्यान्य योनियोंमें किसी प्रकारके साधनका अवसर ही नहीं मिलता कि जीव कोई

और स्वभावसे घिरकर अर्थात् इनके वशीभूत होकर भटकता रहता है पर उसके लिये मनुष्ययोनि बहुत ही दुर्लभ है। इस नरदेहको तो करुणानिधान श्रीपरमेश्वर, जो बिना स्वार्थके अकारण ही सब जीवोंपर दया और स्नेह रखते हैं, बड़ी करुणा करके देते हैं। हे सभासदो! यह नर-तन भवसागरसे तरनेके लिये बेड़ा है और उस बेड़ेको पार करनेके लिये अनुकूल वायुके स्थानपर मेरा अनुग्रह है। सच्चे संत और सद्गुरु कर्णधार हैं* इस प्रकार तीनों दुर्लभ साज मानवमात्रके लिये सुलभ हैं। ऐसा संयोग पाकर भी जो जीव भवसागर पार नहीं हो जाता वह कृतघ्न, दुर्बुद्धि, आत्महत्यारा और व्यर्थजीवी है†।'

सुकर्म करके मनुष्य-तन पानेका हकदार बने। भगवत्कृपाके प्राप्तिकालपर भी जीवका कोई वश नहीं है। अतः जिन जीवोंपर भगवत्कृपा हो चुकी है अर्थात् जो मनुष्य-तन पा चुके हैं, वे यदि इसी जीवनमें अपना परलोक नहीं बना सके तो उनके-जैसा मूर्ख तथा कृतघ्न और कौन होगा? वे फिर किस मुँहसे ईश्वरीय करुणाकी याचना करेंगे? उनके लिये तो अनन्त कालतक हाथ मल-मलकर पछताने और दुःख भोगनेके सिवा और कोई चारा ही नहीं रह जायगा। इसीलिये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने विनय-पत्रिकामें 'तुलसिदास एहि अवसर चूकें का पुनि कै पछिताएँ' 'मन पछितैहै अवसर बीतें' या 'तुलसी तोहि बिसेष बूझिये' आदि कहा है।

* कर्ण कहते हैं पतवारको, जो नावोंके सिरेपर टँगा और जलमें लटकाया रहता है। मल्लाह उसीको घुमा-घुमाकर जिधर जाना चाहते हैं, उधर नावको सीधी करके ले जाते हैं। इसी कारण अर्थात् कर्ण (पतवार) को बलपूर्वक धारण करनेके नाते मल्लाह कर्णधार कहलाते हैं।

† भगवान्‌ने तीनों साजोंको इस प्रकार गिनाया है—(१) जलयानके स्थानमें नर-तन (मनुष्य-शरीर), (२) अनुकूल मरुत् (वायु)

यहाँ एक बात बड़े रहस्यकी आ पड़ी है ! वह यह कि श्रीरघुनाथजी महाराज अबतक तो अपने कथनमें ईश्वरको अन्य पुरुषके रूपमें कहते आये हैं यथा—'ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाई' या 'देत ईस बिनु हेतु सनेही' इत्यादि; परन्तु अब 'सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो'—इस चौपाईसे यह स्पष्ट हो गया कि वह 'ईश्वर' मैं स्वयं ही हूँ । अब आगे भी वे बराबर ऐसे ही स्पष्ट शब्दोंका प्रयोग करेंगे, जैसे—'भगति मोरि पुरान श्रुति गाई' तथा 'मोर दास कहाइ नर आसा' इत्यादि । इसका कारण और कुछ नहीं, भगवान् श्रीरामजीकी असीम करुणा है । ज्यों ही 'करुणा' शब्दके उच्चारणका प्रसङ्ग आया है—'कबहुँक करि करुना नरदेही' त्यों ही श्रीकरुणाधाम दयानिधानसे रहा नहीं गया, उनकी करुणाका समुद्र उमड़ पड़ा, जिसको सँभाल न सकनेके कारण वे खुलकर, प्रकट होकर 'मेरा', 'मोर' आदिका स्पष्ट कथन करने लगे कि 'जिस प्रकार करुणा करके मैंने आपलोगोंको मनुष्य-तन दिया, उसी प्रकार आज करुणा करके मैं समस्त पुरवासियोंको मोक्षाधिकारी भी बना रहा हूँ !'

के स्थानमें 'मेरी' अर्थात् भगवान्की दया और (३) कर्णधारके स्थानमें सद्गुरु । इन तीनोंको दुर्लभ इसलिये कहा कि न तो नर-तनकी प्राप्ति ही सुलभ है और न भगवान्की दया ही किसीके वशकी चीज है । फिर सद्गुरुओंकी दुर्लभता तो प्रसिद्ध ही है—

'सतसंगति दुर्लभ संसारा । निमिष दंड भरि एकहुँ बारा ॥'

श्रीमद्भागवतमें इसी भावका एक श्लोक आया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

कोई-कोई 'सन्मुख मरुत' के लिये शंका किया करते हैं कि 'जो वायु आगेसे पीछेको दबायेगी, वही सम्मुखीन वायु होगी। फिर कैसे सङ्गति बैठेगी ? इसका इस प्रकार अनुकूल समाधान कर लेना चाहिये कि जैसे कोई नाव प्रयागसे काशीकी ओर बही चली जा रही है, परन्तु उसके सामनेसे पुरवा हवा बहने लगी और कर्णधारने पाल तान दिया; फलतः वह नाव लौटकर अपने पहले मुकामपर अर्थात् प्रयाग पहुँच जायगी। वैसे ही यह जीव भगवत्पादारविन्दसे छूटकर मायाके प्रवाहमें पतित होकर संसारसागरकी ओर बहा चला जा रहा है। ऐसी स्थितिमें यदि भगवान्‌के अनुग्रहने सम्मुख वायुके रूपमें सहायता की एवं श्रीसद्गुरुरूप कर्णधारने सत्संगरूपी पाल तानकर 'अपनपौ' की डोरियोंको कड़ा कर दिया तो यह विमुखी यात्री जीव लौटकर अपने नित्य निजस्थान श्रीप्रभुके ही श्रीचरणोंमें वापस आ जायगा। वास्तवमें यहाँ प्रसङ्गानुसार 'सन्मुख' का अर्थ 'अनुकूल' ही है, जैसा कि भागवतके उद्धृत श्लोक 'मयानुकूलेन नभस्वतेरितं' में स्पष्टतः बतलाया गया है। अस्तु, यहाँतक दो अष्टपदियाँ पूरी हुईं; अब तीसरी आरम्भ होती है—

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा॥

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

श्रीरघुनाथजी महाराज माधुर्यलीलाके आवरणको हटाकर अपने दिव्य गुण करुणासे द्रवीभूत हो गये हैं तथा अपनेको भगवान् घोषित कर चुके हैं; फिर भी दयार्द्र चित्तसे कितने मीठे-मीठे शब्दोंमें हितोपदेश कर रहे हैं। वे कहते हैं—'भाइयो! यदि लोक, परलोक दोनों जगहोंमें सुखी जीवन व्यतीत करना चाहते हो तो मेरे वचनोंको श्रवण करके दृढ़तापूर्वक हृदयमें धारण करो।* मेरी भक्तिका मार्ग सहज ही प्राप्त होनेके कारण सुलभ है, किसी प्रकारके साधनादिका प्रयास न होनेके कारण सुखद है एवं वेद और पुराणोंसे गाया गया है। ज्ञानमार्ग एक तो अगम्य है, दूसरे उसमें अनेकों विघ्न (प्रत्यूह) आते रहते हैं—

'बिघ्न अनेक करै तब माया।''

तथा—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

तीसरे उसके साधन कठिन होते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥

और चौथे, मनको रोकने—स्थिर करनेके लिये उसमें कोई अवलम्बन ही नहीं है। तात्पर्य यह कि भक्तिमार्गमें मेरे नाम, रूप,

---

* यहाँ भगवान् अपने सदुपदेशको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी बात कहनेके पश्चात् 'दृढ़' शब्दसे मनन और 'गहहू' शब्दसे निदिध्यासनका भी संकेत करके श्रवण, मनन, निदिध्यासन—तीनोंका लक्ष्य करा रहे हैं।

लीला, धाम—किसी भी मनोहर एवं दिव्य विग्रहमें मनको टिकाया जा सकता है अथवा सरलताके साथ उनमें मन लगाया जा सकता है; परन्तु ज्ञानमार्गमें इस प्रकारका कोई भी अवलम्बन नहीं रहता। इसके अतिरिक्त यदि कोई इन विघ्न-बाधाओंके कष्टोंको सहकर ज्ञानकी प्राप्ति कर भी ले, तब भी (ज्ञानवान् होनेपर भी) भक्तिहीन होनेसे वह मुझको प्रिय नहीं होता।* भक्ति स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण गुणोंकी खान है—'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥' और उसकी प्राप्ति जीवोंको सत्सङ्गके बिना नहीं हो सकती। संत पुण्यपुञ्ज (शुभ कर्मोंकी राशि) के बिना नहीं प्राप्त होते, क्योंकि उनका सङ्ग संसारको निवृत्त कर देनेवाला होता है। एवं मन, वचन और कर्मसे ब्राह्मणोंके चरणोंकी पूजा करनेके समान संसारमें और कोई पुण्य नहीं है। जो लोग निष्कपट भावसे द्विजसेवा करते हैं उनपर मुनि और देवता सभी प्रसन्न रहते हैं।

यहाँतक श्रीमुखद्वारा यह प्रमाणित तथा सिद्ध कर दिया गया कि भक्तिके बिना ज्ञानी या अज्ञानी—कोई भी भगवान्को प्रिय

---

* 'सोऊ' शब्द देकर यहाँ यह सूचित किया गया है कि जब भक्तिके बिना ज्ञानी भी प्रिय नहीं होता, तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? यथा—'भक्तिहीन बिरंचि किन होई' तथा 'भक्तिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥' इसी प्रकार श्रीमद्भागवतका श्लोक देखिये—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

नहीं हो सकता। अतः ऐसी सर्वोच्च और अनुपम भक्तिको प्राप्त करनेका प्रयत्न प्रवृत्तिमार्गी और निवृत्तिमार्गी दोनोंको ही करना चाहिये। इसीमें उनके मनुष्य-तनकी सफलता है। अब दोनों प्रकारके मार्गियोंको उनके अनुकूल अलग-अलग भक्तिप्राप्तिका मार्ग बतलाया जा रहा है। पहले प्रवृत्तिमार्गियोंको यह सुलभ उपाय लक्ष्य कराया गया है कि भक्ति सत्सङ्गसे मिलती है और सत्सङ्ग बहुत पुण्योंसे प्राप्त होता है, इसलिये पुण्योपार्जन करना चाहिये। यदि कहो कि पुण्य क्या है तो मन, वचन और कर्मसे निष्कपट होकर ब्राह्मणोंकी सेवा करना ही पुण्य है। तात्पर्य यह कि जिन गृहस्थोंको श्रीभक्ति महारानीको प्राप्त करनेकी लालसा हो वे सत्सङ्ग करें। यदि सत्सङ्ग प्राप्त करनेमें कठिनाई हो तो सर्वप्रथम निष्कपट होकर वे ब्राह्मणोंकी सेवा करनेमें लग जावें। उसी पुण्यपुञ्जसे संत प्राप्त होंगे और उनके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति होकर गृहस्थोंका नर-तन पाना सार्थक हो जायगा। यह बात केवल यहीं नहीं कही गयी है। अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न करनेपर भी श्रीमुखद्वारा ऐसा ही कथन हुआ है। यथा—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।
तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

इसी प्रकार विनय-पत्रिकामें भी आया है—

द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पाइए।

अस्तु, इस प्रकार यहाँतक प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थोंको भक्तिप्राप्तिके

सुलभ उपायका उपदेश करनेके पश्चात् अब निवृत्तिमार्गी मुनि-संन्यासियोंको श्रीभक्ति-मणिकी प्राप्तिका उपाय बतलाया जावेगा। पाठक देखें कि यहाँ भी वेषकी मर्यादाका पूर्णरूपसे निर्वाह किस प्रकार किया गया है।

उपर्युक्त कथनके पश्चात् भगवान् श्रीरामजी हाथ जोड़कर कहते हैं कि "आप विरक्त महापुरुषोंके लिये मेरा एक और गुप्त मत ('सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'—गीता) भी है, उसे मैं आप सबको बताता हूँ। भगवान् श्रीशिवके भजनके बिना भी मेरी भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि आप विरक्त पुरुषोंको गृहस्थाश्रमियोंकी भाँति ब्राह्मणसेवामें प्रवृत्त होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आपलोग यदि मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो मेरे परम भक्त श्रीशिवजी ('वैष्णवानां यथा शम्भुः') की ही आराधना करें। उन्हींके द्वारा आपलोगोंको मेरी भक्ति प्राप्त हो जायगी।"

भगवान्के इस कथनका प्रमाण और स्थानोंपर भी देखिये—

'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥'

तथा—

'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'

अब यदि यहाँपर कोई यह शंका करे कि 'श्रीरामजी जब अपनेको प्रकट कर चुके हैं कि 'मैं ही परमात्मा या ईश्वर हूँ, तब श्रोताओंसे हाथ जोड़कर कहनेका क्या प्रयोजन है, तो इसका समाधान यह है कि ऐसा करके भगवान्ने नरावतारकी मर्यादाकी रक्षा की है। यहीं नहीं, भरद्वाज, वाल्मीकि, अगस्त्य आदि अन्य समस्त ऋषि-

मुनियोंके सामने भी आपने अपना ऐश्वर्य प्रकट किया है; यहाँतक कि उनके द्वारा किये गये स्तवन-पूजनादिको भी स्वीकार किया है। परन्तु साथ-ही-साथ माधुर्य-मर्यादाकी रक्षाके लिये अपनी ओरसे उनको प्रणाम किया है। यथा—'मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा।' 'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं' और 'करत दंडवत मुनि उर लाए' इत्यादि।

यहाँतक तीसरी अष्टपदी समाप्त हुई, अब चौथी अष्टपदी आरम्भ होती है। इसमें भी दोनों वर्गोंके लिये पृथक्-पृथक् आदेशोपदेश किया गया है—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज इससे ऊपरकी अष्टपदीके आरम्भमें 'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू' कहकर इस बातका निश्चय करा चुके हैं कि भक्तिमार्गावलम्बी होनेके कारण इस लोकमें भी सुख मिलता है, क्योंकि भक्तको कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। वह अपने भगवान्‌के बलसे सदा-सर्वदा निर्भय एवं निश्चिन्त रहता है। यथा—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही । दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥

फिर परलोकके सुखका तो कहना ही क्या है ? क्योंकि वहाँ तो परलोकनाथका ही प्रियतम होकर परम ऐकान्तिक नित्यकैङ्कर्यका अधिकार प्राप्त होना है ! अब इस बातको और भी पुष्ट करनेवाले वचन, जो दोनों वर्गोंसे कहे जा रहे हैं, पढ़िये । भगवान् कहते हैं—

'भाइयो ! बताओ तो भक्तिमार्गमें कौन-सा परिश्रम करना पड़ता है; न वहाँ योगधारणा (अष्टाङ्गयोग) की आवश्यकता है, न यज्ञयागादि ही आवश्यक हैं; और न जप (मन्त्रानुष्ठान), न तप (तपस्या), न उपवास (व्रत) आदि ही करने पड़ते हैं । वहाँ तो केवल स्वभावसे सरल हो जाने अर्थात् किसीसे भी कठोर व्यवहार न करने, मनसे कपट त्याग देने तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीसे सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहनेका प्रयोजन है । वास्तवमें कोई हमारा दास कहलाकर यदि किसी अन्य मनुष्यकी आशा करे उसे मेरा विश्वास ही कहाँ है ? अधिक बढ़ाकर क्या कहूँ, इन्हीं आचरणोंसे मैं अपने उस भक्तके वशमें हो जाता हूँ ।'

ऊपरकी अष्टपदीकी इस चौथी चौपाईका कथन देहली-दीपककी तरह है । यह अपने ऊपर-नीचेके दोनों कथनोंकी ओर प्रकाश डालकर अंगुलि-निर्देश करती है । अर्थात् भगवान् कहते हैं कि "जो आचरण ऊपर बताये गये हैं, बस उतनेसे ही मैं उनके वशमें हो जाता हूँ और इसी प्रकार अब जो कुछ (नीचेकी चौपाइयोंमें) कह रहा हूँ, उसके अनुसार आचरण करनेवालेके भी वशमें हो जाता हूँ; ऊपरकी चौपाइयोंमें

जिनका अर्थ किया जा चुका है, प्रवृत्तिमार्गी पुरुषोंके लिये आदेश किया गया है और नीचेकी चौपाइयोंमें, जिनका अर्थ नीचे किया जायगा, निवृत्तोंके लिये उपदेश हुआ है । प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थोंको जो कुछ कहा गया है, उसका आशय यह है कि 'गृहस्थाश्रममें रहते हुए सम्पूर्ण धन-जनको मेरा (भगवान्‌का) मानकर और स्वयं मेरे दास बनकर, मेरा ही भरोसा रखकर, दूसरे किसीकी भी आशा न रखकर निष्कपटभावसे सरलता-पूर्वक समस्त गृहकार्योंको यथोचित करते रहना चाहिये ।" अब निवृत्ति-मार्गियोंको जो उपदेश दिया जा रहा है, उसे देखें । श्रीरघुनाथजी कहते हैं—

"मेरे निवृत्तिमार्गी भक्तोंको उचित है कि वे किसीसे वैर न करें (मनमें द्वेष न लावें), किसीसे विग्रह न करें (बाह्यरूपसे झगड़ा-बखेड़ा न करें), किसीकी आशा न रक्खें, किसीका भय न मानें तथा जहाँ कहीं भी जावें-आवें वहाँकी सारी दिशाएँ (आशाएँ) उनके लिये सुखमय प्रतीत हों ।' उन्हें किसी भी प्रवृत्तिमें कदापि न पड़कर सर्वदा अनारम्भ रहना चाहिये अर्थात् किसी भी प्रवृत्तिमूलक कार्यका आरम्भ नहीं करना चाहिये । वे किसी भी आश्रम या कुटीको अपना न समझकर अनिकेत रहें अर्थात् आज यहाँ, कल वहाँ विचरते रहें; अथवा वन, बाग, गिरि, सरितातीर आदि किसी भी स्थानमें रहें परन्तु किसी भी कुटी या आश्रमको अपना न मानें; मानका सदैव त्याग रक्खें और अमानी बने रहें—'सम मानि निरादर आदरही । सब संत सुखी बिचरंति मही ॥' जो पापसे सदा दूर, क्रोधसे रहित, सब शास्त्रोंके ज्ञाता और विज्ञानी अर्थात् स्वस्वरूप एवं परस्वरूपके बोधमें मग्नचित्त,

सज्जनोंके संसर्गमें सदैव प्रीति रखनेवाले, मेरी भक्तिके सामने सांसारिक भोग, स्वर्गादि लोकोंके विषय और अपवर्ग (मोक्ष) को भी तृणवत् समझनेवाले, भक्तिपक्षपर पूर्णतया दृढ़, शठतासे रहित, नाना प्रकारके कुतर्कोंसे दूर, मेरे गुणग्राम (यश) और नाममें सदा लवलीन तथा ममता-मोहसे अलग हैं वे भी उस परमानन्दराशिके अनुपम सुखका अनुभव करते हैं। वहाँतक दूसरोंकी पहुँच ही कैसे हो सकती है !"

नीचेकी चार चौपाइयोंके ये उपदेश विरक्तोंसे मेल भी खा रहे हैं, अतः इनका कथन उन्हींके लिये हुआ है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्गी मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ श्रीरघुनाथजीने अपने श्रीमुखसे अवध-पुरवासियोंको इस 'रामगीता' का उपदेश दिया। सभामें अवधपुरवासी गृहस्थ, विरक्त, गुरु, द्विज इत्यादि जितने लोग उपस्थित थे, उन सबने जब इस कल्याणकारी उपदेशका श्रवण किया तब उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि श्रीरघुनाथजी महाराज साक्षात् करुणानिधान श्रीभगवान् ही हैं और ऐसा निश्चय होते ही सब लोगोंने उनके श्रीचरणोंका स्पर्श किया—

सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के॥

पुनः सब लोग उन श्रीचरणोंकी सच्ची शरणागति प्राप्त कर तथा उन अनुपम लोकहितकारी उपदेशोंको शिरोधार्य कर कृतार्थरूप हो गये।

अन्तिम दोहेमें 'मम गुन ग्राम नाम रत' ये जो शब्द आये हैं; इन सबका अन्वय एक साथ ही है। अतः 'मम' शब्दसे रूपका (मम दरसन फल परम अनूपा), 'गुन' से गुणानुवाद, लीलाका; 'ग्राम'से धामका एवं 'नाम' से नामका ग्रहण करके श्रीप्रभुके नाम, रूप, लीला, धाम—चारोंमें भी रत होनेका अर्थ किया जा सकता है। 'परानन्द', जो परमानन्दका रूप है, ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर है। यथा—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

अतः उस परानन्दके सन्दोह (समूह, ढेर) को श्रीभगवद्भक्तिके सुखका तौल [वजन] बताया गया है।

अब समस्त पुरवासी श्रोताओंके साथ-साथ यह दीन लेखक भी करुणागार श्रीसरकारके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पण करता हुआ इस लेखको 'श्रीरामार्पणमस्तु' करके समाप्त करता है—

जननि जनक गुर बंधु हमारे। कृपा निधान प्रान ते प्यारे॥
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी॥
असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथ रत ओऊ॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

जो भाग्यवान् पाठक आजकल भी इस 'रामगीता'का श्रवण अथवा पठन-पाठन करके श्रीभगवान्के परम हितकारी उपदेशोंका मनन एवं निदिध्यासन करेंगे, वे भी अवधपुरवासियोंके पदको ही प्राप्त करेंगे। श्रीगीतावलीमें आया भी है—'तुलसी तब कैसे अजहुँ जानिबो रघुबर नगर बसैया।' इसी धारणाके कारण श्रीअयोध्याकी प्रजा सदेह निज धामको जा पहुँची है।

यथा—'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम।' अस्तु,

उमा अवधवासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!



श्रीमानसके कुछ मार्मिक प्रसङ्ग

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने श्रीरामचरितमानसमें तीन चौपाइयोंकी अक्षरशः दो बार रचना कर एक बड़े गूढ़ आशयको व्यक्त किया है। मानसप्रेमियोंके विनोदार्थ यहाँ उनका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है। चौपाइयाँ ये हैं—

(१)

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥

(२)

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥

(३)

उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥

अब इनपर क्रमशः विचार करना है—

[१] बालकाण्डके ७६ वें दोहेमें श्रीरामजी प्रकट होकर भगवान् शिवसे विवाह करनेके लिये अनुरोध कर रहे हैं। यथा—

अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥

इसीके बाद यह चौपाई है—

'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥

अभिप्राय यह कि विवाह न करना ही उचित धर्म था, परन्तु स्वामीकी आज्ञा तो परम धर्म है। दूसरी बार यही चौपाई अयोध्याकाण्डके २१२ वें दोहेके नीचे दूसरी चौपाईके रूपमें है, जो महर्षि भरद्वाजके आतिथ्य स्वीकार करा लेनेपर श्रीभरतजीने कही है। 'भयउ कुअवसर कठिन सँकोचू' की स्थितिमें 'जानि

गरुड़ गुर गिरा बहोरी,' हाथ जोड़ चरण-वन्दना करते हुए भरतजी महाराज कहते हैं—

'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥'

अर्थात् विरक्त ऋषिका अन्न ग्रहण न करना ही धर्म था, परन्तु आज्ञा पालन करना परम धर्म है।

गोस्वामीजी महाराज कोई साधारण कवि तो थे ही नहीं, जिन्हें उपर्युक्त भावको प्रकट करनेके लिये दूसरे शब्दोंकी स्फुरणा ही न हुई हो और इसलिये बाध्य होकर पुनरुक्ति करनी पड़ी हो। गुसाईंजी एक महाकवि थे और उन्होंने समझ-सोचकर ही सिद्धान्तको अक्षरशः अटल प्रमाणित किया है कि भगवत और भागवतकी आज्ञा पालन करना ही जीवका परम धर्म है। इस सिद्धान्तको आपने निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही मार्गोंके सर्वशिरोमणि आचार्योंके मुखसे एक ही शब्दोंमें प्रकट कराया है। भगवान् शिवजी निवृत्तिनिष्ठाके अवधि हैं—'वैष्णवानां यथा शम्भुः' और महाराज श्रीभरतजी प्रवृत्तिनिष्ठाके मुकुटमणि हैं—'भरत भवन बसि तप तनु कसहीं।' मानसमें उनके शिरोमणि होनेके अनेक प्रमाण हैं, यथा—

'भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल।'

श्रीमुखके भी वचन हैं—

'पुन्यसिलोक तात तर तोरें।'

अतएव संत और भगवंतकी आज्ञाका पालन ही गृहस्थ एवं विरक्त दोनोंका परम धर्म है। यही जीवमात्रका सर्वोत्तम कर्तव्य है। इस महान् सिद्धान्तकी पुष्टि दोनों भक्तशिरोमणियोंके श्रीमुखसे एक ही शब्दोंमें करवाकर ग्रन्थकारने यह सिद्ध कर दिया है कि यह

सिद्धान्त अक्षरशः सत्य है, इसमें एक मात्रा भी घटाने-बढ़ानेकी गुंजाइश नहीं है।

(२) दूसरी चौपाई अयोध्याकाण्डके ८८ वें दोहेके पश्चात् शृङ्गवेरपुरके नर-नारियोंके मुखसे श्रीरामके वन-गमनको देखकर क्षोभ प्रकट करते हुए कहलायी गयी है। यथा—

राम लखन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर नारी॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥

दूसरी बार यहाँ चौपाई श्रीयमुनाके पार पहुँचनेपर तीर-निवासियोंने पछतावा करते हुए कही है, जो मानसमें 'तापस-मिलन' के पश्चात् ११० वें दोहेके बाद चौथी चौपाई है। इस चौपाईके द्वारा रचे जानेका प्रधान कारण तो श्रीगोस्वामीजीके मनकी मुग्धता है, जो प्रभुके साक्षात् मानसिक मिलनके समय हुई थी। इस विषय-का पूर्ण विवेचन 'रामचरितमानसका गुप्त तापस' शीर्षक लेखमें किया जा चुका है, अतएव उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। दूसरा भाव यह है कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताकी सिर-आँखोंपर रखने लायक सुकोमल मनोहर त्रिमूर्तियोंका जंगलके कठिन मार्गमें पैदल चलना प्रत्येक नर-नारीके लिये असह्य हो गया था, इसीसे जहाँ-तहाँ सबके मुखसे हर जगह यही शब्द निकल रहे थे—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥

(३) यह चौपाई प्रथम अयोध्याकाण्डके दोहा १२२ के पश्चात् दूसरी अर्द्धालीके रूपमें है, जहाँ लगातार तीन उपमाएँ दी गयी हैं। यथा—

'आगें रामु लखनु बने पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥

उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥

यही चौपाई ज्यों-की-त्यों पुनः अरण्यकाण्डमें श्रीअत्रिमुनिसे विदा होनेके पश्चात् सोरठा ६ के बाद तीसरी अर्द्धालीके रूपमें आयी है। इसके दुवारा रचित होनेका हेतु बतलानेके पूर्व उपर्युक्त तीनों उपमाओंका रहस्य बतलाना आवश्यक है।

(क) प्रथम उपमामें श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीलखनलालजी जीव हैं और इन दोनोंके मध्य श्रीसीताजी माया हैं। परन्तु 'सोहति' शब्द देकर ग्रन्थकारने यहाँ बन्धनकारिणी अविद्या, माया और भेदकरी विद्या माया—इन दोनों प्रकृतिरूपा यवनिकासे विलक्षण भगवान्‌की नित्य आह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीदेवीजीका लक्ष्य कराया है, जिसकी तारतम्यता दिव्य वैकुण्ठकी घटनाको सूचित कर रही है। प्राकृत माया तो जीव-ब्रह्मके साक्षात्कारमें आवरणरूप बनी हुई है—

पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाछन्न न देखिऐ जैसें निर्गुन ब्रह्म॥

वह तो मोह और अज्ञानकी हेतु है—'नाथ जीव तव माया मोहा' 'तव माया बस फिरउँ भुलाना।' अतएव यह संसारी माया 'सोहति' नहीं बल्कि 'मोहति' है। इस मायाकी उपमा श्रीसीताजीके लिये सङ्गत नहीं हो सकती। फिर श्रीलखनलालजीके लिये—जिनको कि जीवकी उपमा दी गयी है—श्रीसीताजी ध्येय (सेव्य) हैं और यह संसारी माया हेय (त्याज्य) है। इसलिये भी यहाँ संसारी माया नहीं समझनी चाहिये। यह उपमा तो परमधामके उस मुख्य

अवसरकी है कि जब यह जीव संसारी मायासे मुक्त होकर नित्य धामको प्राप्त हो, परम प्रभु श्रीनिवास वैकुण्ठनाथ पूर्णब्रह्मके सम्मुख उपस्थित होता है; तब बीचमें स्वयं श्रीअम्बा साक्षात् लक्ष्मीजी खड़ी होकर भगवान्से अनुरोध करती हैं, जिससे उस चेतनको भगवान् स्वीकार करते हैं। उस समय ब्रह्म और जीवके बीच श्रीलक्ष्मीजीकी जो शोभा होती है, वही शोभा यहाँ श्रीरघुनाथजी और श्रीलखन-लालजीके बीच श्रीसीताजीकी है।*

श्रीसीताजीका बीचमें चलना श्रीलखनलालजीके सेवाधर्मको प्रकट करनेका कारण बनकर उनके भगवान्को अनुरोध करनेके कर्तव्यका भी औचित्य सिद्ध कर रहा है। मानसकार लिखते हैं—

प्रभुपद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय राम पद अंक बराएँ। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ†॥

---

* प्राचीन आळ्वारोंके आप्त वचन हैं कि जब श्रीअम्बाजी जीवको स्वीकार करनेके लिये भगवान्से अनुरोध करती हैं, तब प्रभु उनसे पूछते हैं कि 'इस जीवकी किस योग्यतासे मैं इसे स्वीकार करूँ?' उस समय श्रीअम्बाजीका हृदय चेतनपर इतना करुणापूर्ण रहता है कि वह भगवान्से विनय करती हैं, 'हे नाथ! आप किञ्चित् भी विलम्ब न करके पहले इसे स्वीकार कर लें, तदनन्तर मैं इसके गुण सेवामें निवेदन करूँगी।'

† किसी-किसी प्रतिमें 'दाहिन लाएँ' की जगह 'दाहिन बाएँ' पाठ शुद्ध माना गया है; परन्तु ऐसा माननेसे बड़ा अनर्थ हो जाता है, मानो लक्ष्मणजी कभी दायें और कभी बायें कूद-कूदकर चल रहे हैं। कूदनेसे चरण-चिह्नोंका उल्लङ्घन होता है—अपने चरणोंकी रज उनपर पड़ती है और दाहिने चलते समय चरण-चिह्नोंके बायें रह जानेसे उनका अनादर भी होता है। इन सब कारणोंको देखते 'दाहिन लाएँ' पाठ ही शुद्ध और प्रामाणिक सिद्ध होता है।

अभिप्राय यह कि श्रीसीताजी भगवान् श्रीरामके पद-चिह्नोंको बचा-बचाकर चल रही हैं और भगवान्‌के चरण-चिह्नोंके बीचकी जगहपर बड़ी सावधानीसे अपने पैर रखती हैं, जिससे कहीं स्वामीकी चरण-रेखपर उनके पैर न टिक जायँ । श्रीलखनलालजी तो दोनोंके सेवक ठहरे, अतः वे स्वामी-स्वामिनी दोनोंके चरण-चिह्नोंको बचाकर चलना चाहते हैं । बीचमें तो उन्हें पैर रखनेकी कहीं जगह मिलती नहीं, इसलिये वे श्रीराम-सीताको अपनेसे दाहिने लेकर उनसे बायें चल रहे हैं । यों करनेसे अपने दोनों सेव्योंके चरण-चिह्न दाहिने रहनेसे उनका सम्मान भी हो रहा है और राहसे हटकर चलनेसे प्रेम-भावकी निष्ठा भी स्पष्ट सिद्ध हो रही है—

'रीति चरितकी भली प्रीति पहिचानिये ।'

(गीतावली)

यह प्रथम उपमा ऐश्वर्यसूचक है, जिसके द्वारा श्रीसरकारके परधामकी तारतम्यताका क्रमयुक्त यह बतलाया गया है कि श्री-रघुनाथजी साक्षात् वैकुण्ठनाथ परविष्णु (वासुदेव) हैं, श्रीसीताजी साक्षात् अम्बा श्रीलक्ष्मीदेवीजी हैं और श्रीलखनलालजी नित्यमुक्त जीव साक्षात् श्रीशेषजी हैं । इसमें शेष-शेषिभाव है ।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

(ख) दूसरी उपमामें श्रीरामजी मदन (कामदेव) हैं, श्रीलखनलालजी मधु (वसन्तऋतु) हैं और श्रीसीताजी रति (कामदेव-की स्त्री) की भाँति बीचमें सुशोभित हैं । यह उपमा सौन्दर्यसूचक है । श्रीरामजीका सौन्दर्य मदन सदृश है, श्रीसीताजीका रतिके समान है और श्रीलखनलालजी ऋतुराजकी भाँति प्रफुल्लित हैं । इसमें सेव्य-

सेवकभाव है। जैसे मदन-रतिका सेवक वसन्तऋतु है—'निज माया बसंत निरमयऊ', वैसे ही श्रीसीता-रामजी स्वामिनी-स्वामी हैं और श्रीलखनलालजी सेवक हैं, जो प्रफुल्लित चित्तसे सदा सेवामें तत्पर हैं—

'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।'

(ग) तीसरी उपमामें श्रीरामजी विधु (चन्द्रदेव) हैं, श्रीलखनलालजी बुध (चन्द्रमाके पुत्र) हैं और श्रीसीताजी रोहिणी (चन्द्रदेवकी स्त्री, बुधकी माता) की भाँति शोभित हो रही हैं। यह उपमा माधुर्यसूचक है। जैसे चन्द्रमा और रोहिणीके पुत्र बुध हैं, वैसे ही यहाँ श्रीलखनलाल पुत्र-स्थानीय हैं और श्रीसीता-रामजी माता-पिता हैं—

'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा कें।'

पुत्रपर माता-पिताका जैसा स्वाभाविक स्नेह होता है, वैसा ही यहाँ श्रीसीता-रामजीका लखनलालजीके प्रति भाव है। इस उपमासे पारस्परिक प्रीति सूचित हो रही है।

तीनों उपमाओंमें क्रमसे सुलभ, सुलभतर और सुलभतमका भाव दिखाया गया है। शेष-शेषिभावकी निष्ठा ज्ञानादि साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है, सेव्य-सेवकभावकी उसकी अपेक्षा सुलभतर है और पिता-पुत्रभावकी तो सबकी अपेक्षा सुलभतम है, क्योंकि सेवकके लिये भी सचेत रहना आवश्यक है, सावधानीसे सेवा करनेसे ही स्वामी प्रसन्न रहते हैं; परन्तु छोटे बालकके लिये तो अनन्य गति ही पर्याप्त है, उसका पालन-पोषण, योग-क्षेमकी चिन्ता माता-पिता स्वयमेव करते हैं—

गह सिसु बच्छ-अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई ॥

इसी सुलभ, सुलभतर और सुलभतमके भावको दिखलानेके लिये ही प्रथम उपमाके पदमें 'सोहति' शब्द आया है, जो नेत्र-इन्द्रियका ग्राह्य विषय है। दूसरीमें 'जस मन बसई' कहकर मनकी टटोल की गयी है और तीसरीमें 'उपमा बहुरि कहौं जिय जोही' से यह लक्ष्य करायागया है कि तीसरी बार भी हृदयमें ढूँढ़कर अर्थात् दिलकी टटोली हुई उपमा दी जा रही है। परन्तु निष्ठाओंकी साधना-अवस्थामें ही सुलभताके ये भेद रहते हैं; अन्तिम परिणाम तो 'सर्व भाव भज कपट तजि'के द्वारा भगवत्-धाममें उसी अवस्थाकी प्राप्ति है, जिसका निर्देश प्रथम उपमा 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसें' में किया गया है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त निष्ठाओंद्वारा यह जीव मुक्त होकर जब कभी भगवान्‌के परधाममें भगवान्‌के द्वारा स्वीकृत होगा तो श्रीअम्बाजीके अनुरोधसे ही होगा। इसी महान् अनुकम्पाकी आनन्दमयी अवस्था और ऐसे अखण्ड नित्य ऐश्वर्यकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये इस चौपाईके शब्दोंको अक्षरशः दुहराकर गोस्वामीजीने बड़े ही महत्त्वका काम किया है। यही तीसरी चौपाईके दुबारा आनेका कारण है।

उपर्युक्त तीन चौपाइयोंको छोड़कर और कोई पूरा पद मानसमें ऐसा नहीं मिलता, जो अक्षरशः ज्यों-का-त्यों दुहराया गया हो।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

सेवक स्वामि सखा सिय पी के

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब विधि तुलसी के॥

श्रीरामचरितमानसकी इस चौपाईमें श्रीसीतापति रामचन्द्र-जीके साथ भगवान् शङ्करके तीन सम्बन्ध प्रकट हो रहे हैं—शिवजी रामजीके सेवक हैं, स्वामी हैं और सखा भी हैं। परन्तु एक ही व्यक्तिमें इन तीनों प्रकारके सम्बन्धोंका योग कैसे बन सकता है? इसीपर यहाँ विचार करना है।

१—ऐश्वर्य-कोटिमें परात्पर ब्रह्मके अवतार होनेसे श्रीरघुनाथजी शिवजीके सेव्य हैं और शिवजी उनके सेवक हैं। इसके प्रमाणमें स्वयं भगवान् शङ्करकी निष्ठा और कर्तव्यके उदाहरण श्रीरामचरितमानससे उद्धृत किये जा सकते हैं—

'हृदयँ बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ ।
गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ ॥'
'जय सच्चिदानंद जग पावन । अस कहि चले मनोज नसावन ॥'
'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥'
'श्रीरघुनाथ रूप उर आवा । परमानंद अमित सुख पावा ॥'
'बंदउँ बालरूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥'
'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी । हरषि सुधा सम गिरा उचारी ॥'
'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ ॥'
'कासी मरत जंतु अवलोकी । जासु नाम बल करउँ बिसोकी ॥'
'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब उर अंतरजामी ॥'

२—माधुर्य-कोटिमें 'नर इव चरित करत रघुराई,' 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा' के अनुसार परात्पर ब्रह्म राजपुत्र बनकर श्रीशिव-जीको स्वामी भी मान रहे हैं। जैसे—

'पूजि पारथिव नायउ माथा ।'
'तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ ।'
'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा ।' —इत्यादि ।

३—नीति-कोटिमें उपासनादि-भेद तथा द्वेषकी निवृत्तिके लिये मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने अपनी ओरसे भगवान् शिवको सखाका पद भी प्रदान किया है, जिससे वैष्णव तथा शैव अपने इष्टदेवोंको समान तथा मित्ररूप समझकर परस्पर प्रीतिपूर्वक बर्तते हुए अपना परमार्थ सिद्ध करें । जैसे—

संकरप्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ॥

'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥'
'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'
'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥'
'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।'
'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।' —इत्यादि।

इसी भावको सूचित करनेवाली एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। जब मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने सेतुबन्धपर शिवलिङ्ग स्थापित किया और उसे रामेश्वरके नामसे प्रसिद्ध किया, तब ऋषियोंने 'रामेश्वर' शब्दका 'रामश्चासौ ईश्वरः' इस प्रकार समास करके राम और ईश्वर (महेश्वर) की समता सिद्ध की। तब श्रीरामचन्द्रजी बोले—नहीं ऐसा नहीं, इसमें 'रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास है, अर्थात् ईश्वर (महेश्वर) रामके स्वामी हैं। तत्पश्चात् कहा जाता है कि शिवलिङ्गमेंसे ध्वनि निकली—'राम एव ईश्वरो यस्य सः' अर्थात् राम जिसके स्वामी हैं, इस प्रकार इस शब्दका समास करना चाहिये। यह वाणी सुनकर समस्त ऋषि दंग रह गये और श्रीरामजी मुसकराने लगे।

इसी भावके अनुसार श्रीगोसाईंजी लिखते हैं—'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।' और साथ ही यह भी कहते हैं कि अपने लिये तो सब प्रकारसे 'निरुपधि हित' अर्थात् असीम कल्याण करनेवाले श्रीशिवजी महाराज हैं ही—'हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के।' यही लक्ष्य श्रीयाज्ञवल्क्यजीका है—

बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

शिव और सती

सिव सम को रघुपति व्रत धारी । बिनु अघ तजी सती असि नारी ॥

श्रीरामचरितमानसकी इस चौपाईमें ग्रन्थकार श्रीगोस्वामीजीने महर्षि याज्ञवल्क्यके प्रवचनके द्वारा भगवान् शिव और माता सतीदेवी-की असीम महिमा बड़े ही सुन्दर ढंगसे प्रतिपादित की है । प्रथम चरणमें 'सिव सम को' और द्वितीय चरणमें 'सती असि नारी' पदके द्वारा दम्पतीकी महिमाकी गम्भीरता पराकाष्ठाको पहुँचा दी गयी है । भगवान् शिवके लिये 'रघुपति व्रत धारी' विशेषण ही उनके व्रतकी महत्ताको प्रकट कर रहा है; क्योंकि संसारमें सब धर्मोंका सार, सब तत्त्वोंका निचोड़ भगवत्प्रेम ही निश्चय किया गया है । भगवान् परब्रह्ममें दृढ़ निष्ठाका हो जाना ही परम विशिष्ट धर्म है और भगवान् शिवने तो अपने अनुभवसे इसीको सार समझकर जगत्को निःसार निश्चित कर लिया था । जैसे—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना ॥

इसी प्रेम-भावकी महिमासे सती-ऐसी नारीमें भी उनकी आसक्ति न थी । जिस समय त्रेतायुगमें कुम्भज ऋषिके आश्रमसे वे

सतीके साथ कैलासको लौट रहे थे, उसी समय दण्डकारण्यमें सीता-हरणके कारण पत्नीवियोगमें दुःखित मानव लीला करते हुए श्रीरघुनाथजीका उन्हें दर्शन हुआ और उन्होंने 'जय सच्चिदानंद परधामा' कहकर उनको प्रणाम किया। इसपर सतीको यह सन्देह हुआ कि नृपसुतको 'सच्चिदानंद परधामा' कहकर सर्वज्ञ शिवने क्यों प्रणाम किया। भगवान् शिवने सतीको भगवत्-अवतारकी बात अनेक प्रकारसे समझायी, परन्तु उन्हें बोध न हुआ—

लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु।
बोले बिहसि महेसु हरि माया बलु जानि जियँ॥

शिवजीने अपने हृदयमें ध्यान धरकर देखा कि 'इसमें हरिमाया-की प्रेरणा हो रही है; क्योंकि जब 'मोरेहु कहें न संसय जाहीं', तब प्रभुकी जो इच्छा है उसीमें सतीको प्रेरित कर देना हमारा भी धर्म है।' इसलिये उन्होंने कहा—

जौं तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥
तब लगि बैठ अहउँ बट छाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥

यद्यपि भगवान् शिवके विषयमें यह प्रमाण है कि 'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी,' तथापि जिस भावीमें हरिकी इच्छा शामिल है उसे हृदयमें विचारकर भगवान् शिव कदापि उसके मेटनेकी इच्छा नहीं करते, बल्कि वैसा ही होनेमें आप भी सहायक हो जाते हैं—

हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदयँ बिचारत संभु सुजाना॥

सच है, सुजान भक्तोंकी भक्तिका इसीसे परिचय मिलता है। यही मर्म श्रीगुरु वशिष्ठजीके इस वाक्यमें भरा हुआ है—

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।

क्योंकि जब अगाधहृदय श्रीभरतजीने कहा—

सो गोसाइँ बिधि गति जेहिं छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥
बूझिअ मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभागु॥

—तब वशिष्ठजीने स्पष्ट कह दिया—

तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं॥

वस्तुतः बात भी यही है, भगवान् शिव तथा श्रीवशिष्ठजीको भावीके मेटनेकी सामर्थ्य भी तो रामभक्तिके प्रतापसे ही मिली थी। नहीं तो—

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥

श्रीमहादेव अथवा मुनि वशिष्ठजी अपने देवपन या मुनिपनके बलसे विधि-अङ्कोंके मिटानेकी सामर्थ्य तो रखते नहीं थे। यह अघटित-घटनकी सामर्थ्य भगवान्‌की दयासे और भगवद्भक्तिके प्रतापसे भक्तोंको ही हो सकती है। अतः उन भक्तोंका यह सिद्धान्त रहता है कि हम तो तुम्हारी खुशीमें खुश हैं, और कुछ नहीं चाहते—

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रज़ा है!

सतीको परीक्षा लेनेका आदेश करते समय भगवान् शिवने इतना चेता दिया था—'करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी'; परन्तु सतीने परीक्षा लेनेके लिये श्रीसीताजीका ही वेष धारण किया, जिसमें शिवजीने अपनी स्वामिनी और माताकी दृढ़ निष्ठा कर रक्खी थी। अतः—

सिय वेषु सतीं जो कीन्ह तेहिं अपराध संकर परिहरीं ।

क्योंकि उनकी यह निश्चित भावना थी—

जौं अब करउँ सती सन प्रीती । मिटइ भगति पथु होइ अनीती ॥

बल्कि शिवजी सतीको सदाके लिये त्याग देनेका चिन्तन कर रहे थे, इससे उनके हृदयमें अत्यन्त सन्ताप हो उठा—

परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु ।
प्रगटि न कहत महेसु कछु हृदयँ अधिक संतापु ॥

परन्तु भगवद्भक्तोंको भगवान्‌की शरण ही प्रत्येक सुख-दुःखकी अवस्थामें आधार रहती है और उन्हीं 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' रूप विरदके पालनेवाले प्रभुसे प्रदान की हुई बुद्धिके द्वारा सदैव शरणागतोंकी रक्षा हुआ करती है; क्योंकि 'ददामि बुद्धियोगं तम्' भी प्रभुकी ही प्रतिज्ञा है । अतएव जब भगवान् शंकरने ऐसे समयमें प्रतिपत्ति ली, जैसे—

तब संकर प्रभु पद सिरु नावा । सुमिरत रामु हृदयँ अस आवा ॥
एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं ।

—तब भगवान् भक्तवत्सलने उनकी बुद्धिमें प्रेरणा की कि 'सदाके लिये त्यागकी जरूरत नहीं है । केवल इसी जन्ममें सतीको त्याग करना ठीक है, जिसमें उन्होंने सीताका वेष धारण किया है।' अतएव ऐसा ही सङ्कल्प भगवान् शिवने किया, जिससे दोनों काम हो गये; न तो सदाके लिये सतीका त्याग करना पड़ा और न उस शरीरसे प्रीति ही रक्खी गयी ।

समस्त भक्तजनोंको भक्तशिरोमणि (वैष्णवानां यथा शम्भुः)

भगवान् शिवके इस रहस्यसे यह उपदेश मिलता है कि जब कोई धर्मसंकट आ पड़े तो सच्चे हृदयसे हरि-स्मरण करनेसे ही उसके निर्वाहकी राह निकल आवेगी ।

अतएव जब केवल एक जन्मके लिये सतीका त्याग हो गया, तब सतीको अपनी करनीपर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने भी उन्हीं परमप्रभु श्रीरघुनाथजीकी हृदयसे प्रपत्ति ली और कहा कि 'हे आरतिहरण ! हे दीनदयाल !! मेरा यह शरीर शीघ्र छूट जावे, जिससे मैं दुःखसागरको पार कर पुनः भगवान् शिवजीको प्राप्त कर सकूँ'—

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी । मन महुँ रामहि सुमिर सयानी ॥
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा । आरति हरन बेद जसु गावा ॥
तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी । छूटउ बेगि देह यह मोरी ॥
जौं मोरें सिव चरन सनेहू । मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू ॥

तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु करउ सो बेगि उपाइ ।
होइ मरनु जेहिं बिनहिं श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ ॥

भगवत्कृपासे योग लग गया और अपने पिता दक्षके यज्ञमें जाकर योगानलसे शरीरको त्यागकर सतीने हिमाचलके घर पार्वतीके रूपमें पुनर्जन्म धारण कर भगवान् शिवको पुनः पतिरूपमें प्राप्त कर लिया ।

पनु करि रघुपति भगति देखाई । को सिव सम रामहि प्रिय भाई ॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना । राम भगत समरथ भगवाना ॥

इस प्रकार भगवान् शिवने जो बिना अघके ही केवल

सीताका वेष धारण करनेके अपराधपर सतीका त्याग कर दिया था, यह उनकी भक्तिकी पराकाष्ठा थी ।

'बिनु अघ तजी सती असि नारी ।'—इस पदमें 'अघ' शब्द आया है । अघ और अपराधमें महान् अन्तर है । अघ उस दुष्कर्मको कहते हैं, जो वेदादिद्वारा निषिद्ध होनेपर भी जान-बूझकर अपने वासनानुसार किये जाते हैं । अतः वे क्षम्य कभी नहीं हो सकते, उनका फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है । परन्तु 'अपराध' चूकको कहते हैं, जो सदा क्षम्य होती है; क्योंकि वह किसी पापबुद्धि या कुवासनाके कारण न होकर भूलसे की जाती है । सतीजीने जो सीताका वेष धारण किया था, उसमें कदापि कोई कुवासना न थी ! उसका उद्देश्य तो केवल यही जाँच करना था कि श्री रघुनाथजी सचमुच ही सच्चिदानन्द ब्रह्मके अवतार हैं अथवा राज-पुत्र हैं । केवल भगवत्स्वरूपके बोधार्थ सीताका वेष धारण करना 'अघ' नहीं कहा जा सकता और नारीका त्याग केवल अघके ही कारण हो सकता है । परन्तु केवल अपराध हो जानेपर, जो क्षम्य भी हो सकता है, भगवान् शिवने उसे क्षमा न कर उपासनामें विरोध पड़नेके भयसे त्याग दिया । भगवान् शिवकी इस रघुपतिव्रतनिष्ठाको धन्य है !

उपर्युक्त चौपाईमें कोई-कोई अर्थ करनेवाले 'बिनु अघ' पदको विशेषण मानकर 'अनघ शिवजी' ऐसा अर्थ करते हैं; परन्तु सतीको यदि अघयुक्त माना जाय तो उसके त्यागसे श्रीशङ्करजीमें रघुपतिव्रत-निष्ठाका महत्त्व ही नहीं रह जाता । फिर जिस मुख्य विषयके

उद्घाटनके लिये इस चौपाईकी रचना की गयी है, उसका महत्त्व ही नष्ट हो जायगा। यहाँ यह शंका हो सकती है कि सतीने शिवसे मिथ्या भाषण किया था, वह तो अघ था। इसका उत्तर यह है कि उसे तो शिवजीने भगवत्-मायाकी प्रेरणा समझकर उसपर कुछ ध्यान ही नहीं दिया था—

बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा॥

ग्रन्थमें भी सतीत्यागका कारण झूठ बोलना नहीं बल्कि सीता-का वेष धारण करना ही लिखा गया है और उसे अघ न कहकर अपराध ही बतलाया गया है—

'सिय बेषु सतीं जो कीन्ह तेहिं अपराध संकर परिहरीं।'

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ और परम पुरुषार्थ जो भगवद्भक्ति है, उसमें श्रीशिवजीके समान कौन व्रतधारी हो सकता है? 'सिव सम को' इस पदका अभिप्राय तो स्पष्ट हो गया। अब 'सती असि नारी' पदके अभिप्रायकी आलोचना करनी है। सतीजी कैसी आदर्श नारी थीं, इसका प्रमाण उनके इसी एक व्यवहारसे दिया जा सकता है कि जब शिवजीने अपनी क्षमाशीला, अनन्या सतीको, अपराध क्षम्य होनेपर भी इतना कठिन दण्ड दिया कि उसे त्याग ही डाला, तब सतीका जीवन महान् विपत्तिमें पड़ गया—

'पति परित्याग हृदयँ दुखु भारी।'

तथा—

नित नव सोचु सती उर भारा। कब जैहउँ दुख सागर पारा॥
सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं।
मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं॥

तथापि उन्होंने अपने पतिव्रतधर्मकी पराकाष्ठाको प्रमाणित कर—

आपत काल परखिए चारी। धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥

—को चरितार्थ कर दिया। इसी कारण आपको ऐसा पद प्राप्त हुआ—

पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहिं सहस सारदा सेष॥

सांसारिक स्त्रियाँ स्वार्थपरायणा होती हैं; यदि पतिने किसी उचित बातपर भी उन्हें रोका तो वे तत्काल मैकेकी राह लेती हैं और वहाँकी सहायतासे लड़ाई ठान देती हैं। बेचारे पतिको नाकों चने चबाने पड़ते हैं और अन्तमें अनुनय-विनय करनेपर मैकेसे वे लौटनेके लिये राजी होती हैं तथा पतिको सदा हुकूमतमें रखती हैं। परन्तु पूजनीया माता सतीकी पतिनिष्ठाको तो देखिये कि अकारण त्यागे जानेपर भी—

जौं मोरें सिव चरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू॥

—अन्तर्यामी भगवान्‌की प्रपत्तिमें इस प्रकारकी शर्त लगा रही हैं तथा पतिदेवकी आज्ञा प्राप्त कर जब दक्षयज्ञमें जाती हैं तो वहाँ अपने पतिदेवके अपमानको श्रवण कर पैतृक सम्बन्धको तृणवत् समझ इस प्रकार त्याग कर देती हैं कि माता-पिताकी ममता तो क्या पतिके प्रतिकूल होनेवाले पिताके शुक्रसे उत्पन्न अपने शरीरसे भी अपनी आत्माको अलग कर देती हैं। अनुकूल पतिमें भी ऐसा प्रेम विरली ही नारियोंमें पाया जाता है और इधर तो पतिदेवने रुष्ट होकर सतीसे सम्बन्ध ही विच्छेद कर डाला था। तथापि—

सिव अपमानु न जाइ सहि हृदयँ न होइ प्रबोध।
सकल सभहि हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध॥

जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥
पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ सुक्र संभव यह देही॥
तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू॥
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥

धन्य है सतीकी सत्यनिष्ठाको ! इसी कारण 'सती असि नारी' पद दिया गया है।

इस संसारमें स्त्रियोंके उद्धारका शास्त्रसम्मत सर्वश्रेष्ठ और सुलभ मार्ग केवल पातिव्रत्य धर्म ही है—'नारिधर्म पतिदेव न दूजा।' इसकी शिक्षा संसारभरकी स्त्रियोंको सतीसे लेनी चाहिये तथा मनुष्योंके उद्धारका सर्वश्रेष्ठ और परम सुलभ मार्ग केवल भगवद्भक्ति ही है, यह बात भी सर्वशास्त्रसम्मत तथा निर्विवाद है और पुरुषमात्रको ऐसे परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके हेतु भगवान् शिवजीका अनुसरण करना चाहिये। प्रेमपथके अद्वितीय आचार्य भगवान् शङ्करका अनुसरण कर अनायास मनुष्य संसार-सागरको पार कर सकता है।

इस प्रकार भगवान् शिव और माता सती अपनी निष्ठा और सदाचारके द्वारा समस्त जीवोंके उद्धारका मार्ग निश्चय करा रहे हैं तथा उसे अपने चरित्रद्वारा स्वयं दिखला रहे हैं। दम्पतिका युगल विग्रह जगन्मात्रके कल्याण और उपकारका हेतु है। भगवान् शिव-का चरित्र जीवोंके उपदेशके लिये ही है, आप साक्षात् भगवद्गुणावतार हैं। आपकी गिनती जगत्के जीवोंमें कभी नहीं की जा सकती,

आप ईश्वरकोटिमें हैं और जीवोंके कल्याणार्थ आविर्भूत होते हैं। श्रीरामचरितमानसमें भी श्रीयुगल विग्रहका ऐश्वर्य—

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं
विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम्।

तथा—

भव भव बिभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि॥

—इत्यादि पदोंमें परिलक्षित है।

मानसग्रन्थकारको लीलाप्रकरणमें माता सती और कैकेयीके सम्बन्धमें श्रीरघुनाथजीके विपरीत आचरण करनेके कारण बहुत कुछ बुरा-भला कह देना पड़ा है। जैसे—

सती कीन्ह चह तहँहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥

तथा कैकेयीके निमित्त—

बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥

परन्तु इन सत्पात्रोंके गोप्य ऐश्वर्यके जाननेवाले श्रीगोसाईंजीने अवसर पाकर महर्षि याज्ञवल्क्यके मुखसे 'बिनु अघ' सतीके लिये तथा उन्हींके शिष्य महर्षि भरद्वाजके मुखसे—

'तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति।'

—कहलाकर कैकेयीकी निर्दोषताको सूचित कर दिया है।

शिव और सतीकी महिमाको 'इदमित्थम्' कौन कह सकता है? इनका नाम ही 'कल्याण' और सत्स्वरूपा है। ऐसे भगवान् शिव और सती माताकी जय हो!



श्रीमानसमें श्रीसीता-तत्त्व

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

श्रीस्वायम्भुव मनुकी तपस्यासे नैमिषारण्यमें परमप्रभु परमेश्वरके प्रादुर्भावके प्रसङ्गमें श्रीसीता-तत्त्वका इस प्रकार विवेचन पाया जाता है—

बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबि निधि जग मूला॥
जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

इन तीन चौपाइयोंमें महाशक्तिस्वरूपा श्रीसीता-तत्त्वका स्वरूप वर्णन करते हुए प्रथम चौपाईके आरम्भमें 'बाम भाग' शब्द लिखकर तथा तीसरी चौपाईके अन्तिम चरणमें 'बाम दिसि' शब्दका ही सम्पुट लगाकर जो ऐश्वर्य वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि श्रीसीताजी श्रीपरमप्रभुसे सदैव अभिन्नस्वरूपा हैं। इस बातकी पुष्टि ग्रन्थगत अपर प्रसङ्गोंसे भी भलीभाँति हो रही है। उदाहरणार्थ दो-एक प्रसङ्ग यहाँ दिखलाये जाते हैं—

(१) बालकाण्डके अन्तर्गत सती-मोह-प्रसंगमें जब सतीजी

श्रीरामजीकी परीक्षा ले लज्जित होकर शिवजीके समीप लौटी आ रही थीं, उस समय लीलास्वरूपमें यद्यपि श्रीसीताजीका रावणद्वारा हरण तथा अनलनिवासके द्वारा अन्तर्धान होनेसे स्पष्टतः श्रीरामचन्द्रजीके साथ वियोग दीखता था तथापि मार्गमें अखण्ड अभिन्न श्रीसीताजीका दर्शन श्रीरामजीके साथ-साथ सतीको होता आ रहा था—

सतीं दीख कौतुकु मग जाता। आगें रामु सहित श्री भ्राता॥
फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर वेषा॥

× × × ×

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥

× × × ×

सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहिं जेहिं बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥

× × × ×

पूजहिं प्रभुहि देव बहु वेषा। राम रूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥

यहाँ भी वही महत्त्व दिखलायी देता है। जिस प्रकार श्रीरघुनाथजी अनेकों शिव-विधि-विष्णुसे सेवित हो रहे हैं, उसी प्रकार श्रीसीताजी भी अमित सती-विधात्री-इन्दिरा आदिके द्वारा सेवित हो रही हैं।

(२) अवधकाण्डके अन्तर्गत वन-गमनके प्रसंगमें जब श्रीगङ्गाजीके तटवर्ती शृङ्गवेरपुरतक पहुँचाकर सुमंत्रने श्रीरामचन्द्रजीसे महाराज दशरथजीका सन्देश कहा—

जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया।
पितु सँदेसु सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना॥

और तब श्रीमुखसे उस शिक्षाको सुनकर श्रीसीताजीने स्वयं अपनी नित्य-एकता तथा अभिन्नताके स्वरूपको इस प्रकार उपमा-सहित निवेदन किया—

प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥

यहाँ पहले 'तनु' और 'छाया' की उपमासे श्रीचक्रवर्ती दशरथजी महाराजके सन्देशकी ओर लक्ष्य कर वियोगको असम्भव बतलाया गया है! क्योंकि सन्देशमें आया है—

'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई,' तो 'फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी॥' श्रीसीताजी इसीको असम्भव बतलानेके लिये कहती हैं कि कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, शरीरके जानेपर शरीरकी छायाको रोका नहीं जा सकता। ऐसी अवस्थामें रोकनेवालेका प्रयास व्यर्थ ही होगा। अतः स्पष्ट है कि यह उपमा रोकनेवाले श्रीदशरथजी तथा श्रीसुमंतजीको ही लक्ष्य करके कही गयी है। दूसरी दो उपमाएँ श्रीरघुनाथजीके मुखसे निकली हुई 'फिरइ त सब कर मिटै खभारू'—इस आज्ञाके पालनकी असमर्थतामें दी गयी हैं। श्रीसीताजीका तात्पर्य यह है कि मेरी क्या सामर्थ्य है जो श्रीकृपालुसे एक क्षणके लिये भी मैं विलग हो सकूँ। प्रभा सूर्यसे अलग होकर क्या कहीं ठिकाना पा सकती है? कदापि नहीं। क्योंकि सूर्यके ओट होते ही उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।' तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्रजीसे अलग होकर श्रीसीताजी जीवित नहीं रह सकतीं।

जहाँ सूर्य रहेंगे, वहाँ प्रभा अवश्य रहेगी—यह निश्चय है ! उसी प्रकार जहाँ श्रीराम हैं, वहीं सीता रहेंगी । यही भाव श्रीवाल्मीकीय रामायणमें रावणके प्रति श्रीसीताजीके इस कथनमें आता है—

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।

इसी प्रकार चन्द्रमा और उनकी चाँदनीकी दूसरी उपमा भी इसी भावको पुष्ट करती हुई श्रीरामचन्द्रजीके साथ श्रीसीताजीके अहर्निशके वियोगको असम्भव सिद्ध कर रही है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्यसे प्रभा दिनमें तथा रात्रिमें चन्द्रसे चाँदनी अलग नहीं हो सकती, उसी प्रकार श्रीसीताजी दिवस-रात्रि कभी भी श्रीरामजीसे अलग नहीं हो सकतीं ।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।

अब इस विलक्षण सम्पुटके भीतर जो ऐश्वर्य सूचित किया गया है, उसपर भी किञ्चित् विचार करना चाहिये ।

'बाम भाग सोभति अनुकूला'—यह चरण भी ऐश्वर्यसम्बन्धी ही है । क्योंकि श्रीरामजी तथा श्रीसीताजीका जो अवताररूप माधुर्य-विग्रह स्वायम्भुव मनुको दृष्टिगोचर हो रहा है, वह तो लीलावपु ही सिद्ध है । इसका प्रमाण मनुजीका यह अभिलाष और विश्वास ही है—

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीला तनु गहई ॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा । तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥

इसीलिये उस प्रकट विग्रह—लीला-वपुके लिये यह अन्तिम चरण दिया गया है—

राम बाम दिसि सीता सोई ॥

परन्तु यह 'सोई' कौन है ? इसीको लक्ष्य करके ऊपरके पाँचों चरणोंमें ऐश्वर्यस्वरूपका वर्णन कर दोनोंका ऐक्य सिद्ध किया गया है। अतः प्रथम चरण उन्हीं आदिशक्ति, जगमूल, छविकी खानि श्रीमहालक्ष्मीजीके लिये है। जो वैकुण्ठमें साक्षात् श्रीमन्नारायणकी अनुकूला (अनुकूलस्वरूपा) होकर नित्य वामभागमें शोभित रहा करती हैं। तथा जिस प्रकार श्रीमन्नारायण (परस्वरूप) से अनेकों शिव, ब्रह्मा और विष्णु अंशरूपमें उपजते हैं। जैसे—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥

—उसी प्रकार उन आदिशक्ति महालक्ष्मीजीके अंशसे अगणित गुणोंकी खान उमा, रमा और ब्रह्माणियाँ उपजती रहती हैं। अतएव जिनके भ्रुकुटि-विलासमात्रसे जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार-शक्तियाँ प्रकट होती हैं, वही सर्वोपरि महाशक्ति श्रीलक्ष्मीजी श्रीसीता-रूपमें श्रीरामजीके वाम पार्श्वमें श्रीस्वायम्भुव मनुको दर्शन दे रही हैं, यह बात आगे चलकर स्वयं श्रीरामजीने अपने श्रीमुखसे श्रीमनु-शतरूपाके प्रति कही है। जैसे—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

महर्षि वाल्मीकिजीके मिलन-समयके वचन भी इसके प्रमाणकी सूचना देते हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

श्रीआलवन्दारस्तोत्रमें भी इसी सिद्धान्तको पुष्ट करते हुए कहा गया है कि जगत्का ईशित्व श्रीजानकजीको ही है। जैसे—

आकारत्रयसम्पन्नामरविन्दनिवासिनीम् ।
अशेषजगदीशित्रीं वन्दे वरदवल्लभाम् ॥

यहाँ जिस प्रकार आकारत्रय—अनन्यशेषत्व, अनन्यभोग्यत्व तथा अनन्यशरणत्वकी बात कही गयी है, उसी प्रकार उपर्युक्त प्रथम चौपाईमें तीन ही गुण 'आदिशक्ति', 'छबिनिधि' और 'जगमूला' का सङ्केत किया गया है। इस प्रकार विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि—'आदिशक्ति' में ही अनन्यशेषत्व सम्भव है। 'आदिशक्ति' भगवत्-शेष न होकर दूसरा ऐसा कौन अनादि है, जिसकी शेष होगी।

छबिनिधिमें ही अनन्यभोग्यत्व सम्भव है, क्योंकि छबिकी निधि श्रीजी भगवद्-भोग्य न होकर और किसकी भोग्या हो सकती हैं यही सुन्दरकाण्डमें कहा है—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥

तथा सर्वजगत्की मूलस्वरूपामें ही अनन्यशरणत्व सम्भव है। जो स्वयं जगत्की मूल हैं, वे भगवत्को छोड़कर अन्य किसकी शरण ले सकती हैं?

जिस प्रकार इस मनु-प्रसङ्गमें श्रीस्वायम्भुव मनुकी अभिलाषा केवल परमप्रभुके दर्शनमात्रकी पायी जाती है, जैसे—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

—उसके अनुसार तो ब्रह्मको केवल एक विग्रह-रामरूपमें

प्रकट होकर दर्शन देता था। तब श्रीसीता और श्रीरामके दो रूपोंमें श्रीभगवान् क्यों प्रकट हुए? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि परमप्रभुके जिस स्वरूपका दर्शन मनुजी करना चाहते थे, वह शक्तिरहित न होकर नित्यशक्तिसंयुक्त ही है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त सर्व-विशेषणोंसे विशिष्ट परब्रह्म नित्य द्विधाविग्रह सशक्ति ब्रह्म ही है, शक्तिरहित ब्रह्म नहीं। इसीसे 'वासुदेव' और 'हरि' शब्दके वाच्यार्थमें परमप्रभुके श्रीलक्ष्मी-नारायण उभय दिव्यविग्रह सम्मिलित हैं।

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे॥

इसी कारण वे परमप्रभु अपने पूर्ण स्वरूपसे अर्थात् शक्ति-संयुक्त लीलातनु (अवतारस्वरूप) श्रीराम और श्रीसीताके रूपमें प्रकट हुए हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है—

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ॥

इसलिये यह अकाट्य और स्पष्ट सिद्धान्त है कि ब्रह्मसे शक्ति भिन्न नहीं है—'कहिअत भिन्न न भिन्न।' अतएव जिस प्रकार साक्षात् श्रीमन्नारायणने श्रीरामरूपमें अवतार लेकर भूभार हरने तथा धर्मस्थापन करनेके साथ-साथ अपनी मर्यादाकी सीमा दिखलाकर पुरुषोंके लिये लोक-परलोकका मार्ग प्रशस्त कर दिया है, उसी प्रकार साक्षात् श्रीलक्ष्मीजीने श्रीसीतारूपमें प्रकट होकर भूभारनिवारण आदि कार्योंके साथ महान् नारी-धर्मकी मर्यादा प्रदर्शित कर स्त्रियोंके लिये लोक-परलोकका सुन्दर मार्ग दिखला दिया है। मानव-जगत्के सम्पूर्ण

नर-नारियोंके लिये श्रीसीता-रामजी इस प्रकार आदर्श बने हैं और भक्तोंके लिये तो श्रीयुगलसरकारने अपना नाम और यश प्रदानकर कुछ अप्राप्य ही नहीं रहने दिया। नीचे इसका किञ्चित् प्रमाण देकर लेख समाप्त किया जा रहा है।

प्रथम जिस प्रकार श्रीअवधकी शोभा—

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ॥

—इस दोहेमें वर्णित है, उसी प्रकार श्रीमिथिलाकी शोभाका—

बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बर बेषु।
तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥

—इस दोहेमें वर्णन मिलता है। पुनः नारीधर्मकी शिक्षाके प्रमाण इन चौपाइयोंमें प्राप्त होते हैं—

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री,सेवा बिधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥
जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति करत सुभावहि खोइ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

श्रीकौशल्यामाताके चरित्रसे शिक्षा

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा॥
दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥
तेहिं मनु राज कीन्ह बहुकाला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥
बरबस राज सुतहि तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥
तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधि दाता॥
द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥

करहिं अहार साक फल कंदा । सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा ॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे । वारि अधार मूल फल त्यागे ॥
उर अभिलाष निरंतर होई । देखिअ नयन परम प्रभु सोई ॥

× × ×

प्रभु सर्वग्य दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी ॥
मागु मागु बर भै नभ बानी । परम गभीर कृपामृत सानी ॥

× × ×

श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात ।
बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदयँ समात ॥

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू । बिधि हरि हर बंदित पद रेनू ॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं । जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा । सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥
दंपति बचन परम प्रिय लागे । मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे ॥
भगत बछल प्रभु कृपा निधाना । बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥

× × ×

हरष बिबस तन दसा भुलानी । परे दंड इव गहि पद पानी ॥
सिर परसे प्रभु निज कर कंजा । तुरत उठाए करुनापुंजा ॥

बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि ।
मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि ॥

× × ×

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ ॥
देखि प्रीति सुनि बचन अमोले । एवमस्तु करुनानिधि बोले ॥
आपु सरिस खोजौं कहँ जाई । नृप तव तनय होब मैं आई ॥

सतरूपहि बिलोकि कर जोरें। देबि मागु बरु जो रुचि तोरें ॥
जो बरु नाथ चतुर नृप मागा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ॥
प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगत हित तुम्हहि सोहाई ॥
तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई ॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥

जिस समय श्रीस्वायम्भुव मनु और रानी शतरूपाने भगवत्प्राप्तिके लिये राज्य त्यागकर श्रीनैमिषारण्यतीर्थमें घोर तपस्या की और परम प्रभु भगवान्‌को रामरूपमें पाकर उनसे अपना पुत्र बननेका वर प्राप्त किया, उस समय वर-याचनामें श्रीशतरूपा (कौशल्याजी) अपने पतिदेव महाराज मनुजीसे इतना और अधिक बढ़ गयीं कि 'हे नाथ! निज भक्तोंकी भाँति मुझको विवेकादि सुखोंको भी प्रदान कीजिये।' भगवान्‌ने उनकी ऐसी रुचि देखकर परम उदारताके साथ यहाँतक स्वीकार कर लिया कि 'इस समय जो कुछ भी तुम्हारे मनमें इच्छाएँ हो रही हैं—कथनसे जो कुछ भी छूट गया है, उन सबको मैंने प्रदान कर दिया। हे माता! मेरे अनुग्रहसे तुम्हारा अलौकिक विवेक अब कभी नहीं मिटेगा।' यथा—

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना ॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें ॥

इसपर जब श्रीस्वायम्भुव मनुने देखा कि उनकी पत्नी शतरूपाजीने

'जो बरु नाथ चतुर नृप मागा' कहकर 'चतुर' शब्दसे यद्यपि मुझको आदर दिया है; तथापि इनके मनमें यह बात अवश्य बैठ गयी है कि केवल पुत्र बननेका वर अपर्याप्त है, इसलिये मैं विवेकादि सुखोंको भी क्यों न माँग लूँ। इससे यह टपक रहा है कि ये केवल पुत्र बननेका वर माँगनेसे हमारी अदूरदर्शिता समझ रही हैं। अतः अपने माँगे हुए वरपर जोर देनेके लिये मनुजी फिर बोले—

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी॥
सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥
अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥

'प्रभो! मेरी एक और 'विनती' है। आपके चरणोंमें मुझको पुत्रभावकी ही प्रीति हो। चाहे मुझे कोई महामूढ़ ही क्यों न कहे; परन्तु जिस प्रकार विना मणिके सर्पके प्राण नहीं रहते, विना जलके मछली नहीं जी पाती, उसी प्रकार आपके वियोगमें मेरे प्राण न रह सकें।' ऐसा वर माँगकर उन्होंने चरण पकड़ लिये। तब करुणा-निधान भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहकर उसको भी स्वीकार कर लिया और आज्ञा दी कि 'अभी आप दोनों इन्द्रपुरमें वास करें; जब अयोध्यामें आपलोग राजा दशरथ और कौशल्या होंगे, तब मैं वहाँ आकर आपलोगोंका पुत्र बनूँगा।'

तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥

समय आनेपर भगवान् रामजीने श्रीचक्रवर्ती दशरथजी

(स्वायम्भुव मनुजी) के यहाँ श्रीकौशल्याजी (शतरूपा) के गर्भसे अवतार लिया और अपने पूर्व प्रदान किये हुए वरके अनुसार विवेकजनित सुखोंको माता कौशल्याके भागमें रखकर पुत्रविषयक आनन्द दम्पतिको दिया—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।

प्रकट होते समय भगवान्‌ने अपना जो चतुर्भुज रूप दिखाया, उसको केवल कौशल्याजीने ही देखा—'हरषित महतारी.......... अद्भुत रूप बिचारी।' इसीसे यहाँ केवल 'कौसल्या हितकारी' पद आया है। जब भगवान्‌ने पूर्व वरदानकी कथाको श्रीकौशल्याजीसे कहकर उनको सन्तुष्ट कर दिया—

कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥

—तब उन्होंने प्रार्थना की कि प्रभो! अब आप शिशुलीला करें—

कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।

उसके पश्चात् भगवान् जब नर-बालक बनकर रुदन करने लगे—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा॥

—तब दूसरोंको ज्ञात हुआ। श्रीदशरथादिजीको भी नर-बालक रूपका ही दर्शन मिल सका! परन्तु वह रूप केवल कौशल्याके ही लिये नहीं हुआ बल्कि गौ, ब्राह्मण, देवता और संत आदि सबका हितकारी हुआ। इसीलिये नीचेके दोहेमें—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

—दिया गया है।

इस प्रकार भगवान्‌के नरवत् बाल-चरित्रमें यों तो दशरथ और कौशल्या दोनोंका भाग था—

दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत ॥

—परन्तु विवेकादिसम्बन्धी सुखपूर्ण लीलाएँ अकेले कौशल्या माताके ही साथ होती रहीं। यथा—

.... एक बार जननीं अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए ॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना ॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा ॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देख सुत जाई ॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयँ कंप मन धीर न होई ॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥

सूर्यवंशी कुलके इष्टदेव भगवान् श्रीरंगनाथजीकी पूजाके समय जब नैवेद्यका भोग लगाया गया तो श्रीरामजी, जो श्रीरंगनाथजीके ही स्वरूप हैं, स्वयं भोजन करते पाये गये और इधर पालनेपर भी सोते हुए दिखायी पड़े। अतः दोनों जगह एक ही समान दो बालकोंको देखकर माता श्रीकौशल्याजी आकुल हो उठीं। तब श्रीभगवान्‌ने मुसकराकर अपने उस अद्भुत रूपको, जिसके रोम-

रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड थे, दिखाया । परन्तु इस रूपमें केवल कौशल्याजीको दर्शन दिया गया, श्रीदशरथजीको नहीं । बल्कि श्रीमुखसे इस रहस्यको दूसरोंसे बतलाना भी रोक दिया गया—

हरि जननी बहुबिधि समुझाई । यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ॥

अतएव भगवान्‌के माधुर्यचरित्र—जैसे बाललीला, कर्णवेध, उपवीत, विवाहादिका सुख दम्पतिको मिला; किन्तु ऐश्वर्यलीला अर्थात् चतुर्भुजरूप और विश्वरूप दर्शनादिका आनन्द केवल कौशल्याजीको प्राप्त हुआ । जब वनगमनकी लीलाका अवसर आया और श्रीरघुनाथजी माता कौशल्यासे विदा होने लगे तब श्रीअम्बाजीने विवेकसूचक वचनोंसे रीति-नीतिकी कैसी शिक्षा दी, उसे देखिये—

राखि न सकइ न कहि सक जाहू । दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥
धरम सनेह उभयँ मति घेरी । भइ गति साँप छुछुंदरि केरी ॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू । धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू ॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी । संकट सोच बिबस भइ रानी ॥
बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी । रामु भरतु दोउ सुत सम जानी ॥
सरल सुभाउ राम महतारी । बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका । पितु आयसु सब धरमक टीका ॥

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी । खग मृग चरन सरोरुह सेवी ॥
अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू । बय बिलोकि हियँ होइ हराँसू ॥

बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी ॥
जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू ॥
पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के ॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ ॥

यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ ॥

परम विवेकशीला श्रीकौशल्यामाताजीकी बुद्धिने जब धर्मका विचार किया तो 'नारिधर्म पतिदेव न दूजा' ही समुचित जान पड़ा; परन्तु हृदयमें पुत्रस्नेहकी भी पराकाष्ठा थी। अतएव धर्म और स्नेह दोनोंने उनकी बुद्धिको घेर लिया, न रोकते बनता था और न जानेकी आज्ञा देनेका ही साहस होता था। सोचने लगीं कि 'यदि पुत्रको रोकती हूँ तो अपना पतिव्रत-धर्म जाता है, आपसमें बन्धु-विरोध भी होता है; और यदि जानेके लिये कह देती हूँ तो बड़ी भारी हानि होती है।' ऐसे धर्म-संकट और वियोग-दुःखकी चिन्तामें पड़कर रानी विवश हो गयीं, उनकी दशा साँप और छछूँदरकी-सी हो गयी;* परन्तु सयानी—विवेकशीला होनेके कारण उनको शीघ्र ही अपना स्त्रीधर्म समझमें आ गया। उन्होंने [पातिव्रतधर्मको प्रधानता दी और] अपने सगे पुत्र राम तथा सौतेले पुत्र भरतको एक समान माना। इससे बन्धुविरोधकी जड़ उखड़ गयी और

* यदि साँप छछूँदरको पकड़कर निगल जाता है तो उसको कुष्ठ-रोगसे पीड़ित होकर मर जानेका भय रहता है और यदि छोड़ देता है तो उसकी हवासे अन्धे हो जानेकी आशङ्का रहती है। अतएव दोनोंमेंसे उसे कोई भी करते नहीं बनता।

स्नेहके लिये उन्होंने मनमें खूब धैर्य धारण कर लिया। पश्चात् अपने सरल स्वभावसे बोलीं—'हे तात! तुमने बहुत उत्तम निश्चय किया है, क्योंकि पिताकी आज्ञाका पालन करना ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। तुमको पिताने राज्य देनेका वचन दिया था, परन्तु वन दे दिया—इसका मुझको लेशमात्र भी दुःख नहीं है; [परन्तु चिन्ता इस बातकी है कि] तुम्हारे बिना भरत, स्वयं श्रीराजाजी और समस्त प्रजा आदि सबको बड़ा भारी कष्ट होगा। अतएव यदि केवल पिताकी आज्ञा है, तो माताकी आज्ञा न होनेके कारण तुम अपने इस धर्मका विचार करके रुक सकते हो कि 'पुत्रको पिता-माता दोनोंकी आज्ञाओंमेंसे माताकी आज्ञाको दसगुना अधिक गौरव देना चाहिये—

पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।

(मनुस्मृति)

(इस कथनसे श्रीकौशल्यामाता न तो पतिके विरुद्ध रोकती ही हैं, क्योंकि ऐसा करनेसे उनका पातिव्रतधर्म चला जायगा, और न वनगमनकी आज्ञा ही देती हैं।) परन्तु यदि पिता और माता—

मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा।

—दोनोंकी आज्ञा है, तो तुमको सौ अयोध्याके समान वनको ही मानना उचित है। वनमें वनदेव ही तुम्हारे पिता बनेंगे और वनदेवियाँ ही तुम्हारी माता बनेंगी तथा वहाँके समस्त 'खग-मृग' तुम्हारे चरण-कमलोंकी सेवा करेंगे। यद्यपि वनवास राजाओंके चौथेपनका धर्म ही है, परन्तु तुम्हारे इस अल्प वयको देखकर

हृदयमें ह्रास उत्पन्न हो जाता है । अब वन ही बड़भागी है, अयोध्याका भाग फूट गया; क्योंकि तुम उसका त्याग कर रहे हो। यदि मैं तुम्हारे साथ चलनेके लिये कहती हूँ तो तुम्हारे मनमें सन्देह पैदा हो जायगा (कि 'माताजी मुझको तो ऐसी धर्म-शिक्षा दे रही हैं और स्वयं पातिव्रत-धर्मसे हट रही हैं। ऐसी धर्मज्ञा माताके इस कथनमें अवश्य कोई सन्देहकी बात है । अथवा पिताकी आज्ञा उदासीन होकर रहनेकी है और एक माता साथमें चलनेके लिये कहती हैं तो मैं किसकी आज्ञाका पालन करूँ ? अतएव मैं साथ चलनेके लिये नहीं कहती) । हे पुत्र ! तुम सबको परम प्यारे हो—सबके आत्मा हो। सबके प्राणोंके प्राण हो और सब जीवोंके जीवन अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो । फिर भी तुम मुझको अपनी माता बनाकर—स्वयं पुत्र बनकर मुझसे कह रहे हो कि 'मैं वनको जा रहा हूँ' और ऐसे हृदयवेधक वचनको सुनकर भी मैं जीवित हूँ'—बैठी-बैठी पछता रही हूँ (अर्थात् ऐसी अवस्थामें मुझको मर जाना उचित था) । अतः मैं अपने स्नेहको झूठा मानती हूँ और ऐसे झूठे स्नेहको बढ़ाकर हठ करना अनुचित समझती हूँ । तुमको पुत्र माननेका मेरा नाता तो झूठा हो गया; परन्तु तुम जो मुझको अपनी माता मान चुके हो, उस नाते मेरी स्मृति न भुला देना ।'

श्रीकौशल्यामाताके चरित्रमें प्रबल पातिव्रतधर्मकी शिक्षाके साथ-साथ, जिसका रहस्य अन्तमें प्रकट होगा, दो और बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं । पहली बात यह है कि स्त्रियोंको अपनी छोटी-

बड़ी सभी सौतों तथा जेठानी-देवरानियोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा श्रीकौशल्यामाताके चरित्रसे ही मिलती है। यद्यपि कैकेयीजीकी घोर अनीति उनके सामने थी, वे बिना अपराधके ही प्यारे पुत्र रामजीको वनमें भिजवाकर कोई भी हक न रखनेवाले अपने बेटे भरतको राजगद्दी दिलवा रही थीं, तथापि श्रीकौशल्या-माताके हृदयमें तनिक भी द्वेषका सञ्चार नहीं हुआ। बल्कि वे अपने प्राणप्रिय पुत्रको ही शिक्षा देने लगीं—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

दूसरी बात यह है कि सारे जगत्‌की माताओंको अपने सगे, सौतेले आदि लड़कोंके साथ कैसा प्रेम रखना उचित है—इसकी भी शिक्षा श्रीकौशल्यामातासे ही मिलती है, जिन्होंने वैसी द्वेषजनक परिस्थितिमें पड़कर भी 'रामु भरतु दोउ सुत सम जानी' के निश्चयको दृढ़ रक्खा। इतना ही नहीं, दोनों पुत्रोंको समानरूपसे जाननेका प्रमाण भी दे दिया। जिस समय श्रीभरतजी अपने ननिहालसे लौटकर आये और विकल होकर श्रीकौशल्यामातासे मिलने गये उस समयकी अवस्था देखिये—

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥
सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहु राम फिरि आए॥

× × × ×

मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

श्रीभरतजीको देखते ही श्रीकौशल्या अम्बा आतुर होकर दौड़ीं,

परन्तु चक्कर आ जानेसे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। जब भरतजी जल्दीसे उनके समीप पहुँचे, तब उनको हृदयसे लगाकर इस तरह सुखी हुईं मानो श्रीरामजी वनसे लौटकर आ गये हों। श्रीभरतजी नाना प्रकारसे शपथ खा-खाकर अपनेको निर्दोष साबित करने लगे। इसपर श्रीकौशल्यामाताजीने यह कहा कि 'इस कार्यमें जो कोई तुम्हारी सम्मति बतलायेगा, वह स्वप्नमें भी सुख और सुयशका भागी न होगा' और फिर भरतजीको हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके दोनों स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर गये। अस्तु 'रामु भरतु दोउ सुत सम जानी' का इससे अधिक प्रबल प्रमाण और क्या होगा? माताके स्तनोंसे अपने ही बच्चेके लिये दूध टपकता है, दूसरेके बच्चेके लिये नहीं। इसके अतिरिक्त जब चित्रकूटमें जनकजीकी धर्मपत्नी सुनयनासे भेंट हुई, उस समयके 'मोरें सोचु भरत कर भारी' तथा—

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

—आदि वचन इस कथनकी और भी पुष्टि कर रहे हैं।

श्रीकौशल्याजीके चरित्रमें पातिव्रतधर्मकी शिक्षा कूट-कूटकर भरी पड़ी है। उनके सम्पूर्ण आदर्श चरित्र एकमात्र पतिदेवताकी अनुकूलताके लिये ही थे। ग्रन्थमें प्रमाण देखिये—

कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत॥

परन्तु उनके चरित्रसे एक और भी शिक्षा निकल रही है,

वह यह कि लोकहितके लिये पतिका अनुगमन छोड़कर दूसरी राह पकड़नेकी धृष्टताको कौन कहे, परलोक-हितके लिये भी यदि कोई स्त्री अपने पतिके अनुगमनको छोड़कर आगे बढ़ती है तो परिणाममें उसको पश्चात्ताप करना पड़ेगा । उदाहरणमें श्रीकौशल्या-माताको ही लीजिये । वे जब श्रीशतरूपाजीके रूपमें थीं, तब उन्होंने श्रीमनुमहाराजसे आगे बढ़कर विवेकादिका वरदान माँगा था । इसीलिये उसके फलस्वरूप श्रीकौशल्यारूपमें उनको पश्चात्ताप करना पड़ा, अपने ही मुँहसे अपने स्नेहको झूठा बतलाना पड़ा और प्राण न दे सकनेके कारण—

यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ ।

—तक कहना पड़ा । साथ ही अपने पतिदेव श्रीदशरथजीके उसी 'सुत बिषइक···पदरति····'के वरदानके लिये, जो उनको मनुरूपमें 'फनि बिनु मनि जिमि जल बिनु मीना' की तरह प्राप्त हुआ था, उनकी खुले मुँह सराहना करनी पड़ी—

जिएँ मरैं भल भूपति जाना । मोर हृदय सत कुलिस समाना ॥

इसलिये धर्मज्ञ और पतिव्रता स्त्रियोंको श्रीकौशल्याके चरित्रसे शिक्षा लेकर लोक-परलोक दोनोंकी दृष्टिसे पतिकी अनुगामिनी बनना चाहिये । इसीमें कल्याण है ।

श्रीकैकेयी और सुमित्रामाताके चरित्रसे शिक्षा

श्रीकैकेयीजी

भरतमाता श्रीकैकेयीजीके चरित्रोंसे प्रकट और गुप्त—दो प्रकारकी शिक्षाएँ लौकिक तथा पारलौकिक रूपोंमें मिलती हैं। प्रथम प्रकटरूपमें लोकशिक्षाको स्पष्ट किया गया है—जैसे कोई कैसा भी भला घर क्यों न हो, घरवालोंमें परस्पर कैसी भी प्रीति क्यों न हो, घरकी स्त्रियाँ कैसी भी सुयोग्य और सुबोध क्यों न हों परन्तु जहाँ उन्होंने चेरियों (नौकरानियों) की सेवा-शुश्रूषासे प्रसन्न होकर उनका अनुचित मान बढ़ाया कि उन मन्दबुद्धिवाली स्त्रियोंको इधर-उधर भेदभाव पैदा करने और चुगली खानेका अवसर मिल जाता है। बस, रईसोंकी रमणियाँ उसीमें अपना हित जानकर उनकी बातोंमें आ जाती हैं तथा अपनी सुशीलता और सुबोधताको खो बैठती हैं—'रहइ न नीच मतें चतुराई'। परिणाम यह होता है कि वे अकारण ही परस्पर विरोध और विग्रह करनेपर उतारू हो जाती हैं तथा सब प्रकारसे हानि और दुःखका शिकार बनती हैं। श्रीकैकेयीमाताको देखिये, पहले वे किस तरह विचारशीला और सुमति-भाजन थीं! दासी मन्थराके वचनोंके उत्तरमें पहले उन्होंने कितने सुन्दर विचार प्रकट किये थे—

सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥

× × ×

सुदिनु सुमंगल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥
जेठ स्वामि सेवकु लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥
राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥
जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पुतोहू॥
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह के तिलक छोभु कस तोरें॥

जिस समय पुरवासिनी स्त्रियाँ इकट्ठी होकर श्रीकैकेयीजीको सिखलाने लगीं, उस समयके वचनोंसे भी श्रीकैकेयी अम्बाका पूर्व स्वभाव स्पष्ट हो रहा है—

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहिं अपराध आजु बन देहू॥
कबहुँ न कियहु सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सबु देसू॥
कौसल्याँ अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥

ऐसी शुद्धहृदया और सुबोधा होते हुए भी श्रीकैकेयीजी मन्थरा चेरीकी बातोंमें आ गयीं और इतनी कठोरहृदया—इतनी अबोधा बन गयीं कि अपनी ही करतूतोंसे अपने पतिदेवकी मृत्युका कारण बनीं—

लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू॥

तथा अपने प्राणप्रिय रामजीको वनमें भेजकर अनादि कालतकके लिये अपयशका पात्र बनीं। अतएव सम्पूर्ण जगत्की माताओं और

बहिनोंको इस शिक्षासे सचेत रहना चाहिये, ताकि उन्हें भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाली बातोंके सुननेतकका भी अवसर न मिले।

द्वितीय, गुप्तरूपकी परलोक-शिक्षाका निरीक्षण कीजिये--

होत अजुक्त जुक्त स्वामिन हित बलि छलि हरि न भिखारी।
जग स्वारथ हित प्रभुहि पठै बन तथा भरत महतारी॥
जनै भरत अस भक्त प्रेम गौरव दरसावै।
प्रभु प्रसन्न सौ बार उन्हैं कोउ बिपिन पठावै॥
राम ब्रह्म परिपूर्ण वर कि बन कहँ प्रभु नहिं जेहि ठौर।
किंतु भरत अस भक्त नुकीलो है त्रिभुवन नहिं और॥
ज्यों त्यों आवें काम रामके, आप दुखी-बदनाम।
तनके ते कठिन बोरिबो जसको, यह ऐसनि को काम॥
प्रान दै दियो जस न दै सक्यो, पिया बचा गयो कंध।
सो करतूति कीन्हि कैकेयी, प्रेम निगोड़ो अंध॥
भूखे भजैं अघाने गावैं, रोग रटैं कोउ और।
प्रिय प्रभु हित सहि अजस जियत्र जग भगति मेरुँ को ठौर॥

महान् व्यक्तियोंके अयुक्त—अनुचित कार्योंमें भी युक्तता अर्थात् औचित्य रहता है। जैसे भगवान् वामनने राजा बलिसे छल करके भिक्षा ली तो कुछ अपने स्वार्थके लिये नहीं। क्योंकि जो भगवान् आप्तकाम हैं वे भिखारी कैसे बन सकते हैं! अतएव उनका वह कार्य देवताओंकी रक्षा एवं जगत्-हितके लिये हुआ था। उसी प्रकार भरतमाता श्रीकैकेयीजीने भी प्रभु श्रीरामजीको संसारके हितके लिये ही वन भिजवाया था। जो माता भरत-सरीखे भगवद्भक्त पुत्रको पैदा करके श्रीभगवान्‌को अर्पण कर दे और जिस भक्तसे भगवद्भक्तिका गौरव बढ़े—

राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥

—वह माता यदि श्रीरामजीको सौ बार भी वनमें भेजे तो प्रभु उसपर प्रसन्न ही रहेंगे। कारण यह है कि श्रीरामजी व्यापक ब्रह्म हैं, वे घरमें अथवा वनमें सब जगह हैं। उनके लिये घर और वन—सब समान हैं। किन्तु श्रीभरतजी-सरीखा भक्तभूषण तो त्रिभुवनमें भी कोई नहीं है। किसी प्रकार भगवान्‌की सेवा होनी चाहिये, चाहे सेवक दुखी और बदनाम ही क्यों न हो। वास्तविक सेवक वही है, जो किसी प्रकार स्वामीसे कपट अथवा स्वार्थ नहीं रखता—

सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥

यशको छोड़कर अपयशका भागी बनना मृत्युसे भी कठिन है—

संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥

परन्तु ऐसी सेवा करना ही कैकेयी अम्बाका काम था। उनके पतिदेव श्रीदशरथजी महाराजने प्राण दे दिये, किन्तु यश नहीं दे सके। इस कठिन सेवासे बगल ही दबा गये। और इधर भगवान् रामजीकी प्रेमान्ध भक्ता श्रीकैकेयीमाताने अपने यशका परित्याग करके अपयश-भागी बननेकी कठिन सेवाको पूरा किया। यदि रामजीको उन्होंने वनमें न भेजा होता तो प्रभुका भूभार उतारनेका मुख्य कार्य नहीं हो पाता। उनको वनमें भेजकर किसीको अपयशका भागी बनाना आवश्यक था। बस; इसी सेवाको कैकेयीमाताने अपने जिम्मे ले लिया था। संसारमें स्वार्थी भक्तोंकी कमी नहीं है। किसीको ज्यों ही भूख लगती है कि वह क्षुधाग्नि-से सन्तप्त होकर 'भगवान्! भगवान्!' पुकारने लगता है और कहता है कि 'हे प्रभु, कहींसे भोजन भिजवाओ!' अथवा जब किसीका पेट भरा रहता है तो वह अपने श्रवणानन्दके लिये राग रागिनियोंद्वारा कोई भजन

गाने लगता है या बहुधा रोग-पीड़ित भी 'हाय राम, हाय राम' कहने लगते हैं। परन्तु श्रीकैकेयी अम्बाजीकी जैसी कठिन भक्ति थी, उन्होंने अपने प्यारे प्रभु श्रीरामजीके लिये जिस तरह अपयश उठाया और उसको आजीवन निभाया, वह दूसरोंके लिये म्याऊँका ठौर ही है। इस कथनके भावकी पुष्टि श्रीगोस्वामीजी महाराजकी इन चौपाइयोंसे होती है—

'दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥'
'बिनु समुझें निज अघ परिपाकू। जारिउँ जायँ जननि कहि काकू॥'

श्रीमुखवचन है कि '[मेरे इस वनगमनके सम्बन्धमें] यदि कोई श्रीकैकेयीमाताको दोषभागी बतलायेगा तो वह जड़ अर्थात् अज्ञानी होगा। ऐसा वही कर सकेगा जिसने गुरु, साधु-समाजके उपदेशों तथा सत्सङ्गका सेवन नहीं किया होगा।' श्रीभरतलालजीने भी कहा है कि 'अपने अपराधको न समझ सकनेके कारण मैंने कटूक्तियोंद्वारा व्यर्थ ही माताको संताप पहुँचाया।'

श्रीचित्रकूट पहुँचनेपर श्रीरामजीने माताओंमें सर्वप्रथम कैकेयीजीसे ही भेंट की और अपने सरल स्वभावद्वारा उनकी मतिको भक्तिसे खूब तर कर दिया। (भगवान् अपने परम प्रिय भक्तको ही अपनी दुर्लभ भक्ति प्रदान करते हैं—'कोउ कोउ पाव भगति जिमि मोरी॥')

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीकैकेयी अम्बाके चरणोंमें पड़कर उनको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये काल, कर्म और ब्रह्मपर दोष लगाया।

श्रीचित्रकूटसे जब अयोध्याका समाज लौटने लगा, तब भी श्रीरामजीने शुद्ध स्नेहके साथ सबसे पहले माता कैकेयीजीसे ही भेंट की—

भरत मातु पद बंदि प्रभु सुचि सनेहँ मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी सकुच सोच सब मेटि॥

वन-यात्राको पूरी करके श्रीअयोध्यामें पधारनेपर भी श्रीरामजी सबसे पहले माता कैकेयीके भवनमें गये—

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥

श्रीरामगीतावलीको देखनेसे पता चलता है कि श्रीकैकेयी जबतक जीवित रहीं, तबतक श्रीरामजी उनको माता कौशल्यासे भी अधिक सम्मान देते रहे—

मानी राम अधिक जननी तें जननिहुँ गँस न गही॥

भगवान् रामजीकी ऐसी दया माता कैकेयीपर क्यों न हो? वही तो कहते हैं—

भगतपर भजतहि भजें। (विनय०)

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

जिस अम्बाने अपने प्रभुके लिये सुयशको धूलमें मिला दिया, नाना प्रकारके सोच, संकोच लज्जा और कष्टको बर्दाश्त किया, उस जननीको निर्दोष बनाकर सर्वश्रेष्ठ सम्मान देनेके लिये प्रभु क्यों न तत्पर रहें! माता कैकेयीके द्वारा जीवमात्रको इस कठिन, किन्तु सर्वोत्कृष्ट भक्तिकी शिक्षा दी गयी है कि 'सांसारिक अपमान और बदनामीकी कुछ भी परवा न करके भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये।'

देखिये, श्रीभरतजी क्या कहते हैं—

जानहुँ राम कुटिल करि मोही । लोगु कहउ गुर साहिब द्रोही ॥
सीता राम चरन रति मोरें । अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें ॥

श्रीसुमित्राजी

जिस समय श्रीलक्ष्मणजी भगवान् रामजीकी सेवामें वनगमनकी आज्ञा लेनेके लिये माता सुमित्राजीके पास गये, उस समय उन्होंने कैसे सारगर्भित और शिक्षापूर्ण वचनोंद्वारा आज्ञा दी, पहले उसीका अवलोकन करें—

तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू । तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं । अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं । सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ॥
राम प्रान प्रिय जीवन जी के । स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें । सब मानिअहिं राम के नातें ॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू । लेहु तात जगजीवन लाहू ॥
भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ ॥
पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं । दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू । राम सीय पद सहज सनेहू ॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू । जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू । सँग पितु मातु राम सिय जासू ॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

श्रीसुमित्राजीने लखनलालको उपदेश दिया कि 'हे तात! श्रीजानकीजी ही तुम्हारी माता हैं और सब प्रकारसे स्नेह रखनेवाले श्रीरामजी ही तुम्हारे पिता हैं। जहाँ श्रीरामजीका निवास हो, वहीं तुम्हारे लिये अयोध्या है; क्योंकि जहाँ सूर्यका प्रकाश होता है, वहीं दिन माना जाता है। अतएव यदि श्रीसीता-राम वनको जा रहे हैं तो अयोध्यामें तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है। यद्यपि गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी—इन सबको प्राणकी तरह समझकर सेवा करनी चाहिये, परन्तु श्रीरामजी तो समस्त जीवोंके जीवन और सबके प्राणोंके प्राण हैं। जीवमात्रपर उनकी अहैतुकी कृपा रहती है। वे सभीके रक्षक और परम हितैषी हैं। अतः संसारके सभी परम पूज्य तथा प्रियजनोंके श्रीरामजीके नाते ही मानना उचित है। हे वत्स! हृदयमें ऐसा ही निश्चय करके श्रीरघुनाथजीकी सेवामें वनको अवश्य जाओ और अपना जीवन सफल करो। तुम्हारे हृदयमें श्रीरामपदारविन्दकी जो निष्कपट भक्ति उत्पन्न हो गयी है इसके लिये मैं तुम्हारी बलैयाँ लेती हूँ। मेरे सहित तुम बड़भागी बन रहे हो। इस जगत्में वही जननी 'पुत्रवती' है, जिसका पुत्र राम-भक्त हो। नहीं तो उसका वन्ध्या रहना ही अच्छा है, क्योंकि 'राम बिमुख सुत' पैदा होनेके कारण उसका प्रसव करना व्यर्थ हो जाता है। 'राम बिमुख सुत' से सदैव अपने हितकी हानि होती है। [यहाँ 'बिआनी' से

पशु होनेकी सूचना मिलती है, क्योंकि त्रिआाना शब्द पशुओंके लिये ही कहा जाता है। परन्तु पशु भी तो कामके होते हैं। अतएव राम विमुख सुत 'त्रादि' अर्थात् निरर्थक पशुके समान है।] हे तात! तुम्हारे ही भाग्यसे श्रीरामजी वनको जा रहे हैं; इसमें अन्य कोई कारण नहीं है! (क्योंकि तुम वहाँ अकेले ही सेवामें रहकर पूरी-पूरी सेवा कर सकोगे और तभी तुम्हारा 'शेष' नाम चरितार्थ होगा तथा भगवान् पृथ्वीका भार उतारकर तुम्हारा ही बोझ हलका करेंगे।) जितने भी पुण्यकार्य हैं, उनका सबसे सुन्दर फल श्रीसीतारामजीके चरणोंका स्वाभाविक स्नेह ही है। वहाँ तुम राग, रोष, डाह, अहङ्कार, मोह आदि समस्त विकारोंका सभी अवस्थाओंमें त्याग करके मनसा, वाचा और कर्मणा श्रीरामजीकी सेवामें लीन रहना। तुमको तो उस वनमें सब प्रकारका सुपास ही रहेगा, क्योंकि तुम्हारे माता-पिता श्रीसीता-रामजी सदा तुम्हारे साथ रहेंगे। हे पुत्र! श्रीरामजीको तुम्हारी जिस सेवासे सुख मिल सके, जिस प्रकार उनको कोई क्लेश न हो, वही करना। हमारा यही उपदेश है। ऐसी सेवा करना जिससे श्रीसीतारामजी सुखी रहकर श्रीअवधके पिता, माता, प्रिय, परिवार आदिके सुखको कभी ध्यानमें भी न लावें। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि माता सुमित्राने श्रीलखनलाल प्रभुको ऐसी शिक्षा देकर आज्ञा और आशीर्वाद दिया कि 'जाओ, श्रीरामजीके चरणोंमें तुम्हारा नित्य नवीन निर्मल और अचल प्रेम हो।'

धन्य! भगवान् जिसपर कृपा करें, उसको सुमित्रा-सरीखी माता दें। अधिकतर संसारमें यही देखा जाता है कि संयोगवश किसीके

पुत्रको वैराग्य उत्पन्न होता है—भगवद्भजनकी चेष्टाएँ होती हैं, तो माता उस पुत्रका पैर पकड़कर पीछेको ही खींचती है। स्पष्टरूपसे रोकती है, रोती-बिलबिलाती है, दूसरोंसे उसको संसारी शिक्षा देनेके लिये कहती है, यहाँतक कि साधु-महात्माओंके पास भी जाकर दुआ-विभूति माँगती है कि 'हमारा लड़का विरक्त न हो जाय।' आजकलकी माताएँ स्वार्थवश अपने पुत्रोंको उन्हीं प्रपञ्चोंकी शिक्षाएँ देती हैं, जिनसे सदैव नरककी यात्रा करनी पड़ती है—

जातें नरक निकाय निरंतर सोइ इन्ह तोहि सिखायो।
(विनय०)

उनकी दृष्टिमें वही लड़का लायक होता है, जो अनीति और अधर्मद्वारा पराये धनको उनके पास पहुँचाता है। ऐसी माताओंको श्रीसुमित्राजीसे शिक्षा लेनी चाहिये, जिन्होंने कहा था कि 'वह माता पुत्रवती ही नहीं है जिसका पुत्र भगवद्भक्त न हो। उसका वन्ध्या रहना ही अच्छा है।' श्रीसुमित्राजीने ऐसा कथन ही नहीं किया था बल्कि उन्होंने वैसा कार्य करके भी दिखा दिया था। वे सामने ही देख रही थीं एक माता (कैकेयी) अपने पुत्र (भरत) को दूसरेका हक छीनकर जबरदस्ती राज्य दिला रही है, परन्तु फिर भी उनकी निष्ठामें किसी तरहका अन्तर नहीं आया और उन्होंने अपने प्राणप्रिय पुत्र लखनलालको घोर वनवासकी सेवामें भेंट चढ़ा ही दिया ! अपितु आह्लादके साथ यह भी कहा—

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥

इतना ही नहीं, और भी देखिये। लङ्काके युद्धमें श्रीलखनलाल-

को शक्ति-बाण लगा था, उसकी औषधिको धवलगिरिके समेत लेकर श्रीहनुमान्‌जी उड़े जा रहे थे, परन्तु अयोध्या आते-आते श्रीभरतजीने उनको बिना फरका बाण मारकर नीचे गिरा दिया। उस समय श्रीमारुतिजीद्वारा श्रीसुमित्राजीने जब यह सुना कि 'लक्ष्मणजी घायल पड़े हैं' तो उन्होंने अपने दूसरे पुत्र श्रीशत्रुघ्नजीको भी आज्ञा दी कि 'तात ! तुम भी हनुमान्‌जीके साथ श्रीरामजीकी सेवामें चले जाओ। यद्यपि श्रीरामजी किसीके मानके नहीं हैं, तथापि ऐसे कुअवसरमें बन्धु-विहीन हैं, यह मुझसे सहा नहीं जाता !' वाह री माता, तेरे बोध और भावभक्तिको कोटिशत प्रणाम है ! भला, भगवान्‌की असीम दया जिस बड़भागिनी मातापर हो उसके आदर्श विचारोंका कहना ही क्या है ?

श्रीरामगीतावली, लङ्काकाण्डके १२ वें पदको देखिये—

सुनि रन घायल लखन परे हैं।
स्वामि काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन सोक, संतोष सुमित्रहि रघुपति भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात, छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपि सों कहति सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दूसरे हैं॥
'तात ! जाहु कपि सँग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधि बस सुढर ढरे हैं॥
अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

अपने एक बेटेको काम आया सुनकर दूसरेको भी भेंट चढ़ानेके

लिये तैयार हो जाना श्रीसुमित्रा-सरीखी विवेकशीला माताका ही काम था। उस अम्बाके हृदयमें यह दृढ़ निश्चय था कि 'पुत्र' वही है, जो भगवान्के अर्थ लग जाय और पुत्रवती स्त्री वही है, जो भगवद्भक्त पुत्र पैदा करे। अन्यथा 'राम विमुख सुत' से कोई लाभ नहीं होता, बल्कि उलटे हितकी हानि होती है।' अस्तु।

जगत्की सम्पूर्ण स्त्रियोंको श्रीसुमित्राजीके सिद्धान्तको सामने रखते हुए पुत्र-प्रसवकी अभिलाषा करनी चाहिये। जो माता लड़कपन-से ही अपने बच्चेमें भगवद्भक्तिका संस्कार उत्पन्न करके उसको भगवद्भक्त बना देगी, वही 'पुत्रवती' कहलानेका सौभाग्य प्राप्त करेगी। संसारके समस्त पुत्रोंका भी यही कर्तव्य है कि वे अपनी-अपनी माताओंको पुत्रवती स्त्रियोंकी गणनामें परिगणित करानेके लिये भगवद्भक्त बनें। नहीं तो उनके लिये भी विनयपत्रिकाका यह पद लागू होगा—

तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि
सठ हठि पियत विषय विष मागी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जड
जनमत जगत जननि दुख लागी॥

माताओंमें श्रीसुमित्राजीके चरित्रपर दृष्टिपात करनेसे मुँहसे बरबस निकल पड़ता है कि श्रीसुमित्रामाताजी धन्य हैं, धन्य हैं, धन्य हैं!

सियावर रामचन्द्रकी जय!

श्रीदशरथजीका 'सत्य प्रेम'

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरघुनाथजीके अन्यान्य प्रेमियोंके प्रेमको 'अमित, अवगाह, अगाध' इत्यादि भले ही कहा गया है; परन्तु 'सत्य'के विशेषणका प्रयोग केवल श्रीदशरथजी महाराजके ही 'प्रेम' के साथ किया गया है, और किसीके प्रेमके साथ नहीं। वस्तुतः श्रीदशरथजी महाराजका 'प्रेम' ऐसा ही है। श्रीग्रन्थकारने स्वरचित दोहावलीमें प्रेमकी सत्यता इस प्रकार प्रमाणित की है—

मगर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकहि मीनको है साँचिलो सनेह॥

तात्पर्य यह कि जलमें अनेकानेक जीव घर बनाकर रहते हैं परन्तु उसके प्रति सच्चा स्नेह केवल मछलीका ही होता है। वह उससे एक क्षणके लिये भी अलग हुई नहीं कि तड़प-तड़पकर प्राण दे देती है। ठीक वैसे ही, श्रीदशरथजी महाराजने श्रीरघुनाथजीके विरहमें विकलतापूर्वक प्राण-त्याग करके अपने 'सत्य प्रेम' को चरितार्थ किया है। यथा—

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम॥

जिअन मरन फलु दसरथ पावा । अंड अनेक अमल जसु छावा ॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा । राम बिरह करि मरनु सँवारा ॥

परन्तु श्रीदशरथजी महाराजके लिये यह कोई नयी बात नहीं थी । वे तो अपने इस अनुपम सुयश और सौभाग्यका सम्पादन श्रीस्वायम्भुव मनुके ही तनमें कर चुके थे, जब कि उन्होंने नैमिषारण्यमें तेईस हजार वर्षतक घोर तपस्या करके श्रीमुखद्वारा वरदान प्राप्त किया था । उस समय उन्होंने यही तो माँगा था—

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना । मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना ॥

अस्तु, श्रीदशरथजी महाराजके लिये श्रीराम विरहमें अपने 'प्रिय तन' (देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं) का तृणवत् परित्याग स्वाभाविक हो गया । प्रेमकी तीन श्रेणियाँ हैं—गौण, मुख्य और अनन्य । इनमेंसे अनन्य प्रेम प्रेमीके प्राणपर ही आश्रित रहता है । उदाहरणके लिये एक नयी ब्यायी हुई गायको लें । उसका गौण प्रेम घास चरनेमें और मुख्य प्रेम अपने बछड़ेपर रहता है । वह बछड़ेको देखते ही घास चरना छोड़कर दौड़ पड़ती है । परन्तु जब चरवाहा लाठी तानकर उसे मारने दौड़ता है, तब उसका अनन्य प्रेम प्राणाश्रित होनेके कारण वह प्राणोंके भयसे भयभीत होकर दौड़ना छोड़ देती है और वहीं खड़ी हो जाती है । उसी प्राणको श्रीदशरथजी महाराजने भगवान् श्रीरामजीके लिये न्योछावर कर रक्खा था । जब विश्वामित्रजी उनके यहाँ श्रीरामजी और श्रीलखनलालजीको लेने आये, तब उन्होंने उनसे यह स्पष्ट कह दिया—'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं । सो मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥' पर 'राम देत नहिं बनइ गोसाईं ।' कैकेयीसे भी यही कहा—'मागु माथ

अबहीं देउँ तोही । राम बिरहँ जनि मारसि मोही ॥' और जब 'राम-बिरह' आकर सामने उपस्थित हुआ, तब उन्होंने अपने प्राणको तृणके समान त्यागकर प्रेमकी सत्यता सिद्ध कर दी । यहाँतक कि वे बिना किसी अस्त्र, शस्त्र, विष या बन्धनका आघात किये केवल 'हा राम ! हा राम !!' कहते-कहते निष्प्राण हो गये ।

श्रीदशरथजी महाराजके प्रेममें और भी एक अनुपम एवं अद्वितीय विशेषता मुख्यरूपसे पायी जाती है । यह प्रायः देखा जाता है कि जो लोग प्रेमान्ध दशाको प्राप्त हो जाते हैं, उनसे पाप-पुण्यादि-का विचार तथा वर्णाश्रमादि धर्मका ठीक-ठीक निर्वाह होनेमें शिथिलता आ जाती है । कहावत भी है कि 'जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं ।' परन्तु चक्रवर्ती श्रीदशरथजी महाराजका प्रेम और कर्तव्य-पालन दोनों साथ-साथ सीमान्ततक पहुँचे हुए पाये जाते हैं । प्रमाणमें श्रीमुख-वचन ही देखिये—'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी । तन परिहरेउ प्रेम पन लागी ॥' अर्थात् श्रीदशरथजी महाराजको जितना 'राम चले बन प्रान न जाहीं' का शोक था, उतने ही वे 'प्रान जाइ बरु बचन न जाई' पर भी दृढ़प्रतिज्ञ थे । अतः श्रीदशरथजी महाराजके 'सत्य प्रेम' को बार-बार धन्यवाद है ! धन्यवाद है !!

जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ ।
जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय !



श्रीजनकजीकी भक्ति

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डके आरम्भमें वन्दनाप्रसङ्गान्तर्गत श्रीजनकजी महाराजकी वन्दना करते हुए श्रीरामचरणोंके प्रति उनके गूढ़ स्नेहकी सूचना दी है और यह भी लक्ष्य कराया है कि श्रीजनकजीने उस गूढ़ भक्ति (रत्न) को योग और भोग (रूपी सम्पुट--डिब्बे) में छिपा रक्खा था, जो श्रीरामजीका दर्शन प्राप्त होते ही प्रकट हो गयी।

श्रीजनकजीको विरक्तसमाज अर्थात् निवृत्तिमार्गवाले केवल योगिराज (ज्ञानी) जानते थे और उनसे विविध ज्ञानोपदेश प्राप्त करनेके लिये आ-आकर सन्तुष्ट हुआ करते थे। परन्तु उनको इस मर्मका पता नहीं चलता था कि श्रीजनकजीके हृदयमें श्रीरामपदारविन्दके प्रति गुप्तरूपसे प्रगाढ़ प्रेम परिपूरित है, जिसके भावसे ऐसे राज-काजकी महान् प्रवृत्तिमें रहकर भी इनको हम विरक्त ज्ञानियोंके संशयोंका निवारण करनेकी शक्ति मिल रही है। इस कारण वे बड़े-बड़े निवृत्तिमार्गी ज्ञानी चकित रहा करते थे। इधर संसारी प्रवृत्ति-मार्गी भोगी जीवोंका तो कहना ही क्या था! वे श्रीजनकराजजीको महान् राज्यविभूति भोगते देखकर उनको केवल भोगिराज ही समझते थे और इस आश्चर्यमें डूबे रहते थे कि 'हे भगवन्! ऐसी वृद्धावस्थामें भी इनमें यह शक्ति कहाँसे आ रही है कि बड़े-बड़े ज्ञानिशिरोमणि इनसे ज्ञान सीखने आते हैं!' क्योंकि उन वृद्ध जीवोंको भी यह मर्म ज्ञात

नहीं था कि 'श्रीजनकजीके हृदयमें श्रीरामजीकी गूढ़ भक्ति गुप्त है, जिसके प्रभावसे यह समस्त भोगोंको भोगते हुए भी निर्लेप-अवस्थाको प्राप्त हैं।' इस प्रकारसे उस गुप्त रामभक्तिका मर्म योगी और भोगी दोनों ही समाजोंको विदित नहीं था। जिस सम्पुट (डिब्बे)में वह रामभक्ति छिपायी गयी थी, उसका उपरला ढक्कन भोग और निचला पल्ला योग था; क्योंकि अधिकांशकी दृष्टिमें वे भोगी राजा मालूम होते थे, केवल योगियों अथवा बुधोंकी ही दृष्टिमें योगी थे, अस्तु, जब श्रीविश्वामित्रजीके साथ श्रीरामजी जनकपुरमें पहुँचे तो उनका दर्शन प्राप्त होते ही उपर्युक्त योग और भोगरूपी सम्पुटमें छिपाकर रक्खा हुआ श्रीरामप्रेमरूपी रत्न सहसा प्रकट हो गया। यथा—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

श्रीरघुनाथजीकी मनोहर और मधुर (माधुर्य) मूर्तिको देखते ही श्रीविदेह—जनकजी सचमुच—निश्चय ही विदेह हो गये। तात्पर्य यह कि उनका देहानुसंधान जाता रहा, बरबस प्रेममें मन मग्न हो गया। जब उन्होंने अपनी यह दशा देखी तो विचार करके धैर्य धारण किया और श्रीविश्वामित्रजीके चरणोंमें माथा नवाकर

गद्गद और गम्भीर वाणीसे विनती करना आरम्भ किया—'नाथ ! ये दोनों सुन्दर बालक मुनियोंके कुल-तिलक—ऋषि-महर्षियोंके शिरोमणि हैं या राजाओंके पालक—चक्रवर्तियोंके मुकुटमणि हैं ? तात्पर्य कि 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' अथवा 'योगिनां कुले'—(गीता)' कहाँ इन्होंने अवतार लिया है—प्रवृत्ति या निवृत्ति, किस संस्थाको परम पावन बनाया है ?* या जिन ब्रह्मका वेद 'न इति', 'न इति' कहकर निरूपण करता है, वे साक्षात् ब्रह्म ही दो रूप धारण करके प्रकट हुए हैं ? क्योंकि मेरा मन, जो स्वाभाविक वैराग्यरत है, जिसमें किसी भी सांसारिक सौन्दर्यकी आसक्तिका लेश नहीं, वह मन इनको देखकर वैसे ही आसक्त हो गया है जैसे चकोर चन्द्रमाको देखकर निश्चल हो जाते हैं ! अतः प्रभो ! मैं सत्य-भावसे पूछता हूँ, नाथ ! मुझसे 'दुराव' (छिपाव) न कीजिये, सच-सच बतलाइये । इनको देखते ही मेरे मनने अत्यन्त अनुरागयुक्त होकर ब्रह्मानन्दका बरबस त्याग कर दिया है और वह इनके दर्शनको ही श्रेष्ठ मान रहा है ।'

---

* श्रीराम-लक्ष्मणको श्रीविश्वामित्रादि मुनियोंके साथ आया देखकर श्रीजनकजीको 'मुनिकुल तिलक' का अनुमान हुआ और राजश्री, राजसी वस्त्राभूषण तथा धनुष-बाणादि धारण किये हुए देखकर 'नृपकुलपालक' का । मुनिलोग संसारसे उपराम होकर भगवत्परायण होनेके कारण ललाटमें भगवच्चरण-चिह्नादिको तिलकके रूपमें धारण करते हैं, अतः मुनियोंमें सर्वश्रेष्ठ लक्षित करनेके लिये 'तिलक' शब्दका कैसा सुयोग लाया गया है । इसी प्रकार राजाओंका मुख्य धर्म प्रजापालन होनेसे 'पालक' शब्द जोड़कर 'राजाओंका मुकुटमणि' अर्थात् 'महाराज' सूचित किया गया है ।

यहाँ 'सहज बिरागरूप मन मोरा' कहनेसे भोगरूप ऊपरका ढक्कन खुल गया। यह स्पष्ट हो गया कि श्रीजनकजी ऊपरसे ही भोगी दीखते थे, उनके हृदयके भीतर भोगासक्ति तनिक भी नहीं थी। आज उन्हींके बयानसे मर्मका पता चल गया। 'थकित होत जिमि चंद चकोरा' कहनेसे भोगके पर्देमें छिपा हुआ श्रीरामपदका 'गूढ़ सनेह' प्रकट हो गया और 'बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा' कहनेसे योगरूप निचला पल्ला भी खुल गया तथा इस योग (ब्रह्म-सुख) के भीतर भी छिपा हुआ वह श्रीरामप्रेम-रत्न था जिसका साक्षात् होते ही उनके मनने उस 'ब्रह्मसुख' को भी त्याग दिया। अतएव यह सिद्ध हो गया कि—

जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

अस्तु,—

जब श्रीविश्वामित्रजीने श्रीजनकजीकी यह प्रार्थना सुनी कि 'नाथ! दुराव न करके सत्य-सत्य बतलाइये,' तब वे सत्यवादी मुनिराज हँसकर कह उठे—

कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥
ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। ....॥

राजन्! आपने ठीक ही कहा; भला, कहीं आपका वचन प्रमाणरहित हो सकता है? ये (दोनों) संसारके जीवमात्रको प्यारे हैं—(इस प्रकार श्रीविश्वामित्रजी ज्यों ही प्रभुका ऐश्वर्यस्वरूप खोलने लगे, त्यों ही) श्रीरघुनाथजीने मुनिराजके उस वचनको सुनकर मुसकरा दिया—'मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी।' परम गम्भीर

स्वभाववाले श्रीरघुनाथजी दो बड़ोंके परस्पर वार्तालापके समय यों ही बेमतलब मुसकरायें—यह असम्भव था; अतः विश्वामित्रजी ताड़ गये कि सरकारका इशारा ऐश्वर्य न खोलकर माधुर्य ही कहनेका है। अतएव श्रीमुनिराजने झट ऐश्वर्यकथनको वहीं छोड़कर माधुर्यकथन आरम्भ कर दिया—

रघुकुल मनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥
राम लखनु दोउ बंधुवर रूप सील बल धाम।
मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥

'रघुकुलश्रेष्ठ चक्रवर्ती श्रीदशरथ महाराजके ये दोनों पुत्र हैं। मेरे हित (यज्ञरक्षा) के निमित्त महाराजने इनको भेजा है। इनके नाम राम और लक्ष्मण हैं। इन दोनों बहादुर भाइयोंने असुरसमाज-पर विजय करके मेरे यज्ञकी रक्षा की है—उसे सम्पूर्ण करा दिया है। इस बातका साक्षी सारा जगत् है।' श्रीविश्वामित्रजीके इस प्रकार माधुर्य-कथन करनेपर अर्थात् चक्रवर्तिकुमार बतलानेपर श्रीजनकजी अपने अन्तिम अनुमानसे नहीं हटे—

मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्य प्रभाऊ॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद दाता॥
इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥

श्रीविदेहजी मुनिराजके यह बतलानेपर कि 'मेरा यज्ञ इन्होंने पूर्ण करा दिया है,' हर्षके मारे फूले नहीं समाये। उन्होंने समझा कि 'इन्हीं कृपालुकी कृपासे अब मेरा यज्ञ—धनुषभङ्गकी प्रतिज्ञा भी

पूरी होगी। वे मुदित होकर कहने लगे—'मुनिराज ! आपके चरणोंको प्राप्त कर आज मैं अपने पुण्यकी महिमाको नहीं कह सकता। आज कितने सुकृतोंका फल प्राप्त हुआ है ! ये सुन्दर श्याम और गौरस्वरूप दोनों भाई आनन्दको भी आनन्द देनेवाले हैं। इनकी परस्परकी 'पावनि' प्रीति ऐसी सुहावनी है—ऐसी मनको भा रही है कि वह वचनसे कथनके अंदर नहीं आ सकती। नाथ ! आप मेरे इस निश्चयको सुनिये—मैं इन श्यामस्वरूप बड़े सरकारको तो साक्षात् ब्रह्म मानता हूँ और गौरस्वरूप छोटे सरकारको जीव (नित्य शेष) मानता हूँ। क्योंकि इनमें उसी प्रकार सहज स्नेह है, जिस प्रकार ब्रह्म (शेषशायी) और शेषमें स्वाभाविक नित्य स्नेह रहता है। इस तरहका सहज स्नेह शेषजीके सिवा और किसी जीवमें हो ही नहीं सकता। ऐसा कहते-कहते श्रीजनकजीका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे बार-बार श्रीरामजीको देखने लगे, दर्शन करते समय उन्हें पुलक–रोमाञ्च होने लगा और उनके हृदयमें अत्यधिक उत्साह बढ़ने लगा—

इसी सम्बन्धमें श्रीरामगीतावलीके ६१ वें पदमें श्रीगोस्वामिपादका कथन है—

देखे राम लखन निमेषैं बिथकित भईं
प्रानहु ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं।
ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोयननि,
अनुभए उभय सरस राम जाने हैं।
'तुलसी' बिदेह की सनेह की दसा सुमिरि,
मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं।

अर्थात् प्रथम बिना पहचाने ही, श्रीरामजीको देखते ही श्रीविदेहजीकी पलकें रुक गयीं—टकटकी लग गयी। वे उनको प्राणोंसे भी अधिक प्यारे लगे। उनके हृदयमें निर्गुण ब्रह्मानन्द था और नेत्रोंमें साक्षात् सगुण ब्रह्म श्रीरामजीका दर्शन। विदेहजीने इन दोनों आनन्दोंका अनुभव करके भीतर-ही-भीतर मुकाबला किया कि किसमें अधिकता है। अन्तमें अनुभवद्वारा यह निश्चय हुआ कि सगुणस्वरूप श्रीरामजी ही सरस हैं। इसपर श्रीगोस्वामीजी अपना निश्चय सुनाते हैं कि "मैंने विदेहजीकी दशाका स्मरण करके यही अपने मनमें निश्चय किया है कि श्रीजनक राजा 'परम सयाने' अर्थात् विज्ञानभूषण—चतुरशिरोमणि थे।" क्योंकि—

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

तथा—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

श्रीरामचरितमानसके निर्णयसे यह लक्षित होता है कि 'आनन्द' तीन श्रेणियोंमें विभाजित है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द और (३) परमानन्द।

(१) विषयानन्द सांसारिक सुखको कहते हैं जो विषयेन्द्रियोंके संयोगसे अनुभूत होता है। यह इन्द्रियजन्य सुख वास्तविक सुख न होकर झूठा, अनित्य, नाशवान् तथा मोहमूलक है।

(२) ब्रह्मानन्द वह सुख है, जो ज्ञानियोंको निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करते समय उनके मनके सर्व संकल्प-विकल्पों-

की शान्तिकी अवस्थामें एकाग्रतासे प्राप्त होता है। उसीको ब्रह्मसुख भी कहते हैं।

(३) परमानन्द अनुपम सुख है। यह सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर उनकी प्रत्यक्षावस्थामें उन्हीं सगुणोपासक प्रेमी भक्तजनोंको प्राप्त होता है, जिनके ऊपर कृपा करके भगवान् प्रकट होकर दर्शन देते हैं। इसीको भजनानन्द और प्रेमानन्द भी कहा गया है।

इनमें (१) विषयानन्द तो सर्वथा हेय, अतएव त्याज्य ही है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

अब (२) ब्रह्मानन्द और (३) परमानन्दमें कौन सरस है, इसका निर्णय श्रीजनकजीकी भक्तिसे स्पष्ट हो जाता है। (२) ब्रह्मानन्द उनके हृदयमें मौजूद था; परन्तु जब वही ब्रह्म प्रकट होकर चक्षुरादि इन्द्रियोंके गोचर बने, तब (३) परमानन्दको पाकर उनके मनमें बरबस—जबरदस्ती—ब्रह्मानन्दका परित्याग कर दिया और परमानन्दमें अनुरक्त हो गया।

श्रीदशरथजीके प्रसङ्गमें भी ये शब्द इसी क्रमसे आये हैं; जब उनके कानोंमें केवल इतना पड़ा कि 'आपको पुत्र हुआ है, तो उनके उस भारी सुखको, जो चौथेपनमें पुत्रेष्टि-यज्ञादिके फलस्वरूप पुत्रप्राप्तिसे हुआ था, योगियोंके उसी ब्रह्मसुख—ब्रह्मानन्दकी समता दी गयी है—

दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥

परन्तु जब उनको इस बातका स्मरण हुआ कि हमारे घर जो पुत्र पैदा हुआ है, वह वही है——

जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरें गृह आवा प्रभु सोई॥

——तब प्रभुके साक्षात् प्रादुर्भावका बोध और अनुभव होनेके कारण उनके सुखका दर्जा बढ़कर परमानन्द हो गया——

परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥

इसी प्रकार उत्तरकाण्डके उस प्रसंगमें जब श्रीअयोध्यामें श्रीरामजीके दर्शनार्थ सनकादिकोंका आगमन हुआ, तो वे ब्रह्मानन्दमें सदैव लवलीन रहते हुए भी——

ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना॥

श्रीसगुणविग्रहके साक्षात् सुख—परमानन्दका अनुभव करनेलगे और अन्तमें विदा होते समय नाना प्रकारकी स्तुतिके पश्चात् उन्होंने परमानन्दकी ही याचना करके अपनेको कृतकृत्य माना। यथा—

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायिनी देहु हमहि श्रीराम॥

इसके अतिरिक्त उसी उत्तरकाण्डमें जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीअयोध्यापुरवासियोंको अन्तिम उपदेश दिया है तो उसकी भी पूर्ति उसी परानन्द (परमानन्द) से की गयी है——

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

अतएव परमानन्द (भजनानन्द या प्रेमानन्द) सब आनन्दोंसे परे है और इसको प्राप्त करनेवाले श्रीजनकजी 'परम सयाने' भक्त हैं।

श्रीरामजीके 'विलोकन'—प्राप्तिके समय प्रकट होनेवाली श्रीजनकजीकी 'गूढ़ भक्ति' का परिचय और प्रमाण तबतक मिलता है, जबतक उनके यहाँ श्रीरघुनाथजीका लीला-चरित अर्थात् धनुषभंग और विवाहादि होता रहा। उन सभी प्रसंगोंमें उसका बराबर वर्णन आया है और विदाईके समय तो मानो उसका प्रवाह ही छूट पड़ा है—

जोरि पंकरुह पानि सुहाए। बोले बचन प्रेम जनु जाए॥
राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुन रासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एकरस रहई॥
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥
सबहिं भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥
बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥

दोनों कर-कमलोंको जोड़कर श्रीजनकजी इस प्रकार प्रेमपूर्वक विनती करने लगे—श्रीरामजी! आपकी स्तुति किस प्रकार की जाय। आप तो समस्त मुनिवरों और भगवान् शिवजीके मनरूपी मानसरोवरमें हंसके समान विहार करनेवाले हैं। आपके ही लिये योगी-लोग काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकारोंको त्यागकर योगरत रहते हैं। आप ही अलख, अविनाशी, निर्गुण (मायिक गुणोंसे रहित)

तथा (दिव्य) गुणोंकी राशि हैं। आप ही चिदानन्द व्यापक ब्रह्म हैं, जो त्रिकालमें एकरस रहनेवाले हैं, जिनकी महिमा वेद 'नेति'-'नेति' कहकर वर्णन करता है, जिसे सम्पूर्ण अनुमानी—तार्किक अपने तर्कोंद्वारा नहीं जान सकते, जिसे मन और वाणी भी नहीं जान सकते—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

(श्रुति)

—वही समस्त सुखोंके मूल (आप) मेरे लिये 'नयन-विषय'* बन गये ! क्यों न हो, यदि ईश्वर अनुकूल हो जायँ तो जीवको क्या-क्या सुलभ नहीं हो सकता ? प्रभो ! आपने मुझको सब तरह बड़ा बना दिया—अपना दास समझकर अपना लिया। † यदि दस सहस्र शारदा और शेष मिलकर करोड़ों कल्पोंतक मेरे भाग्य तथा आपकी गुण-गाथाका हिसाब जोड़ें, तब भी उनका शुमार—लेखा नहीं कर सकेंगे। मैं जो ढिठाई करके आपके श्री-चरणोंमें कुछ निवेदन करने लगा, वह केवल इसी बलपर कि कृपालु

---

* 'नयन-विषय' से तात्पर्य यह है कि 'इन चर्मचक्षुओंसे देखनेमें आये।' 'विषय' शब्दसे यह लक्षित किया गया है कि इन्द्रिय-विषयोंके फेरमें पड़कर जीवका पतन हो जाता है। नेत्रका विषय रूप है। मेरा मन आपके रूपपर मोहित होकर ब्रह्मसुखसे हटा है, परन्तु पतन होनेके बदले उसको सुखके मूल परमानन्दका अनुभव हो रहा है। स्वामीके अनुकूल होनेपर उसके जनके लिये सभी असम्भव सम्भव और सभी दुर्लभ सुलभ हो जाते हैं।

† 'निज जन जानि' पदसे भी यह सूचित होता है कि श्रीजनकजीके योग और भोगमें श्रीरामपदका गूढ़ स्नेह अवश्य गुप्त था।

प्रभु अत्यल्प प्रेमसे भी प्रसन्न हो जाते हैं; अतः नाथ ! मैं बारंबार करबद्ध होकर आपसे यही याचना करता हूँ कि मेरा मन आपके श्रीचरण-कमलोंको स्वप्नमें भी न भूले।

सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम रामु परितोषे ॥
करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥

श्रीजनकजीके श्रेष्ठ वचन—सुन्दर स्तुति मानो प्रेममें पगी हुई—भिगोयी हुई थी। उसको सुनकर पूर्णकाम श्रीरामजीको भी परम सन्तोष हुआ और उन्होंने (अपनी माधुर्य-मर्यादाके अनुसार) ससुरके नाते बहुत विनय करके उनको सम्मान दिया। फिर (अपने ऐश्वर्य-भावानुसार, जैसा कि श्रीजनकजीने भगवान् जानकर भक्तिके लिये उनसे प्रार्थना की थी) उनको (१) पिता दशरथ, (२) विश्वामित्र और (३) वशिष्ठकी बराबरीमें स्वीकार किया।

(१) श्रीदशरथजीकी समता प्रेम-भक्तिमें प्रदान की गयी, क्योंकि प्रेमी भक्तोंमें उनका दर्जा सर्वोच्च है। 'सत्य प्रेम' शब्द ग्रन्थ-भरमें केवल उन्हींके लिये, एक ही जगह और एक ही बार आया है, यथा—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥

अतः पिता-तुल्य भक्तियोग दिया गया।

(२) श्रीविश्वामित्रजीकी समता कर्मयोगमें दी गयी। क्योंकि उन महामुनिको प्रधानतः यज्ञ-यागादिके ही निमित्तसे प्रभुकी प्राप्ति हुई थी और यज्ञकी रक्षा ही प्रधान संयोग थी—

'मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम।'

अतः श्रीविश्वामित्रजीके समान उच्च कर्मयोग दिया गया।

(३) श्रीवसिष्ठजीकी समता ज्ञानयोगमें दी गयी; क्योंकि वे ज्ञानियोंमें प्रसिद्ध ज्ञानी थे। उनके नामके सम्बन्धसे 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थ अबतक प्रचलित है। श्रीमानसमें प्रमाण देखिये—

तब बसिष्ठ मुनि समय सम कहि अनेक इतिहास।
सोक नेवारेउ सबहि कर निज बिग्यान प्रकास॥

अतः श्रीवसिष्ठजीके समान ज्ञानयोग दिया गया।

तात्पर्य यह कि श्रीजनकजीकी उपर्युक्त भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामजीने उनको उच्च कोटिका भक्तियोगी, कर्मयोगी और ज्ञानयोगी निश्चितरूपसे बना दिया। संसारमें यही तीन योग मनुष्योंके लिये कल्याणकर बतलाये गये हैं। जैसे—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नान्योपायोऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भागवतमें उद्धवके प्रति श्रीकृष्णका वचन)

अतः तीनों परमार्थमार्गियोंमें श्रीजनकजीको श्रेष्ठ पद मिला। क्यों न मिले, श्रीभगवान्‌के भजनका यही प्रताप है। श्रीकाकभुशुण्डिजीको भी विशुद्ध भक्तिके साथ-साथ इस प्रकारका उदार दान मिला था।

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥

भगवान्‌की श्रीभक्ति महारानीका महत्त्व ही ऐसा है कि वे जिस हृदयमें आ विराजती हैं, वह भजनानन्दी जन निस्सन्देह सम्पूर्ण गुणोंका ज्ञाता, कर्ता और भर्ता हो जाता है। यथा—

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुलत्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

अतएव भक्तराज श्रीजनकजीमें केवल भक्तिके प्रभावसे ही कर्म ज्ञान आदि सभी भरपूर हो गये थे। श्रीमानसके अन्तर्गत भक्तराज विदेहजीका दूसरा श्रीराम-मिलन अवधकाण्डके श्रीचित्रकूट-प्रसङ्गमें वर्णित है। वहाँ उनकी भक्ति इस प्रकार बतलायी गयी है——

गिरिबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनामु रथ त्यागेउ तबहीं॥

अर्थात् जितनी दूरसे श्रीकामदगिरि—चित्रकूट पर्वतका दर्शन हुआ, उतनी दूरसे ही श्रीजनकजीने रथ त्याग दिया और प्रणाम करके पैदल हो गये। जिस तरह श्रीभरतजीने माता कौसल्याके विशेष आग्रह और आवश्यक आज्ञावश—

तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिं मग जोगू॥

—विवश होकर उस जगहतकके लिये रथपर चलना शिरोधार्य कर लिया था, जहाँतक (शृङ्गवेरपुरतक) सरकार श्री-रघुनाथजी रथपर गये थे, और वहाँसे आगे सबको पहले पयान करा-कर ताकि कोई देखादेखी न करे, और जैसा कि श्रीअम्बाजीको भी पहले निश्चय था, पीछेसे स्वयं सवारी त्यागकर पैदल ही गये।

उसी तरह श्रीजनकजीने भी जब दूतसे यह समाचार सुना कि 'अवधसमाज चित्रकूट जा पहुँचा है' तो शीघ्रताके कारण विवश होकर उतनी दूरतक (शृङ्गवेरपुरतक) रथपर चलनेको मजबूर हुए—

दुवरी साधि चले ततकाला। किए बिश्रामु न मग महिपाला॥

नहीं तो वे भी सारा मार्ग पैदल ही तै करते। तथापि पर्वतोंका शिखर कितनी दूरसे दिखायी देता है, इसपर पाठक विचार कर लें; उतने फासिलेसे पहुँचनेकी उतनी जल्दी होते हुए भी उनसे पैदल गये बिना न रहा गया। दशा कैसी थी उसे देखिये—

मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥

× × × ×

सिथिल सनेहँ गुनत मन माहीं। आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं॥
रामहि रायँ कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना॥
हम अब बन तें बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई॥

मार्ग चलते समय मन तो श्रीरघुनाथजीके पास था, अतएव मनके बिना तनके दुःखका भान किसे हो ? वहाँ पहुँचकर जब दर्शन पाया और चित्त कुछ ठिकाने हुआ, तब स्नेहसे शिथिल हो गये और यह विचार पैदा हुआ कि "अब प्रभुको छोड़कर किस आधारपर लौट सकूँगा ? हाय, हम यहाँ नाहक ही आये; श्रीदशरथजी महाराजने वन जानेको कहा तो उन्होंने अपने प्रेमका प्रमाण भी दिखा दिया अर्थात् प्राण दे दिया। अब हम यदि इनको लौटाकर अवध न ले जा सके तो लोग यही कहेंगे कि 'बड़े ज्ञानी—समझदार बनकर श्रीरामजीको लौटाने गये थे, परन्तु लौटाना कौन कहे,

उससे भी आगेके वनमें भेजकर प्रसन्नतापूर्वक लौट आये ।' [अतः ऐसे विवेकपर मुझको धिक्कार है कि अबतक प्राण न गया ।]

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप मनु मनहुँ पयागू ॥
सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा ॥
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ॥
मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥

× × × ×

जासु ग्यानु रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई ॥

श्रीजनकजीके हृदयमें श्रीसीतारामजीके प्रति प्रेम और अनुरागका सागर उमड़ पड़ा, जिसमें उनका ज्ञान चिरजीवी मुनि मार्कण्डेय ऋषिकी भाँति डूबने लगा। परन्तु जैसे मार्कण्डेय मुनिको प्रयागराजके अक्षयवटकी चोटीवाले पत्तोंपर शयन करते हुए बालरूप भगवान्‌के अवलम्बनने बचाया, वैसे ही श्रीजनकजीका मन मानो प्रयाग बन गया, श्रीसीताजीका स्नेह मानो अक्षयवट होकर (अनुराग-समुद्रके उमड़ते समय) ऊपरको बढ़ता हुआ दिखायी पड़ा तथा श्रीरामजीका प्रेम मानो उस वटके पत्तेपर बालरूप भगवान् बनकर सुशोभित हो गया। फिर क्या था, श्रीजनकजीका ज्ञान भी उसका अवलम्बन पाकर डूबनेसे बच गया।

मार्कण्डेय ऋषिके सम्बन्धमें कथा है कि उन्होंने एक बार भगवान्‌से उनकी माया दिखानेके लिये प्रार्थना की थी। अतः एक दिन उनको दिखायी पड़ा कि उमड़ते हुए समुद्रने आकर उनकी कुटिया बहा दी और वे पानीकी लहरोंमें डूबते-उतराते प्रयाग जा पहुँचे। वहाँ अक्षयवटका वृक्ष अथाह जलराशिमें होकर भी जलके ऊपर बढ़ रहा

था और उसके पत्तेपर श्रीभगवान् बालकके रूपमें लेटे हुए थे। बस, दर्शन मिलते ही उन्होंने बालरूप भगवान्‌का अवलम्बन लेकर अपना प्राण बचाया। यहाँपर उन्हीं मार्कण्डेय ऋषिकी उपमा दी गयी है। यदि किसी ज्ञानी जीवके केवल अपनी साधारण पुत्री, जामाता आदि किसी भी सांसारिक सम्बन्धीसे ही प्रेम हो तो वह ज्ञानी न माना जाकर रागी माना जायगा। उसके सम्बन्धमें यही कहा जायगा कि उस ज्ञानीका ज्ञान मोहमें डूब गया। परन्तु श्रीजनकजीका प्रेम पुत्री और जामाताके ही भावका न होकर साक्षात् श्रीआदिशक्ति तथा पूर्णब्रह्म अर्थात् श्रीलक्ष्मीनारायणस्वरूप श्रीसीतारामजीकी निष्ठाका था, अतएव उस राम-भक्तिसे उनके ज्ञानको अपना अवलम्बन देकर बचा लिया। इसीलिये कहा गया है कि विदेहजीकी बुद्धि सांसारिक मोह-रागादिमें नहीं डूबी थी। इस प्रकारका वर्णन देकर श्रीसीताराम (भगवान्) की प्रेम-भक्तिकी महिमा प्रकट की गयी है—

मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥

क्योंकि जिनके ज्ञानरूपी सूर्यसे संसाररूपी रजनीका निःशेष—अन्त हो चुका था, जिनके वचनरूपी किरणोंसे मुनियोंका हृदय-कमल सदा विकसित होता था, उन श्रीजनकजीके समीप कभी मोह या ममता आ सकती थी ? कदापि नहीं। वह केवल श्रीसीतारामरूप सगुण ब्रह्मके स्नेह ('जाहि राम पद गूढ़ सनेहू') की बड़ाई—श्रेष्ठ महिमा थी।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

श्रीभरत-यश-चन्द्र

रामचरितमानसमें श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीभरतके यशका वर्णन करते समय उसकी समता चन्द्रमासे दिखलाते हुए बड़ा ही सुन्दर 'अधिक तद्रूप रूपक'का उदाहरण उपस्थित किया है, उसीका रसास्वादन करानेके लिये 'श्रीभरत-कीर्ति-कलाधर'का अवतरण होता है—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥

महर्षि भरद्वाज श्रीभरतजीसे कहते हैं कि 'तात! आपका यश नवीन निर्मल (द्वितीयाका) चन्द्ररूप है तथा श्रीरघुनाथजीके भक्त उसके लिये कुमुद और चकोररूप हैं।'

यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवद्भक्तोंकी प्रीति सूचित करनेके लिये कुमुद और चकोरकी दो उपमाएँ क्यों दी गयीं? बात यह है कि श्रीराम-भक्तोंकी दो श्रेणियाँ हैं—निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी।

श्रीनारद-सनकादि निवृत्ति-मार्गके उदाहरण हैं और श्रीप्रह्लाद और अम्बरीष प्रभृति प्रवृत्तिमार्गके। अतः कुमुदकी उपमासे निवृत्ति-कोटिके भक्तोंकी ओर संकेत किया गया है और चकोरसे प्रवृत्ति-मार्गके भक्तोंकी ओर लक्ष्य है। क्योंकि कुमुदका जीवन जलपर निर्भर होते हुए भी वह जलसे निर्लेप (अनासक्त) रहता है तथा एकमात्र चन्द्रकी ओर आसक्त होनेके कारण उसके दर्शनमात्रसे प्रफुल्लित (कृतकृत्य) हो जाता है; उसी प्रकार विरक्त भक्तोंकी शरीर-रक्षा (लालन-पालन) यद्यपि संसारसे ही होती है, तथापि उससे निर्लिप्त रहकर वे भगवान्के अनन्य प्रेममें ही आसक्त होते हैं। 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' वह संसारमें रहते हुए भी संसारके बन्धनसे अपनेको मुक्त रखते हैं तथा जैसे चकोर दाम्पत्य-जीवनमें रहते हुए, सन्तानादिके साथ पारिवारिक सम्बन्धका पालन करते हुए भी चन्द्रमें ही निश्चल प्रेम रखता है, एवं चन्द्रोदय होनेपर सब कुछ छोड़ चन्द्रमें ही एकचित्त हो आसक्त हो जाता है, वैसे ही प्रवृत्ति-कोटिके भक्त गृहमेधी धर्मोंसे सम्बन्ध रखते हुए भी भगवत्प्रेममें निश्चल और दृढ़ व्रतका निर्वाह करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे ही भक्तोंके विषयमें कहा गया है—

'दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत।'
'पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।'

भगवान्के इन द्विविध उपासकोंकी कुमुद और चकोरके साथ उपमा अन्य स्थलोंमें भी परिलक्षित होती है—

राम चरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥

सारांश यह है कि श्रीभरतजीके चरितसे निवृत्ति तथा प्रवृत्ति

दोनों ही मार्गोंके रामभक्त मुग्ध रहते हैं । जिस प्रकार चन्द्रमाके उदय होनेपर कुमुद प्रफुल्लित हो जड़ होते हुए भी चेतनवत् व्यवहार करते हैं, तथा चकोर चेतन होते हुए भी जगत्के लिये जडस्वरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार विरक्त पुरुष भी श्रीभरतके यशोगानमें अनुरक्त हो जाते हैं एवं संसारमें अनुरक्त पुरुष भी श्रीभरतके यशको सुनकर उसमें अनुरक्त एवं संसारसे विरक्त हो जाते हैं । इस प्रकार जीवमात्रके ऊपर भरत-चरितका अद्भुत प्रभाव पड़ता है । गोस्वामीजी कहते हैं—

होत न भूतल भाउ भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ॥

सचमुच भरतका चरित बड़ा ही विलक्षण और भक्तोंके लिये उच्चतम आदर्शको उपस्थित करता है, तभी तो गोस्वामीजीने उसका रूपक चन्द्रसे बाँधते हुए 'अधिक तद्रूप रूपक'के रूपमें उसे उपस्थित किया है; चन्द्रके दोषयुक्त होनेसे उपमानमें जो अपूर्णता आ जाती है, उसका मार्जन कर उपमेय श्रीभरत-यशका चित्रण आप द्वितीय पंक्तिसे प्रारम्भ करते हैं——'यह चन्द्रमा तो सदा उदित न होकर कालक्रमसे ही उदय होता है, परन्तु श्रीभरतजीका यशरूपी चन्द्र कालकी अपेक्षा न रख सदा प्रकाशित रहता है ।' यहाँ 'सदा' शब्दसे केवल रात्रि ही नहीं, अपितु दिनका भी बोध हो जाता है, क्योंकि 'प्रभु प्रताप रवि छबिहि न हरिही'के अनुसार दिनमें भी श्रीभरत-यश-चन्द्र उसी प्रकार प्रकाशित रहता है । उसकी कलाका अपहरण श्रीसूर्यनारायण नहीं कर पाते । चन्द्रमा तो अस्त भी होता है, परन्तु श्रीभरत-यश-चन्द्र कभी अस्त नहीं होता । प्राकृत चन्द्र घटता-बढ़ता है; परन्तु यश-चन्द्र घटता नहीं, सदा बढ़ता ही है । एवं—

कोक तिलोक प्रीति अति करिही । प्रभु प्रताप रवि छविहि न हरिही ॥
निसिदिन सुखद सदा सब काहू । ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू ॥

अर्थात् प्राकृत चन्द्रसे तो चक्रवाक दुखी होते हैं; परन्तु तीनों लोकरूपी चक्रवाक यश-चन्द्रसे अत्यन्त प्रीति करते हैं; यश-चन्द्रके लिये त्रिलोकके चक्रवाकरूप होनेका अभिप्राय—

परिहरि रामु सीय जग माहीं । कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥

—इस भरत-वाक्यसे स्पष्ट झलकता है; एवं त्रिलोकरूप कमलके प्रसन्न होनेका प्रमाण भी—

दुहुँ दिसि देखि कहत सब लोगू । सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥

—इस चौपाईमें मिलता है ।

सूर्यके प्रकाशित होनेपर प्राकृत चन्द्रकी छटा क्षीण हो जाती है, परन्तु श्रीरामचन्द्रके प्रतापरूपी सूर्यके सामने भी यश-चन्द्र अपनी छवि-छिटकाता ही रहता है । इसी प्रकार प्राकृत चन्द्र चकवा-चकवीके लिये शोकप्रद होता है 'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही'; परन्तु यश-चन्द्रका स्वरूप सभीको मनभावन हो रहा है । मध्य दिवसमें चन्द्रकी शोभा जाती रहती है, परन्तु—

जब तें राम प्रताप खगेसा । उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥

—तबसे उसके साथ-ही-साथ—

धन्य भरत जय राम गोसाईं । कहत देव हरषित बरिआईं ॥
निज गुन सहित राम गुन गाथा । सुनत जाहिं सुमिरत रघुनाथा ॥

—इसके अनुसार श्रीभरत-यश भी विख्यात हो रहा है । फिर यह चन्द्रमा केवल रातमें सुख प्रदान करता है और वह भी सबको

नहीं; विरहीजन, चक्रवाक, कमल प्रभृतिको तो यह सदा ही दुःख पहुँचाता है। परन्तु भरत-यश-चन्द्र सदा, सभी ऋतुओं और अवस्थाओंमें सबको सुखप्रद होता है। यथा——

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥

प्राकृत चन्द्रको राहु ग्रसता है, परन्तु भरतके यश-चन्द्रपर कैकेयीका कुकर्तव्यरूपी राहु अपना प्रतिबिम्ब नहीं डाल सका और भरतकी यश-चन्द्र-कला सदा पूर्ण ही बनी रही——यह भाव 'भरतहि जानि राम परिछाहीं,' 'राम प्रेम मूरति तनु आही' तथा 'साधन सिद्धि राम पग नेहू' आदि पदोंसे स्पष्ट झलकता है। श्रीभरत-यश-चन्द्रके अन्यान्य गुणोंका निर्देश करते हुए आगे कह रहे हैं——

पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥

अर्थात् प्राकृत चन्द्रमें यथेष्ट सुधा नहीं, परन्तु यश-चन्द्र श्रीरामजीके सुन्दर प्रेमरूपी अमृतसे लबालब भरा हुआ है। फिर यह चन्द्रमा गुरुके अपमानरूप दोषसे दोषी है, परन्तु यश-चन्द्रने गुरु वसिष्ठको ही वश कर रक्खा है——

भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥
कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाषा। भरत सनेहँ बिचारु न राखा॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥

——इन वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है।

पुनः प्राकृत चन्द्र अपनी चन्द्रिकाद्वारा किञ्चित् अमृत-सिञ्चन करता है, परन्तु यश-चन्द्र परितृप्त करनेवाली रामभक्तिरूपी सुधाको

पर्याप्त प्रदान करता है; इस चन्द्रद्वारा प्रदत्त सुधा अन्तरिक्षमें ही विलीन हो जाती है, परन्तु यश-चन्द्र रामभक्तिकी सुधासे सारी वसुधाको कृतकृत्य कर देता है। तात्पर्य यह है कि भरतके चरितने राम-भक्तिको जगत्में ऐसा सुलभ बना दिया है कि उससे सभी सद्गति प्राप्त कर सकते हैं।

अब आगेकी चौपाइयोंमें श्रीभरतजीकी महत्ताका वर्णन करते हुए श्रीभरद्वाजजी कहते हैं—

भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल सुमंगल खानी॥
दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥

भरत! तुम साधारण कुलमें प्रसूत भी नहीं हो; तुम तो उस विशिष्ट कुलके हो, जिसमें पूर्वसमयमें राजा भगीरथ-जैसे प्रातःस्मरणीय पुरुषपुङ्गव हो गये हैं, जो जगत्के जीवोंके उपकार (कल्याण) के लिये तपस्या करके श्रीगङ्गाजीको पृथ्वीपर लाये थे, जिनका [दर्शन कौन कहे] स्मरणमात्र सारे शुभ मंगलोंकी खानि है। तथा उसी कुलमें श्रीदशरथजी महाराज हुए, जिनके गुणोंका वर्णन ही नहीं किया जा सकता; और तो क्या, जिनके समान संसारमें और कोई नहीं है। क्योंकि—

जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ॥

अर्थात् श्रीदशरथजीके प्रेममें बँधकर वे श्रीरामचन्द्रजी स्वयं आकर प्रकट हो गये हैं, जिनका भगवान् शङ्कर भी अपने हृदयमें दर्शन कर नहीं अघाते। तब भला, उन राजा दशरथकी समानता कौन कर सकता है?

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम पेम मृगरूपा॥

फिर उन दशरथजीके आप ऐसे पुत्र हुए कि आपने एक अनुपम यश-चन्द्रको प्रकट किया, जिस चन्द्रमें श्रीरामका प्रेमस्वरूप मृग बसता है। (प्राकृत चन्द्रमें मृगके बसनेकी कथा मिलती है और इसी कारण चन्द्रमाको शशाङ्क, मृगाङ्क प्रभृति नामोंसे पुकारते हैं।)

श्रीभरत-यश-चन्द्रमें श्रीरघुनाथजीका स्नेहरूपी मृग रहता है, अर्थात् भरतजीकी भक्तिके वश होकर श्रीराम-प्रेम भरतजीसे अभिन्न ही रहता है, जैसे—

यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं। सुमिरत जिन्हहि रामु मन माहीं॥
भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

सारा संसार श्रीरामकी भक्ति करता है, परन्तु श्रीराम स्वयं श्रीभरतको भजते हैं; क्यों न भजें? उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया है—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

तथा—

'आएँ सरन तजौं न, भजौं तेहि, यह जानत, रिषिराउ'

(गीतावली)

'भक्तपर भजतहि भजै'

(विनय-पत्रिका)

अतः यहाँ श्रीराम-प्रेमका अभिप्राय स्वयं श्रीरामजीके ही प्रेमी बन जानेके अर्थका द्योतन करता है; क्योंकि रामजीमें जो भरतका प्रेम है, उसका उल्लेख तो 'पूरन राम सुपेम पियूषा' इस पद्में पहले ही हो चुका है। अर्थात् भरतकी श्रीराममें जो भक्ति है,

वह चन्द्रमें पीयूष (अमृत) रूप है, और रामजीका स्नेह जो भरतमें है, वह चन्द्रमें मृगरूप है ।'

भरद्वाज मुनि उत्तरोत्तर श्रेष्ठता दिखलाते हुए श्रीभरतजीके ऐश्वर्यका वर्णन करते हैं—'राजा भगीरथने भगवान्के चरणोदक गङ्गाजीको लाकर जगत्का कल्याण किया, श्रीदशरथजीने अपने प्रेमसे स्वयं भगवान्को जगत्में प्रकट किया और भरतजी ! आपने तो अपना यश-चन्द्र ऐसा प्रकट किया कि श्रीरामजी प्रेमी बनकर [स्वयं आपका स्मरण कर आपका गुणानुवाद करने लगे, एवं] अपने स्नेहरूपी मृगको उसमें बसा दिया । भरतजी ! आप तो इस प्रकारके पुण्यश्लोक हैं, तथापि—

तात गलानि करहु जियँ जाएँ । डरहु दरिद्रहि पारसु पाएँ ॥

'तात ! आप व्यर्थ ग्लानि करते हैं, एवं पारस पाकर भी दरिद्रतासे डरते हैं ।' तात्पर्य यह है कि एक धनवान् पुरुष भी दरिद्रतासे नहीं डरता, फिर पारस पाकर तो दरिद्रतासे क्या डरना ? यहाँ दरिद्रतासे अभिप्राय सांसारिक द्वन्द्व, संसृति, क्लेश आदि हैं, जिनसे हानि, ग्लानि, अपमान, अकीर्ति आदि लौकिक दुःख तथा दुर्गतितकका भय हुआ करता है और ये विधिकी प्रतिकूलतासे प्राप्त होते हैं; परन्तु इससे श्रीरामभक्तिरूप धनके धनिक तनिक भी भय नहीं करते । तात्पर्य यह है कि भगवत्-अनुरागरूपी धन रहनेसे उपर्युक्त अनिष्टरूपी दरिद्रतासे जीव निर्भय हो जाता है; फिर जहाँ स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने ही अनुरागी बन पारस-सुयोग प्रदान कर दिया है,

वहाँ भय करना कहाँतक योग्य है ? श्रीराममें प्रेम होना धनका प्राप्त होना है, एवं स्वयं श्रीरामका प्रेम-पात्र बन जाना पारसकी प्राप्ति है।

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥

'भरतजी ! सुनिये, हम झूठ नहीं बोलते। क्योंकि एक तो हम 'उदासीन' रहते हैं, अर्थात् शत्रु-मित्र नहीं रखते (बहुधा राग-द्वेषके ही कारण मित्रोंके हितार्थ तथा शत्रुओंके पराजयार्थ झूठकी आवश्यकता पड़ती है); इसलिये हमें राग-द्वेषहीन होनेके कारण झूठ बोलनेका योग नहीं पड़ता। दूसरे हम 'तापस' हैं, अर्थात् जो आ पड़ता है उसे सह लेते हैं—सहनशक्ति रखते हैं; अतः झूठ नहीं बोलते। तीसरे हम वनमें रहते हैं, अर्थात् किसीके वशमें नहीं हैं, जिससे भयभीत हो हमें झूठ बोलना पड़े। अतः हम सच कहते हैं कि—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

'अर्थात् आजतक जो कुछ साधन हमसे हो सका था, उसका अत्यन्त ही सुन्दर फल तो यह हुआ कि लक्ष्मण और सीताके साथ श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन प्राप्त हुआ; और उस दर्शनरूप सुकृतका फल यह हुआ कि आपका दर्शन मिला, जिससे हम आज सारे प्रयागके साथ बड़े भाग्यशाली हो रहे हैं।' यहाँ 'सुफल सुहावा' से फलकी सीमाका बोध होता है, जैसा कि श्रीरामचन्द्रजीके मिलनेके अवसरपर भरद्वाजजी स्पष्ट कह चुके हैं—

लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥

वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। क्योंकि लाभ तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-भेदसे चार ही प्रकारका है और मोक्षमें जाकर सुख और लाभकी सीमा हो जाती है; एवं श्रीरामचन्द्रजी मोक्षस्वरूप हैं ही—'राम ब्रह्म परमारथ रूपा' अतः श्रीरामदर्शनसे भरद्वाजजीको अन्तिम सुन्दर फलकी प्राप्ति हो ही गयी। अब उससे भी बढ़कर फलातीत, सुखातीत, लाभातीत पदार्थका साक्षात्कार हुआ। वह कौन-सा पदार्थ है, जो मुक्तिसे भी परे है? वह है भगवद्भक्ति अर्थात् श्रीराम-प्रेम और श्रीराम-प्रेमकी मूर्ति हैं भरतजी—

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥

× × × ×

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

अर्थात् सरकार श्रीरामचन्द्रजी मोक्षके स्वरूपमें मिले हैं; और आप उनके प्रेमकी मूर्ति साक्षात् भक्तिके स्वरूपमें मिले हैं; अतः निश्चय ही 'तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा' प्राप्त हुआ है और यह फल उस 'सुहावा सुफल' श्रीरामदर्शनसे भी बढ़कर है, अद्भुत है। क्योंकि इस फलकी उत्पत्ति 'फल' से हुई है, वृक्ष-लतादिसे नहीं; अतएव विलक्षण फलकी प्राप्ति हुई है। इस विषयमें कहा भी है—

संजम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

और वह भक्ति तन धारण कर प्राप्त हुई, अतः हम धन्य हैं।

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस पेम मगन मुनि भयऊ॥
सुनि मुनि बचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥
धन्य धन्य धुनि गगन पयागा। सुनि सुनि भरतु मगन अनुरागा॥

'भरतजी ! आप धन्य हैं, जगत्‌भरके यशपर आपने विजय प्राप्त कर ली, अर्थात् आपका यश संसारमें सबसे बढ़ गया ।' ऐसा कहकर भरद्वाजजी प्रेममें मग्न हो गये । मुनिकी बात सुनकर समस्त सभासद् हर्षित हो उठे और सुरगण श्रीभरतकी सराहना करते हुए सुमन-वृष्टि करने लगे । देवताओंकी 'धन्य-धन्य' ध्वनिसे, आकाश और सभासदोंके धन्यवादसे प्रयाग गूँज उठा एवं उसे सुनकर भरतजी रामप्रेममें मग्न होने लगे ।

भगवद्भक्तोंकी यह रहनी है कि उनको चाहे कितनी भी प्रशंसा या प्रतिष्ठा प्राप्त हो अहंकारका लेश भी उनमें नहीं उत्पन्न होता, बल्कि अधिकाधिक दैन्यभावका उदय होता जाता है । यहाँ भरतजी मनमें अपनेको 'मैं सठु सदा सदोस' समझ रहे हैं और फिर उनकी ऐसी प्रशंसा हो रही है । इसको करुणामय प्रभुकी दया जानकर मन-ही-मन श्रीरामानुरागमें मग्न हो रहे हैं, वे लोकैषणासे अत्यन्त निर्लिप्त होकर मन, वचन, कर्मसे केवल राममें अनुरक्त हो रहे हैं—

पुलक गात हियँ रामु सिय सजल सरोरुह नैन ।
करि प्रनामु मुनि मंडलिहि बोले गदगद बैन ॥

श्रीभरतजीका 'हिय' राम-सियमें लगा है, इससे 'मन', 'पुलक गात' एवं 'सजल सरोरुह नैन'से 'तन' और 'बोले गदगद बैन'से 'वचन'—ये तीनों श्रीरामप्रेममें शिथिल हो रहे हैं । श्रीभरत-यश-चन्द्रको धन्य है !



श्रीहनुमान्‌जीके चरित्रसे शिक्षा

श्रीरामचरितमानसमें श्रीहनुमत्-चरितका आरम्भ किष्किन्धा-काण्डके आदिमें 'मारुति-मिलन' प्रसङ्गसे हुआ है, वहाँ आप ऋष्यमूक पर्वतपर सुग्रीवके सचिवरूपमें दर्शन देते हैं। वस्तुतः श्रीरामावतारकी भाँति आपका भी वानर-वपु भगवान् शिवका अवतार था। गोस्वामीजीने दोहावलीके निम्नलिखित दोहोंमें इस बातको स्पष्ट कर दिया है—

जेहि सरीर रति राम सों सो आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेह बस बानर भे हनुमान॥
जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरखा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान॥

(दोहा० १४२-४३)

रामायणमें इस गूढ़ तत्त्वको मङ्गलाचरणके श्लोकोंमें बड़ी विचित्रताके साथ झलकाया है। बालकाण्डसे अरण्यकाण्डतक भगवान् शङ्करकी वन्दना पहले करके पीछे रघुनाथजीकी वन्दनाके श्लोक रखे गये हैं। परन्तु किष्किन्धाकाण्डमें जब स्वयं शङ्करजी हनुमान्‌रूपसे श्रीरामकी सेवामें अवतरित हो जाते हैं, तब वहाँसे उत्तरकाण्डपर्यन्त श्रीरामवन्दनाके श्लोकोंको प्रथम स्थान दिया गया है और दासभावानुसार शिव-वन्दना पश्चात् की गयी है। लङ्का और उत्तरकाण्डमें तो यह बात स्पष्ट दीख पड़ती है, किन्तु सुन्दरकाण्डमें

तो शङ्करके स्थानमें श्रीहनुमान्‌जीकी ही वन्दना की गयी है। इस वन्दना-क्रमके द्वारा श्रीहनुमान्‌जीका शङ्करावतार होना प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। इसके सिवा आपका बल, पराक्रम और आश्चर्यमयी घटनाओंसे पूर्ण चरित्र ही आपको एक प्राकृत कपिसे सर्वथा भिन्न बता रहा है, अतः रामायणमें आपका चरित्र भी सर्वाङ्गसे ध्येय, शिक्षा लेने योग्य तथा अनुकरणीय है। उपर्युक्त वर्णनके अनुसार श्रीहनुमान्‌जीका चरित्र—'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा'—सुग्रीव-सचिवत्वसे आरम्भ होता है।

सचिव कैसा होना चाहिये और उसे सचिव-धर्मका पालन किस प्रकार करना चाहिये, इसका उत्तम उदाहरण श्रीहनुमान्‌जीने दिखाया है। महाबली वालीके दुरत्यय आघातके कारण सुग्रीवको त्रैलोक्यमें कहीं ठिकाना नहीं रह गया था। ऐसे दीन, निराश्रय जनका साथ देकर महाबली वालीसे वैर मोल लेना मामूली बात नहीं थी। ऐसी दुरवस्थामें भी आप उनके मन्त्रित्व-पदपर दृढ़ रहकर सदा सहायता करनेमें लगे रहे। यह परम साहसिकता और सच्ची प्रीतिकी पहली शिक्षा है। इतना ही नहीं, अन्तमें श्रीरामचन्द्रजीसे सुग्रीवकी मित्रता करवा आपने उसको निर्भय कर दिया और इस प्रकार नीति-के एक उच्च सिद्धान्तको कार्यरूपमें परिणत करके दिखा दिया कि राजाके सात अङ्गोंमेंसे यदि एक सर्वप्रधान अङ्ग मन्त्री बचा रहे तो शेष सब नष्ट हो जानेपर भी राज्यको पुनः प्राप्त कर सकना असम्भव नहीं है। रामायणमें सुग्रीव और विभीषण दोनों ही दीन पात्रोंके केवल मन्त्री ही बच रहे थे—'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा',

'सचिव संग लै नभ पथ गयऊ,' इससे अन्तमें दोनोंके ही मनोरथ सफल हुए।

श्रीहनुमान्‌जी जब सुग्रीवके सङ्केतसे बटुरूप धारण कर श्रीरामचन्द्रजीसे मिलते हैं और उनसे बातचीत करते हैं, तब आपकी ज्ञान-गरिमा तथा अनन्य भक्तिका बड़ा सुन्दर शिक्षा लेने योग्य परिचय प्राप्त होता है। आप तपस्वीरूप भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणजीसे पूछते हैं—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥
मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता॥

इन तीनों अर्द्धालियोंमें 'बन' शब्द एकमें भी नहीं छूटने पाया है। बार-बार 'बन' शब्दका मुँहसे निकलना इस बातका प्रमाण है कि आपके हृदयमें उन कोमल चरणोंसे स्वाभाविक प्रेम है और उन कोमल चरणोंका या कोमल चरणवालेका 'बन' में फिरना आपके हृदयमें शूल-सा खटक रहा है। कहाँ वे 'मृदुल मनोहर सुन्दर गात' और कहाँ वनके 'दुसह आतप बात' को सहनेका कष्ट! कैसा असामञ्जस्य है! कुछ इसी प्रकार श्रीभरतलालजीके मनमें भी उन कोमल चरणोंका 'बिनु पनहीं' वनमें भटकना खटका था। उन्होंने भी कहा था—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥

यहाँ भी 'बन-बन' शब्द असह्य दुःखका सूचक है। चरण-सेवक श्रीहनुमान्‌जीने इस मिलनेके पश्चात् भगवान्‌को कभी 'बन-बन' नहीं फिरने दिया। उन्होंने सेवक-भावका उच्च आदर्श

दिखाया। 'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई'—दोनों भाइयोंको अपने कंधेपर उठाकर सुग्रीवके पास ले गये। यही तो उनके प्रगाढ़ गूढ़ प्रेमका ज्वलन्त प्रमाण है। प्रभुकी लङ्काकी यात्रा भी श्रीमारुतिके कंधोंपर विराजित होकर ही हुई थी।

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥

उधर इसी कार्यके द्वारा संकेतसे सुग्रीवको भी भगवान्‌के अपने मित्र होनेका प्रमाण दे दिया, क्योंकि शत्रु होते तो कंधेपर कैसे चढ़ाते? दोनों प्रभुओंको पीठपर चढ़ाकर श्रीराम-चरण-निष्ठाका निर्वाह तो किया ही गया, अब आपका भक्तिपूर्ण दूसरा चमत्कार देखिये! जब आप श्रीराम-लक्ष्मणकी 'जुगल जोड़ी'से पहले-पहल मिलते हैं, तो उनका परिचय प्राप्त करनेके लिये कैसे समानार्थक विकल्पोंका प्रयोग करते हैं—'आप दोनों क्षत्रिय ही नहीं हैं, किन्तु क्षत्रियरूपमें आप या तो त्रिदेवोंमेंसे कोई हैं, या नर-नारायण हैं, या अखिल-भुवन-पति (साक्षात् परब्रह्म) हैं।' यदि विचार किया जाय तो हनुमान्‌जीके तीनों अनुमान अवतार-अवतारी-भेदसे ईश्वरके ही सम्बन्धमें थे। तात्पर्य, श्रीरघुनाथजी जिस परब्रह्मके अवतार हैं, उसी पर-स्वरूपके अवतार नर-नारायण भी हैं। उन्हीं परवासुदेवके अंश गुणावतार त्रिदेव हैं। इस प्रकार तीनों स्वरूप परब्रह्मके ही हैं और तीनों ही पूज्य और नमस्कारके योग्य हैं, इसलिये 'माथ नाइ पूछत अस भयऊ' का व्यवहार किया गया था। क्योंकि वेश बदले हुए वैभववान् पुरुषको जाननेवाले तो उसके वैभवके अनुसार ही उसका सम्मान किया करते हैं। बजरंगबलीकी यथार्थ पहुँचसे हमें उनके परम योगी होनेका परिचय मिलता है और साथ ही यह पता

लगता है कि योगियोंके अन्तःकरण सत्यकी किस तहतक पहुँच जाते हैं। रामायणमें इस विषयके और भी उदाहरण मिलते हैं। सच्चे जौहरी श्रीजनकजीने भी इसी प्रकार इस रामरत्नको परखा था—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

भक्तराज विभीषणजीने भी श्रीमारुतिजीसे ऐसा ही कहा था—

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥

विभीषणजीने विप्र वेषधारी हनुमान्‌के सम्बन्धमें दो ही अनुमान किये कि या तो आप राम हैं या रामके दास! अस्तु,

श्रीहनुमान्‌जीने भगवान् श्रीरामको उन्हींके दिये हुए बुद्धिबलसे ही पहचाना था। सतत प्रेमपूर्वक भजन करनेवालेको भगवान् बुद्धियोग देते हैं (गीता १०।१०) गीताके इस सिद्धान्तको श्रीहनुमान्‌जीने प्रत्यक्ष प्रकट कर दिया।

सच्चे अधिकारी भक्तके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीरघुनाथजी महाराज अपने नाम, रूप और धामका निर्देश करते हुए कहते हैं—

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥

इसमें 'नाम राम लछिमन दोउ भाई' से नाम; 'कोसलेस दसरथ के जाए' इसमें धाम तथा रूप एवं 'हम पितु बचन मानि बन आए' और 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही' से लीलाका वर्णन किया है। तदनन्तर भगवान् भक्तवर श्रीहनुमान्‌जीसे पूछते हैं—

आपन चरित कहा हम गाई । कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ॥

'हमने तो अपना हाल सुना दिया; अब विप्रवर ! आप कौन हैं, सो तो बताइये !' इस मर्म-वचनके उत्तरमें श्रीहनुमान्‌जीने जो कुछ किया और कहा, उससे उनकी सच्ची दीनता, यथार्थ शरणागति, अलौकिक अनुरक्ति, असाधारण निर्भरता और गम्भीर ज्ञानका पता लगता है । । स्वामी श्रीरामको पहचानकर मारुतिजी चरणोंमें गिरकर परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं । शिवजी कहते हैं—'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ।' इसके बाद उनके व्यवहार और वचनोंका आदर्श देखिये—

पुलकित तन मुख आव न बचना । देखत रुचिर बेष कै रचना ॥
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही । हरष हृदयँ निज नाथहि चीन्ही ॥
मोर न्याउ मैं पूछा साईं । तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना । ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ॥

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान ॥

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें । सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा ॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई । जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ॥
अस कहि परेउ चरन अकुलाई । निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ॥

इस स्तुतिमें श्रीहनुमान्‌जीने पाँचों स्वरूपोंका रहस्य बड़ी विलक्षणतासे खोल दिया है । जीवस्वरूप, परस्वरूप, विरोधस्वरूप, उपायस्वरूप और फलस्वरूप—इन पाँचोंका ही निचोड़ इसमें आ

गया, जो सर्वशास्त्रोंका साररूप है और जिसको जानना अत्यन्त आवश्यक है। कहा है—

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलप्राप्तिं तथा प्राप्तिविरोधि च॥
वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः।
मुनयश्च महात्मानो वेदवेदान्तवेदिनः॥

समस्त वेद, इतिहास, पुराणादि और वेद-वेदान्तके ज्ञाता मुनि-महात्माओंका सिद्धान्त है कि जबतक इन पाँचोंका बोध नहीं होता, तबतक जीव संसारसे पार नहीं हो सकता, 'मोर न्याउ मैं पूछा साईं' से 'जीवस्वरूप' का बोध होता है, जिसका लक्षण गोस्वामीजीने 'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥' बतलाया है। 'तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं,, 'तव माया बस फिरउँ भुलाना', 'सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा,' 'पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान' इत्यादिसे यहाँ 'ईश्वर-स्वरूप' प्रकट होता है, जैसा कहा है—'ग्यान अखंड एक सीतावर,' 'बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।'

'नाथ जीव तव मायाँ मोहा' से 'विरोधस्वरूप' यानी माया-को दिखलाया, जो भक्तिमें बाधक हो रही है। 'सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥' से 'उपायस्वरूप' अर्थात् दास और छोटे बच्चेकी भाँति सब साधनोंसे रहित होकर केवल प्रपत्तिसे ही उद्धार होना बतलाया। 'अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥' से 'फलस्वरूप'—भगवत्-चरणकी प्राप्ति तथा प्रेमाभक्ति ही परम फल है, यह दिखलाया

है इसी प्रकार 'ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ॥' कहकर सच्चे भक्तोंकी दीनतारूप मुख्य धारणाका मर्म भी समझा दिया। सच्चे भक्तोंके हृदयमें यह भाव कदापि स्वप्नमें भी नहीं आता कि 'मैं भी कुछ हूँ या मुझमें भी कुछ गुण है।' श्रीभरतजी कहते हैं—

× × × मैं सठु सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस ॥

प्रेमीवर सुतीक्ष्णजी महाराजने कहा है—

भगति बिरति न ग्यान मन माहीं ॥
नहिं सत संग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा ॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की ॥

गोस्वामीजी तो शपथ ही खा रहे हैं—

कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें ॥

सारांश यह है कि भगवान्‌के सच्चे शरणागत जन 'अहं', 'मम' आदि समस्त सम्बन्धोंको निश्चितरूपसे प्रभुकी वस्तु समझ लेते हैं। वे अपनेको भी अपना नहीं समझते। भक्तवर श्रीयामुनाचार्यजीने कहा है—

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव !
नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते ॥
(आलवन्दार)

'माधव! मेरे नाथ! मेरा जो कुछ है, और जो कुछ मैं हूँ, सब तेरी ही नियत सम्पत्ति है—मेरी इस बुद्धिने यह निश्चय कर लिया है। ऐसी दशामें मेरे पास है ही क्या, जो तुझे समर्पित करूँ!'

जब स्वामीके प्रति मन-वचन-कर्म तीनोंसे शुद्ध प्रपन्नता हो जाती है, तभी प्रभु उसे स्वीकार करते हैं—

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥

इस चौपाईमें श्रीहनुमान्‌जीने शुद्ध प्रपत्ति सिद्ध कर दी। 'अस कहि' से वचनकी प्रपन्नता, 'प्रीति उर छाई' से मनकी प्रपन्नता तथा 'परेउ चरन अकुलाई' से तनकी प्रपन्नता सिद्ध हुई। इतना ही नहीं, 'बटु-वेषरूपी कपटको दूर कर 'निज तनु' भी प्रकट कर दिया। अब तो भगवान्‌से नहीं रहा गया, उठाकर हृदयसे लगा लिया और प्रेमाश्रु-धाराओंसे लगे अभिषेक करने!

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

श्रीहनुमान्‌जी कृतार्थरूप हो गये। स्वयं ही कृतार्थ नहीं हुए; इसके बाद सुग्रीव-विभीषण आदि जिन-जिन लोगोंने आपसे सम्बन्ध रक्खा या किया, उन सबको भी प्रभुकी प्राप्तिद्वारा कृतार्थ करा दिया। यही तो संतोंकी महिमा है!

श्रीहनुमान्‌जीके सङ्गसे उपलब्ध श्रीरामकृपासे सुग्रीवजी राज्यासनपर विराजते हैं, परन्तु जब राजमदके कारण 'रमाविलास'में रम जाते हैं तब श्रीहनुमान्‌जी बड़ी ही दूरदर्शितासे आदर्श विनय-पूर्वक सुग्रीवको सब प्रकारसे सचेत कर देते हैं।

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥

इस काममें आपकी बुद्धिमत्ता, सुग्रीवके प्रति हितैषिता और 'राम काजु' की चिन्ता तथा मन्त्रित्वके नाते कर्तव्यपरायणता और

नम्रता—सभी एक साथ प्रकट हो जाते हैं। आप इतना ही करके शान्त नहीं हो जाते। सुग्रीवकी अनुमति लेकर स्वयं दूतोंको सम्मानपूर्वक बुलाते हैं और भय तथा प्रीति दिखाकर वानरोंको बुलानेके लिये उन्हें तुरंत भेज देते हैं। यदि आपने ऐसा न किया होता तो सुग्रीवपर कितना बड़ा कोपाक्रमण होता!

जब वानरयूथ इकट्ठे हो गये और श्रीसीताजीको खोजमें भेजे जाने लगे, तब आपका दल भी दक्षिण दिशाकी ओर चला। उस समय सबसे पीछे आपने श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें शिरसा प्रणाम किया। श्रीरामजीने इनको निकट बुलाकर अपने भक्तभयहारी कोमल कर-कमल इनके मस्तकपर रख दिये और अपना ही जन जानकर सहिदानके निमित्त मुद्रिका दे दी। फिर श्रीरघुनाथजी बोले—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥

आज श्रीहनुमान्‌जीका जीवन सफल हो गया। उन्होंने सोचा कि मेरे समान बड़भागी कौन होगा, जिसके मस्तकपर मेरे नाथने आज पाप, ताप और माया—तीनोंको एक साथ मिटा देनेवाले कर-कमल रख दिये। कहा है—

कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ! सीस मेरें।
जेहिं कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरें॥
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥

वस्तुतः लङ्कायात्रामें श्रीहनुमान्‌जीको तीनों ही फल प्राप्त भी हो गये। तीनोंका पृथक्-पृथक् विवेचन सुनिये। श्रीहनुमान्‌जी लङ्कादहन करते हैं। वहाँ चारों तरफ हाहाकार मच जाता है।

अगणित जीव जलकर भस्म हो जाते हैं। इनकी गर्जनाको सुनकर अनेक राक्षस-नारियोंके गर्भपात हो जाते हैं—यह सब हुआ, परन्तु आजतक किसीने स्वप्नमें भी ऐसी शङ्का नहीं की कि हनुमान्‌जीको ऐसा करनेमें कोई पाप लगा। करते भी कैसे ? जिसके मस्तकपर परम कारुणिकका अभय हस्त फिर गया, उसमें पाप कहाँ ? यह तो हुई पापकी बात, अब तापकी बात सुनिये। यों तो आप स्वाभाविक ही त्रिविध तापसे मुक्त हैं; परन्तु यहाँ उस तापके सम्बन्धमें कहना है, जिससे आपने सारी लङ्काको तप्त कर दिया था। आपकी पूँछमें लगायी हुई अग्नि जिस समय करोड़ों लाल-लाल लपटोंसे लङ्काको दग्ध कर रही थी, उस समय प्रलयाग्नि या बड़वानल भी उसके सामने तुच्छ थे। अग्निशिखाएँ मानो काल-रसनाके सदृश सबको चाट रही थीं। मूसलाधार वृष्टि भी उस समय घृताहुतियोंके सदृश अग्निको अधिकाधिक प्रचण्ड कर रही थी। समुद्रका जल भी उबल रहा था। ऐसी विकट स्थितिमें आप सहज ही एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरपर उछल रहे हैं, सारा शरीर रोमसे आवृत है, परन्तु अग्निकी आँचसे आपका बाल भी बाँका नहीं होता। कैसा आश्चर्य है ! बात यह है कि 'गोपद सिंधु अनल सितलाई' की प्रभुतावाले प्रभुका अभय हस्त जिनके सिरपर रक्खा गया, उनके लिये तापकी सम्भावना ही नहीं रहती।

अब रही मायाकी बात; श्रीहनुमान्‌जीको तीनों प्रकारकी गुणमयी मायाका सामना करना पड़ा, परन्तु आप सबका पराभव करते हुए आगे बढ़े हैं। सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी—तीनों ही मायाओंसे सामना करना पड़ा। देवलोकसे आयी हुई सुरसा सत्त्वगुणी; अधोनिवासिनी सिंहिका, जो उड़ते हुए पक्षियोंकी छायाको

पकड़कर उन्हें खींच लेती थी, तमोगुणी; और मध्यलोकस्थ लङ्का-निवासिनी लङ्किनी रजोगुणी थी। उच्च, मध्य और नीच स्थानोंमें रहनेवाली होनेके कारण उपनिषद्‌मयी गीताके सिद्धान्तानुसार इनका क्रमशः सात्त्विकी, राजसी और तामसी होना सिद्ध है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

इनमें सुरसा तो देवलोकसे श्रीहनुमान्‌जीके बुद्धिबलकी परीक्षाके लिये आयी थी।

जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानैं कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता॥
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवनकुमारा॥
राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥
कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना॥

सुरसाने कहा—'आज तो देवोंने खूब भोजन भेजा।' इसपर श्रीहनुमान्‌जी हँसे। इस हँसमुख मुद्रासे यह सूचित होता है कि आपको सुलह स्वीकार है। इसके बाद मारुतिजीने 'राम' शब्दका उच्चारण किया। क्योंकि श्रीराम-नाम सर्वविघ्न-विनाशक और शत्रुको भी अनुकूल करनेमें समर्थ है। यथा—

धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति
आई मीचु मिटति रटत राम नाम के॥

पर इस राम-नामसे भी सुरसाने मार्ग नहीं छोड़ा। यहाँ यह शङ्का होगी कि हनुमान् सरीखे नामनिष्ठका यह प्रयोग निष्फल क्यों

हुआ । इसका उत्तर यह है कि सुरसा तो प्रतिकूल थी ही नहीं जो अनुकूल होती । वह तो प्रारम्भसे ही अनुकूल थी, केवल योग्यताकी जाँचके लिये आयी थी । इसीलिये वह नहीं हटी । इसके बाद आपने यह सूचित किया कि मैं 'राम काजु' से जा रहा हूँ । बड़ेका काम सुनकर मामूली लोग भय खा जाते हैं (राम रजाइ सीस सबही कें) । इसका भी कोई फल नहीं हुआ, क्योंकि अभी परीक्षाके बहुत-से विषय बाकी थे । अब हनुमान्‌जीने सोचा कि स्त्रीजातिकी स्त्रीजातिके प्रति स्वाभाविक सहानुभूति होगी, इससे 'सीता कइ सुधि' प्रभुको सुनानेकी बात कही । इसपर भी सुरसा नहीं हटी । तब प्रतिज्ञा करके समय लेना उचित समझा और 'तब तव बदन पैठिहउँ आई' कहा । इसपर भी जब वह नहीं मानी, तब उसे 'माता' (माई) कहकर सम्बोधन किया । स्त्रियोंमें अपत्य-स्नेह स्वाभाविक होता है । कहीं मातृभावसे बालक समझकर ही छोड़ दे । हनुमान्‌जी किसी प्रकार भी 'राम काजु' करनेकी चिन्तामें मग्न थे, उन्हें दूसरी कोई बात सूझती ही नहीं थी । इसपर भी जब वह न मानी, तब आपने कहा कि 'फिर खा क्यों नहीं डालती (ग्रससि न मोहि) ?' इतना सुनते ही सुरसाने एक योजनका मुँह फैलाया, श्रीहनुमान्‌जी 'रा'—'म' रूपी दो अक्षरोंके बलसे उससे दूने बढ़ गये । तब सुरसाने नारी-प्रकृतिके अनुसार उनसे अठगुना—सोलह योजनमें मुखका विस्तार किया । मारुतिजीको तो ('प्रीति प्रतीति है आखर 'दू' की,' 'तुलसी हुलसै बल आखर 'दू' को) दो अक्षरोंका ही भरोसा था, इसीलिये वे फिर दूने—बत्तीस योजन बढ़े । तब तो सुरसाने किसी नियमको न मानकर सौ योजनमें मुँह फैलाया । श्रीहनुमान्‌जीने सोचा कि सौ ही

योजन समुद्र पार करनेकी बात थी, अवधि आ पहुँची; अतएव अब इसे भी पार करना ही चाहिये। तब 'अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा'—छोटा-सा रूप बनाकर उसके मुँहमें घुस गये और चटपट बाहर निकलकर आज्ञा माँगी—

बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। मागा बिदा ताहि सिरु नावा॥

श्रीहनुमान्‌जीके बुद्धिबलका मर्म समझकर सन्तुष्ट हो सुरसाने आशीर्वाद दिया—

'राम काजु' सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥

श्रीहनुमान्‌जीने अपने बुद्धिकौशलसे बाधकको साधक बनाकर आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। कर्तव्यपथमें विघ्न करनेवालेके साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, इस बातकी हमें इससे खूब शिक्षा मिलती है। इसके बाद क्रमशः सिंहिका और लङ्किनीको स्वभावानुसार पुरस्कृत कर आप लङ्का पहुँचे।

आध्यात्मिक दृष्टिसे इस लङ्का-यात्राका अभिप्राय यह है कि जब जीव भक्तिकी खोजमें परमार्थपथपर चलता है, तो उसे तीन प्रकारकी गुणमयी मायाएँ बाधक होती हैं। इन तीनोंसे श्रीहनुमान्‌जीके सदृश व्यवहार करना चाहिये। सत्त्वगुणीसे विशेष विरोध न करे; क्योंकि शुभ कर्मोंकी प्रवृत्तिसे विरोध करना उचित नहीं और निवृत्ति होनेके लिये भजनके हेतुसे उसका सङ्ग निबाहना भी असम्भव है। अतः उसके अनुकूल होते हुए भी अपनेको छोटा बनाकर उससे छुटकारा पानेका प्रयत्न करे, प्रवृत्त न हो; क्योंकि शुभाशुभ दोनों

ही प्रकारकी प्रवृत्तिका त्याग करना ही भगवत्प्रेमियोंके लिये श्रेयस्कर है।

त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक॥

श्रुति कहती है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
(तै० आ० प्र० १० अ० १०)

इस प्रकार सत्त्वगुणी मायासे बचे।

तमोगुणी मायाको सिंहिकाकी भाँति जानसे मार डाले; तात्पर्य यह कि उसे निःशेष त्याग दे। क्योंकि पापकर्मोंका लेश भी परमार्थके लिये अत्यन्त विरोधी है। अतः 'भूलि न देहिं कुमारग पाऊँ।' तमोगुणी माया बड़ी ही घातक और तीव्र होती है; इससे उसको अपनी छाया भी नहीं छूने देना चाहिये; नहीं तो वह छाया-मात्रको पकड़कर ही हमारा जीवन नष्ट कर देगी। इससे सदा सचेत रहना चाहिये और जहाँ किञ्चित् भी सन्देह हो वहीं —'तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा' के अनुसार तुरन्त पहचानकर झटपट उसका काम तमाम कर ही डालना चाहिये। 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'

रजोगुणी मायाको अधमरा करके छोड़ दे, क्योंकि इसका सर्वथा निराकरण करनेसे शरीर-रक्षार्थ अवलम्बनहीन हो जाना पड़ेगा। शरीर-यात्राभरके लिये अन्न-वस्त्र ग्रहण करना धर्म है; परन्तु उतना ही जितना प्रारब्धानुसार प्राप्त हो—'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' (गीता ४। २२)। अतः रजोगुणी मायाको लङ्किनीकी भाँति न प्रबल रहने दे और न नष्ट

ही करे; बल्कि कमजोर बना, अपने काबूमें कर उससे काम निकाले—'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।' (गीता ६ । १६) जिससे वह बाधक न होकर साधक ही रहेगी । इस प्रकार त्रिगुणमयी मायासे छूटकर सीतारूपी भक्ति-माताकी खोजमें आगे बढ़ना चाहिये ।

इसके बाद श्रीहनुमान्‌जी अब लङ्कामें आकर विभीषणजीसे मिलते हैं और उनको अन्तर-बाहरसे भक्त समझ उनके बतलाये हुए मार्गसे अशोकवाटिकामें पहुँच माता सीताका साक्षात्कार करते हैं ।

भक्ति-माताकी खोजमें निरत साधकको सद्गुरु चाहिये । यहाँ हनुमान्‌रूपी जीवको विभीषणरूप सद्गुरुकी प्राप्ति हुई । तदनन्तर भक्तिरूपी सीताके दर्शन हुए । इस प्रसङ्गमें यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि मायासे छुटकारा पानेपर भी संत-समागमके बिना यथार्थ भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती । इसके सिवा साधकको खोटा-खरा भलीभाँति पहचानकर ही किसीको गुरु बनाना चाहिये । इसकी विधि भी यहीं बतला दी है । घरके बाहर श्रीराम-नाम-अङ्कित और तुलसीका वृक्ष देखकर ही हनुमान्‌जीने तुरंत विश्वास नहीं कर लिया; जब विभीषण जगकर 'राम-राम' कहने लगे, तब विश्वास किया; क्योंकि रामायणान्तर्गत प्रतापभानुकी कथासे ही यह प्रकट है कि जगत्‌में साधुवेशमें घोर असाधु भी स्वार्थ-साधनके निमित्त निवास करते हैं । कहा है—

तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर ।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधासम असन अहि ॥

अतः जिस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीने विभीषणके बाहरी और

भीतरी सब लक्षणोंको देखकर ही उन्हें संत समझा तथा उनपर विश्वास किया, संत-समागमके अभिलाषी भक्तोंको वैसे ही परीक्षा करके विश्वास करना चाहिये । शास्त्रसम्मत संतोंके लक्षण साङ्गोपाङ्ग मिल जानेपर उस पुरुषसे कार्यहानिकी शङ्का नहीं रह जाती ।

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम ॥

दो संतोंका सत्सङ्ग हुआ ! दोनों रामानुरागियोंके तन, मन, वचन एकाकार हो भगवान्‌के गुणानुवादमें तल्लीन हो गये । परन्तु इस अवस्थामें भी साक्षात्कार किये बिना पूर्ण शान्ति नहीं । तभी तो वे बोले—'देखी चहउँ जानकी माता ।' फिर विभीषणोपदिष्ट मार्गसे अशोकवाटिकामें पहुँचे । भक्तराज विभीषणकी शिक्षासे सीताजीकी सन्निधि प्राप्त कर अपने स्वामीकी मुद्रिका माताको प्रदान की ।

मुद्रिका-प्रदानमें भी एक रहस्य है । भक्तिके लिये जो कुछ साधक भेंट करता है, वह वस्तु होती क्या है ? केवल प्रभुकी दी हुई ही ! अन्यथा बेचारा जीव प्रभु-प्रसादके अतिरिक्त किसी वस्तुको कहाँसे पाता ? इसीलिये तो 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' का संकल्प है । इस प्रकार जब भक्तिके निमित्त प्रभु-प्रदत्त वस्तु समर्पित की जाती है और राम-यशकी पुष्पाञ्जलि चढ़ने लगती है—'रामचंद्र गुन बरनैं लागा,' तब तुरंत ही स्वयमेव आह्वान होता है—

श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई ॥

यहाँ बड़ा रहस्यपूर्ण प्रसङ्ग है । श्रीहनुमान्‌जीके निकट जानेपर माताजी पूरी परीक्षा लेनेका विचार कर मुँह फेर बैठ गयीं । 'फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ ।'

तदनन्तर जब हनुमान्‌जीने रामभक्त होनेके परिचयमें सहिदानी मुद्रिकाका लक्ष्य कराते और 'करुनानिधान' * नामकी सत्य शपथ करते हुए उनका दास होनेकी सूचना देकर पूर्णरूपसे विश्वास दिलाया—

राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥

—तब माता उन्हें मन, कर्म, वचनसे 'कृपासिन्धु'का दास जान परम प्रसन्न हुईं और पुलकित होकर संतुष्ट मनसे आशीर्वाद प्रदान किया।

जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।
हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी॥
आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ सदा रघुनायक छोहू॥

भक्तने विमल वरदान पाया। हनुमान् प्रेममें तन-मनकी सुधि भूल गये।

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना॥

—यही निष्काम भक्तोंका परम धन है।

यहाँ श्रीहनुमान्‌जीने यह प्रमाणित कर दिया कि भगवद् प्रेमियोंको प्रभुकी कृपाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिये।

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥

इसके बाद लङ्कासे विदा होते समय हनुमान्‌जी कोई सहिदानी माँगते हैं और माता चूड़ामणि उतारकर देती हैं।

मुद्रिकाके बदले चूड़ामणि प्रदान करनेमें भी गूढ़ रहस्य है। भगवान्‌ने जो अपने हाथका भूषण 'मुद्रिका' दी, इसका अभिप्राय

---

* श्रीमाताजी सरकारको सदा 'करुणानिधान' शब्दसे सम्बोधन करती थीं, हनुमान्‌को इस मर्मका ज्ञाता जानकर ही विश्वास किया।

यह है कि 'सीते ! तुम कहीं भी हो, मेरे कर-कमलकी छाया सदा तुम्हारे सिरपर मौजूद है; तुम अभय हस्तके आश्रयमें अभय हो ।' और उसके बदलेमें सिरका गहना चूड़ामणि देनेका अभिप्राय यह है कि 'नाथ ! यह शीश आपके कर-कमलकी छाया छोड़कर दूसरा अवलम्बन नहीं रखता ।' इस अभीष्ट सिद्धान्तकी शिक्षा प्राप्त कर श्रीरामकी जल्दी लौटनेकी आज्ञाके अनुसार श्रीहनुमान्‌जी माताको धैर्य दिलाकर लौट चले ।

सारा काम श्रीहनुमान्‌जीके कौशलसे ही हुआ था; तथापि आप सङ्कोचवश स्वामी श्रीरामजी और सुग्रीवके पास घमंडसे सामने सीना करके नहीं गये, वरं सिर झुकाये ही गये और जाकर भी पीछे ही छिपे रहे । सम्भवतः यह भी खयाल रहा होगा कि स्वामीकी आज्ञा विना ही प्रसङ्गवश लङ्कादहन और राक्षस-वध करना पड़ा, इसके लिये कहीं प्रभु अप्रसन्न तो नहीं होंगे । तदनन्तर आपकी सारी कहानी भगवान्‌को जाम्बवंतने सुनायी । इतना महान् कार्य करके भी हनुमान्‌जीके हृदयमें अभिमानका अङ्कुर न जमा । अभिमानका अत्यन्त अभाव होनेके कारण ही आप अपना बल भूले रहते थे । इससे शिक्षा मिलती है कि बड़े-से-बड़ा कार्य करके भी कभी अभिमान नहीं करना चाहिये । श्रीहनुमान्‌जीने यह सत्य सिद्धान्त बतला दिया—

सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ॥

—सारी सिद्धियाँ केवल प्रभु-कृपासे ही प्राप्त होती हैं; साधकके लिये यह अत्यन्त शिक्षाप्रद विषय है । श्रीहनुमान्‌जीकी नम्रताका वर्णन प्रसङ्गवश गोस्वामीजीने रावण-अङ्गद-संवादके प्रकरणमें किया

है। जब रावण श्रीरघुनाथजीकी सेनामें सबके बलकी निन्दा तथा श्रीहनुमान्‌जीकी प्रशंसा करता है, तब अङ्गदजी वस्तुस्थितिको प्रकट करते हुए कहते हैं—

सत्य नगरु कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहिं भय रहा लुकाइ॥

तथा—

रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥

'रावण! अब मुझे यह रहस्य मालूम हुआ। बिना प्रभुकी आज्ञा लिये ही उस वानरने लङ्का-दहन किया; तभी तो वह भगवान्‌के सामने नहीं गया; भयके मारे छिप रहा। अथवा तुम्हारी बात ही सच्ची नहीं है। भला, वह नन्हा-सा सीधा-सादा वानर क्या इतने विशाल नगरको जला सकता है?' अङ्गदजीके इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि श्रीहनुमान्‌जीकी अत्यन्त नम्रता, निरभिमानताके कारण अङ्गदने भी उनको इतना काम करनेवाला नहीं समझा था। कोई समझता भी कैसे? श्रीहनुमान्‌जी तो अपने मुँहसे अपनी बड़ाईकी कोई बात कभी कहते ही नहीं थे, वे तो चुपचाप सेवामें लगे रहते थे। वे कपि-समाजके गर्जन-तर्जनमें कभी भाग नहीं लेते थे।

गोस्वामीजीने इनकी वन्दना 'महाबीर बिनवउँ हनुमाना' 'बंदउँ पवनकुमार' इत्यादि बड़े ही अच्छे शब्दोंमें की है, और इनका ऐसा स्वभाव देखकर इनके विनयानुसन्धानकी स्पष्टताके लिये एक जगह तो इनके नामके 'मान' शब्दको हटा ही देना अच्छा समझा है। जिसने जीवनभर 'मान' की उपेक्षा की, उसके नामके अन्तर्गत 'मान' का रहना गोस्वामीजीको कैसे नहीं खटकता?

उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपानिकेत।
जय कृपालु कहि कपि चले अंगद 'हनू' समेत॥

कैसा अच्छा प्रसंग है। विभीषणजी रावणसे विमुख हो भगवान्‌की शरणमें आ रहे हैं, उन्हें लिवा लानेके लिये कपि-समाज जाता है। संत-मिलनका शुभ अवसर है। ऐसे अवसरपर श्रीमारुति-जी 'मान' लेकर क्या करते? यही कारण है कि श्रीतुलसीदासजीने 'हनु' मात्रका प्रयोग कर स्वाभाविक वर्णनकी पराकाष्ठा दिखला दी।

इसी नम्रताके कारण हनुमान्‌जी भक्ति और शक्तिके समान अधिकारी हुए, जिसके कारण अन्तमें श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे भी ये उद्गार निकल पड़े—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

इतना ही नहीं, श्रीहनुमान्‌जीने जड़ी लाकर श्रीलक्ष्मणजीको, विजय-सन्देशसे श्रीजानकीको और अवध-आगमन-सन्देशसे श्रीभरत-जीको तथा समस्त अयोध्याको ऋणी बना लिया। यही कारण है कि श्रीरामपञ्चायतनमें आपको भी स्थान प्राप्त है।

भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

भगवान् स्वयं ऐसे भक्तका गुणानुवाद अपने श्रीमुखसे करते हैं*। आपका जीवन सेवा और पुरुषार्थका नमूना है और इससे

* वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामने हनुमान्‌जीसे कहा है—
चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका॥

हमें यह अन्यतम शिक्षा प्राप्त होती है कि भगवान्‌की सेवाके साथ-साथ पुरुषार्थ करनेसे भगवान्‌की कृपादृष्टि होती है और जीवन सफल हो जाता है।

बंदउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदयँ आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

धन्य हनुमान्! तुमको और तुम्हारे लोकपावन चरित्रको!

तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा।
लोका हि यावत् स्थास्यन्ति तावत् स्थास्यति मे कथा॥
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥
(७। ४१। २१—२४)

'हनुमान्! इस लोकमें जबतक मेरी कथा रहेगी, तबतक मेरी कीर्ति और तेरा जीवन रहेगा और जबतक जगत् रहेगा, तबतक मेरी कथा रहेगी। वानर! तूने मुझपर बड़े-बड़े उपकार किये हैं। उनमेंसे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी तेरा बदला नहीं चुका सकता, फिर शेष उपकारोंके लिये तो तेरा ऋण कैसे चुका सकता हूँ? तेरे उपकार मेरे ही शरीरमें जीर्ण हो जायँ; ऐसा अवसर ही न आवे, जब तुझे उपकारोंका बदला पाने योग्य पात्र बनना पड़े। क्योंकि जब मनुष्यपर विपत्ति आती है, तभी वह प्रत्युपकारका पात्र होता है, अतएव तुझपर कभी आपत्ति ही न आवे।' इन वचनोंसे पता लगता है कि श्रीहनुमान्‌जी भगवान्‌को कितने प्यारे थे!—सम्पादक

श्रीसुग्रीवजीका महत्त्व

किष्किन्धाके भक्तराज श्रीसुग्रीवजीका प्रसङ्ग रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डके आदिसे ही आरम्भ होता है, जब उन्हें सर्वप्रथम श्रीराम और श्रीलक्ष्मणके दर्शन प्राप्त हुए हैं। यथा—

आगें चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्बत निअराया॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बल सींवा॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल रूप निधाना॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई॥
पठए बालि होहिं मन मैला। भागौं तुरत तजौं यह सैला॥

सुग्रीवजीके आदेशानुसार श्रीहनुमान्‌जी ब्राह्मणका रूप धारणकर श्रीरामजी और श्रीलखनलालजीके समीप गये और उन्हें क्षत्रियके रूपमें देखकर भी उन्होंने इसलिये मस्तक नवाकर पूछा कि उनके अनुमानमें वे दोनों तीन वन्दनीयोंमेंसे ही कोई थे, जैसा कि उनके प्रश्नसे स्पष्ट होता है। वे पूछते हैं कि आप दोनों (१) ब्रह्मा और विष्णु हैं या शिव और विष्णु हैं, अथवा (२) नर-नारायण ही तो नहीं हैं, या (३) समस्त ब्रह्माण्डके नायक, जगत्‌के परम कारणने ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मनुज-अवतार धारण किया है ! त्रिदेव, नर-नारायण तथा अखिलभुवनपति—तीनों ही नमस्कारके योग्य हैं। श्रीरघुनाथजीने जब अपना नाम, धाम, रूप, लीला—चारों बातें बतला दीं—'कोसलेस' शब्दसे धाम, 'दसरथ के जाए' शब्दसे रूप, 'हम पितु वचन मानि वन आए' वचनसे लीला तथा 'नाम राम लछिमन दोउ भाई' कहकर नाम बतलाया, तब 'प्रभु पहिचानि* परेउ गहि चरना'—प्रभुको पहचानकर उन्होंने पैर पकड़ लिये और सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌को अपने अनुकूल देखकर सुग्रीवपर भी कृपा करनेके लिये प्रार्थना की। फिर सुग्रीवकी 'कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई' आज्ञाके अनुसार उन्होंने 'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई'—दोनों भाइयोंको पीठपर चढ़ाकर सुग्रीवको यह इशारा किया कि 'ये

---

* श्रीहनुमान्‌जी साक्षात् शिवके अवतार हैं ('रुद्र देह तजि नेह बस बानर भे हनुमान'—दोहावली); अतः यह जो आकाशवाणी हुई थी कि 'तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥ अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा ॥ नारद बचन सत्य सब करिहउँ ।'—इत्यादि, उससे उन्होंने पहचान लिया।

ऐसे अनुकूल हैं कि मैं उन्हें कन्धेपर लादकर ला रहा हूँ।' इस प्रकार सुग्रीवके पास प्रभुको पधराकर मैत्री करायी गयी—

जब सुग्रीवँ राम कहुँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥
सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥
कपि कर मन बिचार एहि रीती। करिहहिं बिधि मो सन ए प्रीती॥
तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥

तत्पश्चात् श्रीलखनलालने श्रीरघुनाथजीका सम्पूर्ण चरित (सीता-हरण आदि) सुग्रीवको सुनाया। तब सुग्रीवने कहा—

कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी॥
मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥
गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥
राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥
मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बल सींव।
कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव॥

उपर्युक्त बातोंसे सुग्रीवकी अपनी सेवामें परायणता और तत्परता देखकर कृपासिन्धु बलकी सीमा भगवान् श्रीरामने प्रसन्न होकर उनसे भी यह प्रश्न किया कि 'सुग्रीव! आप किस कारणसे इस वनमें निवास कर रहे हैं, मुझसे कहिये।'

श्रीसुग्रीवजीने निवेदन किया कि "नाथ! बालि और मैं, हम

दो भाई हैं। एक दिन आधी रातको मायावी नामक असुरके ललकारनेपर महाबली वालिने उसका पीछा किया। मैं भी भाईके संग हो लिया। वह दैत्य भागकर एक गिरिगुहामें घुस गया तब वालिने मुझे आज्ञा दी कि 'मैं गुहामें जा रहा हूँ, तुम एक पखवाड़ेतक मेरी राह देखना। यदि पखवाड़ेके भीतर मैं विजय प्राप्त करके न आ सका तो समझ लेना कि मैं ही मारा गया।' मैं भाईकी प्रीतिवश एक महीनेतक गुफाके द्वारपर उपस्थित रहा। अन्तमें क्या देखता हूँ कि खूनकी एक बड़ी धारा उस गुफासे निकल रही है। तब मैंने अनुमान किया कि वालिका ही वध हुआ है, अब मुझे भी वह दैत्य आकर मारेगा। ऐसा सोचकर गुफाका द्वार एक शिलासे बंद करके मैं वापस भाग आया। मन्त्रियोंने गद्दी सूनी देखकर मुझे ही बरबस राज्य दे दिया। पीछे वालि उसका वध करके घर आया और मुझे गद्दीपर बैठा देखकर उसने मनमें बड़ा भेद माना। उसने सोचा, यदि सुग्रीवने मुझे मरा ही समझा तो भी गद्दी मेरे पुत्र अंगदको ही मिलनी चाहिये थी; यह स्वयं क्यों राजा बन गया? ऐसा सोचकर उसने मुझे वैरीका भाँति मारा और मेरी स्त्री तथा मेरा सब कुछ हरण करके मुझे निकाल दिया। कृपालु रघुवीर! मैं उसके भयसे भुवनभरमें भागता फिरा, परन्तु कहीं ठौर नहीं मिली। यहाँ वह शापके कारण नहीं आता, फिर भी मैं भयभीत ही रहा करता हूँ।

सेवक सुग्रीवका दुःख सुनकर दीनदयालु श्रीराघवजीकी दोनों भुजाएँ फड़क उठीं और वे बोले—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

'सखा ! अब तुम मेरे बलपर सोच छोड़ दो ।' इसपर सुग्रीवजीने कहा कि 'नाथ ! वालि बड़ा रणधीर और महाबली है— देखिये ! यह दुन्दुभि दैत्यकी हड्डी है, जिसे वालिने मारा था । यह किसीसे हिल भी नहीं सकती । और ये सर्पाकार सात ताड़के वृक्ष हैं । जो उस अस्थिको हटा देगा और इन सातों वृक्षोंका भेदन करेगा, वही उस वालिपर विजय प्राप्त कर सकता है ।'

तब श्रीरघुनाथजीने पैरके अँगूठेसे उठाकर उस अस्थिको इस तरह फेंका कि वह दस योजन (४० कोस) पर जाकर गिरी—

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सम्पूर्णं दशयोजनम् ॥

(मूलरामायण ६५)

और फिर एक ही बाणसे सातों तालवृक्षोंको गिरा दिया । इस तरह श्रीप्रभुका अमित बल देखकर सुग्रीवने पहचान लिया कि ये साक्षात् ईश्वरावतार हैं और बारंबार चरणोंमें सिर नवाया । उन्हें अब यह पूरा विश्वास हो गया कि ये अवश्य वालिका वध करेंगे ।

सखा सोच त्यागहु बल मोरें । सब बिधि घटब काज मैं तोरें ॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । बालि महाबल अति रनधीरा ॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए । बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए ॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती । बालि बधब इन्ह भइ परतीती ॥
बार बार नावइ पद सीसा । प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥

यहाँपर यह ध्यान देने योग्य बात है कि श्रीग्रन्थकारने 'बल' 'महाबल' और 'अमित बल' शब्दोंके द्वारा कितनी उत्तरोत्तर अधिकता

दिखायी है। जब श्रीमुखसे केवल 'बल' शब्द निकला—'सखा सोच त्यागहु बल मोरें,' तब सुग्रीवने कहा कि 'बलके भरोसे सोचका त्याग कैसे करूँ, वालि तो 'महाबल अति रनधीरा' है।'' परन्तु जब उन्होंने बालिके 'महाबल' से भी कोटिगुणा 'अमित बल' प्रत्यक्ष देखा, तब उन्हें विश्वास हुआ और उनकी प्रीति बढ़ी—

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥
उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। माया कृत परमारथ नाहीं॥
बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

जब सुग्रीवको यह बोध हो गया कि श्रीरघुनाथजी साक्षात् ईश्वरावतार हैं, तब उनके हर्षका पारावार न रहा। इस भावसे बारंबार चरणोंमें गिरनेसे तथा श्रीविग्रहके दर्शन करनेसे उनके हृदयके पट खुल गये। श्रीमुखका ही वचन है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

उनके अंदर पारमार्थिक ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब वे बोले कि 'नाथ! आपकी अहैतुकी कृपासे अब मेरा मन एकाग्र (शान्त) हो गया। सुख, धन-धाम, पुत्र-कलत्र और मान-बड़ाई—इन चारोंको छोड़कर मैं अब आपका ही भजन करूँगा।' वालिने सुग्रीवकी इन चारों चीजोंको छीन लिया था;—(१) सुखका हरण

कर लिया था, वे दुखी ('मारेसि अति भारी' के कारण पीड़ित) होकर जंगलमें पड़े थे; (२) सम्पत्ति छीन ली थी (हरि लीन्हेसि सर्बसु); (३) परिवार भी ले लिया था (हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी) और (४) बड़ाई भी छीन ली थी—संसारभरमें मारे-मारे फिर रहे थे, भयके कारण छिपकर पर्वतपर जा बैठे थे—

'सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ।'

इहाँ साप बस आवत नाहीं । तदपि सभीत रहउँ मन माहीं ॥

अब इन चारोंका त्याग सुग्रीव स्वयं कर रहे हैं । जिन चार चीजोंकी चाहके कारण अबतक वे रात-दिन शोकान्वित रहते थे, उन्हींको अब वे अपने मार्गका बाधक मान रहे हैं । फिर सुग्रीव यह प्रार्थना करते हैं, 'नाथ ! आपके पादानुरागी संतजन इन चारोंको आपकी भक्तिमें बाधक मानते हैं । संसारमें जो शत्रु-मित्र, सुख-दुःख भास रहे हैं, ये सब मायाकृत हैं, इनमें वास्तविकता—परमार्थ कुछ भी नहीं है । बालिको तो मैं अब अपना परम हित समझ रहा हूँ, क्योंकि उसीके कारण समस्त दुःखोंके निवारक श्रीराम (आप) मुझे प्राप्त हुए हैं । अब तो यदि स्वप्नमें भी मैं यह देखूँ कि मैं बालिसे लड़ रहा हूँ, तो जागते ही मेरा मन सकुच जायगा कि ऐसे परम कल्याणकारी हितूसे लड़ाईका स्वप्न क्यों देखा । अतएव प्रभो ! अब ऐसी ही कृपा हो कि मैं सब कुछ छोड़कर दिन-रात केवल आपके भजनमें ही लग जाऊँ ।'

श्रीसुग्रीवजीके सम्बन्धका यह प्रसङ्ग बड़े महत्त्वका है । उनका यह कथन ऊपरी मनसे नहीं था, बल्कि हृदयका दृढ़ निश्चय था;

उनके हृदयका यह वास्तविक परिवर्तन था। जिसकी सत्यता श्रीमुख-वाक्योंसे ही प्रमाणित हो रही है। श्रीसुग्रीवजीके उत्तरमें श्रीमुख-वचन है—'सखा! आप सत्य कह रहे हैं। ये वचन वैराग्यपूर्ण हैं।' यथा—

सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि राम धनुपानी॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

श्रीसुग्रीवजीकी इसी धारणाकी यह महिमा है कि उनकी तुलना श्रीभरतलालजीसे की गयी है—

तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई॥

—तथा इसी प्रतिज्ञाका यह असर है कि—

जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने। राज सभाँ रघुबीर बखाने॥

—पीछे बालिकी ही भाँति पर-पत्नी ताराके साथ सुग्रीवद्वारा 'कुचालि' होनेका श्रीरामजीने स्वप्नमें भी खयाल नहीं किया; बल्कि भरत-सरीखे निष्कलङ्कको भेंटते समय उन्हें सम्मान प्रदान किया, और श्रीअयोध्याकी रामराज्यकी विमल राजसभामें उन सुग्रीवकी निज श्रीमुखसे प्रशंसा की। इस सारी महत्ताका कारण वह सच्ची शरणागति (प्रपत्ति) ही है, जिसे निष्कपट होकर, सच्चे हृदयसे, दृढ़ भावसे सुग्रीवजीने धारण किया था। श्रीभगवान्‌की तो प्रतिज्ञा ही है कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वाल्मीकि० ६। १८। ३३)

क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

कोई कैसा भी हो, सब प्रकार हीन ही क्यों न हो; यदि वह सकृत् (एक बार) किसी क्षण श्रीरघुनाथजीकी सच्ची शरणागति ले ले, तो उसके बाद वह निर्भय हो जाता है; फिर तो—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

श्रीसुग्रीवजीकी ही हालत देखें। ऊपर सुग्रीवजीका यह कथन आया है कि—

मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥

—और यह कहा भी गया है कि इसी अनुचित कार्यको देखकर बालि जल मरा कि मेरे बेटेका हक इसने छीन लिया है। यदि सुग्रीवजी अपनी धारणामें दृढ़ होते तो मन्त्रियोंके लाख जोर लगानेपर भी दूसरेका हक कदापि स्वीकार न करते। श्रीभरतजीसे अयोध्याके राज्यके लिये क्या लोगोंने कम आग्रह किया था। दूसरे, उन्हें तो श्रीपिताजीने राज्यका वरदान ही दिया था। परन्तु मन्त्रियों, माताओं तथा गुरुओंतकका सारा प्रयत्न व्यर्थ हो गया। उन्हें किसी-ने बलपूर्वक राज्यपर क्यों नहीं बैठा दिया। पीछे जब सुग्रीवजीको राज्यासनसे उतारकर बालिने उनका सुख, सम्पत्ति, परिवार, बड़ाई इत्यादि सब छीन लिया, तबसे उनकी बड़ी दुर्दशा थी, 'तन बहु बन चिंता जर छाती'—शरीर बालिके मारनेसे घावोंसे भर रहा था

और मानसिक चिन्तासे छाती जल रही थी। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रपत्तिसे पूर्व वे अज्ञानावस्थामें पड़े थे और उनका मन अपने वशमें नहीं था। उसके बादकी अवस्थाका भी प्रमाण स्वयं उनके ही वचनोंसे मिलता है। श्रीरघुनाथजीने वर्षा समाप्त हो जानेपर सुग्रीवकी ओरसे ढिलाई देखकर उन्हें भयभीत करके सुधारनेके लिये श्रीप्रवर्षण पर्वतपर क्रोध-प्रदर्शनकी लीला की थी। यथा—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥
जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा। ता कहँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥
जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

ठीक उसी समय इधर किष्किन्धामें श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें स्फुरणा हुई कि श्रीरामकार्यको सुग्रीवजीने बिसार दिया; इसलिये उन्होंने सुग्रीवजीके पास जाकर नमस्कार किया और चारों प्रकारसे (साम, दान, भय और भेदकी नीति कहकर) समझाया। उन्होंने कहा, 'साम और दान दोनों श्रीरामजी आपके साथ निभा चुके हैं अर्थात् उन्होंने आपको मित्र बनाया है और राज्य दिला दिया है।' अब भगवान्‌की सेवासे विमुख होनेपर भय (दण्ड) और भेदका भी बर्ताव करना उन्हींके अधीन है। दण्ड (भय) के लिये वही बाण मौजूद ही है, जिससे बालिका वध हुआ है और भेदके लिये अङ्गद मौजूद ही है। ऐसी सिखावनी

सुनकर सुग्रीवको बड़ा भय हुआ । उन्होंने कहा—"विषयने मेरे ज्ञानको हर लिया—'विषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना ।' हनुमान्‌जी ! अब शीघ्र ही दूतोंको भेजकर मेरी सारी वानरी सेनाको पंद्रह दिनके भीतर एकत्र कराओ और कड़ी आज्ञा दो कि जो हाजिर नहीं होगा, उसका वध मेरे हाथों किया जायगा ।" श्रीहनुमान्‌जीने तुरंत वैसा ही किया । इतनेमें ही श्रीलखनलालजी क्रोध दरसाते हुए किष्किन्धा आ पहुँचे और उन्होंने धनुष चढ़ाकर कहा कि 'मैं अभी किष्किन्धाको भस्म किये डालता हूँ ।

इहाँ पवनसुत हृदयँ विचारा । राम काजु सुग्रीवँ बिसारा ॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा । चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा ॥
सुनि सुग्रीवँ परम भय माना । बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना ॥

× × × ×

एहि अवसर लछिमन पुर आए । क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाए ॥
धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करउँ पुर छार ।
ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार ॥

श्रीलक्ष्मणजीके क्रोधकी बात सुनकर सुग्रीव भयभीत हो गये और उन्होंने ताराको हनुमान्‌जीके साथ भेजकर उनका क्रोध शान्त कराया, तथा अन्तमें स्वयं भी चरणोंमें पड़कर अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी—

नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं । मुनि मन मोह करइ छन माहीं ॥

इससे भी स्पष्ट है कि वह अपनी अज्ञता स्वीकार कर रहे हैं । पुनः जब अङ्गदादि कपियोंके साथ श्रीलखनलालको आगे करके सुग्रीव श्रीरघुनाथजीके समीप आये, तो वहाँ भी उन्होंने यही बात कही—

चरन नाइ सिरु कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी॥
अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥
विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥
तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई॥

भक्त सुग्रीव श्रीरघुनाथजीसे हाथ जोड़कर चरणोंमें मस्तक नवाकर विनय करते हैं कि 'नाथ! मेरा क्या वस है। देव! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है। वह तभी छूट सकती है, जब आप ही दया करके इसे छुड़ा दें। स्वामी! जब सुर, नर और मुनिलोग भी विषयोंके वशमें हैं तब मैं तुच्छ पशु वानर, जिनकी गणना अति कामियोंमें है, किस गिनतीमें हूँ। श्रीराघव! जिसे कामिनियोंके कटाक्ष-शर न लगे हों अर्थात् जो कामसे अजित हो, क्रोधकी घोर अँधेरी निशामें जो न सोया हो अर्थात् क्रोधसे बचा हुआ हो और लोभरूपी फाँसीसे जिसका गला न बँधा हो अर्थात् जो लोभसे विमुक्त हो, अर्थात् जो कोई आपकी कृपाके बिना इन तीनों प्रबल शत्रुओंपर निज बलसे विजय प्राप्त कर चुका हो, वह मनुष्य आपके ही समान है। क्योंकि साधारण मनुष्योंके लिये यह सम्भव नहीं। यह योग्यता किसी मनुष्यके साधन (पुरुषार्थ) से नहीं प्राप्त होती, जब आपकी ही कृपा होती है, तभी किसी-किसी कृपापात्रको यह गुण प्राप्त होता है। इस प्रकारकी विनती सुनकर श्रीरघुनाथजीने प्रसन्न होकर कहा कि 'तुम मुझे भरतके समान प्रिय हो।'

श्रीभरतजीके समान कहनेका रहस्य भी उस एक बार सच्ची

शरण ले लेनेसे ही लक्षित हो रहा है। जिस प्रकार श्रीभरतजी सब प्रकारसे निष्कलङ्क और निर्दोष होनेपर भी अपना ही दोष स्वीकार करते रहे हैं (यथा 'मैं सठ सदा सदोस', 'दोष सब जनहीं'—अयोध्याकाण्ड), उसी प्रकार श्रीसुग्रीवजी यद्यपि अपनी ओरसे प्रतिज्ञापूर्वक सच्चा त्याग कर चुके थे, जैसे 'सब परिहरि करिहउँ सेवकाई' 'ए सब राम भगति के बाधक,' 'सब तजि भजनु करौं दिन राती' इत्यादि तथा पीछे भगवान् श्रीरामजीकी आज्ञासे ही प्रवृत्त हुए थे। यथा—

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

तथा इसी कारण यह चौपाई भी वहीं दी हुई है कि—

नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥

—तथापि भक्तभूषण श्रीसुग्रीवके मुखसे कदापि यह उत्तर नहीं निकलता कि 'रघुनाथजी! मैं तो सब प्रपञ्चों और विषयोंको त्याग चुका था, आपकी ही आज्ञासे पुनः उसमें प्रवृत्त हुआ था; इसमें मेरा क्या अपराध है।' बल्कि वे अपनेको ही सब अपराधोंका भाजन, विषयासक्त, कामी, अज्ञानी इत्यादि स्वीकार करते हैं। भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामजीने इस नम्रता, कार्पण्य और दैन्यभावको देखकर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें श्रीभरतजीका दरजा प्रदान किया। जिस भगवद्भक्तिके नाते श्रीसुग्रीवजीको यह महत्त्व प्राप्त हुआ, उस प्रपत्तिका वास्तवमें यही स्वरूप है कि—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥

उस शरणागतिका यही मूल-मन्त्र है कि अपनेमें कोई भी गुण अथवा योग्यता भूलकर भी न माने और उपाय, उपेय—सब कुछ अपने शरण्य भगवान्को ही जाने, सब प्रकारसे एकमात्र दयामय स्वामीपर ही दृढ़

भरोसा रक्खे । प्रपन्नजन अपनेको सदैव सदोष ही समझते हैं; उनकी दृष्टिमें यह जीव सदा ही दोषी है, प्रभुकी कृपाके बिना कदापि इसका उद्धार नहीं होता । श्रीसुग्रीवजी इस धारणामें आदर्श बन गये थे, भगवत्-कैङ्कर्य ही उनके विचारसे जगत्में सार वस्तु थी । उन्हें जब श्रीरघुनाथजीके ऐश्वर्यस्वरूपका पूर्ण बोध हुआ था, तभी उन्होंने यह सिद्धान्त निश्चित कर लिया था । इस बातकी पुष्टि उनके उपर्युक्त वाक्योंसे होती है । उन्होंने अपनी इसी दृढ़ धारणाको श्रीसीताजीकी खोजमें भेजे जानेवाले वानरदलके सामने भी अपने उपदेशके रूपमें प्रकट किया है—

सुनहु नील अंगद हनुमाना । जामवंत मतिधीर सुजाना ॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू । सीता सुधि पूँछेहु सब काहू ॥
मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु । रामचंद्र कर काजु सँवारेहु ॥
भानु पीठि सेइअ उर आगी । स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी ॥
तजि माया सेइअ परलोका । मिटहिं सकल भव संभव सोका ॥
देह धरे कर यह फलु भाई । भजिअ राम सब काम बिहाई ॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी । जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥

श्रीसुग्रीवजीके मतानुसार देह धारण करनेका यही फल है कि सब कामनाओंको त्याग कर श्रीरामभजन ही किया जाय । उनके मतसे वही सब प्रकारसे गुणज्ञ और वही बड़ा भाग्यशाली है जो श्रीरामजीके चरणोंका अनुरागी हो जाय । इसीलिये वे श्रीरामचन्द्रजीके कार्य (सेवा) को कर्म, वचन और मन—तीनोंसे तल्लीन होकर सँवारनेका उपदेश कर रहे हैं। उनकी शिक्षा है कि जहाँ जैसी नीतिकी आज्ञा है, वहाँ वैसे ही कार्य करनेसे कल्याण होता है । जैसे 'भानु पीठि सेइअ'—सूर्यका सेवन पीठकी ओरसे करना चाहिये, 'उर आगी'—अग्निका उर (छाती) की ओरसे सेवन करना चाहिये, 'स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी'—

स्वामीका सब प्रकारसे छलका त्याग करके सेवन करना चाहिये तथा 'तजि माया सेइअ परलोका'—मायाका सर्वथा त्याग करके परलोकका सेवन करना चाहिये; तभी 'मिटहिं सकल भव संभव सोका'—समस्त संसार-जन्य शोक मिट सकते हैं, ऐसी नीति है [संतोंको नीति सदा प्रिय होती है—'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं ।'] सुग्रीवजी भी भागवत हैं—

प्रीति राम सों, नीति पथ चलिय, राग रिस जीति ।
तुलसी संतन के मते इहै भगत की रीति ॥

ऊपर 'सेइअ' शब्द कितना रहस्यपूर्ण है। सूर्यको जो पीठसे सेवन करता है (पीठपर धूप लेता है), उस सेवककी आँखोंको हानि नहीं पहुँचती और शारीरिक स्वास्थ्यको लाभ पहुँचता है; सूर्यको उससे कोई हानि-लाभ नहीं । इसी प्रकार जो आगका सेवन छातीसे करता है, वह अनजानमें (पीठकी ओर) वस्त्रादिके जलनेसे निर्भय रहता है और उसीके शारीरिक स्वास्थ्यको लाभ पहुँचता है । अग्निको उससे कोई हानि-लाभ नहीं । जो मायाका सर्वथा त्याग करके परलोक (परमार्थ मोक्षादि) का सेवन करता है, उसे ही मायारहित होनेसे परलोकका लाभ होता है; परलोकको उसके सेवन करनेसे कोई हानि-लाभ नहीं । इसी प्रकार सुग्रीवका कहना है कि -सुभटो ! आपलोगोंकी सेवा श्रीरघुनाथजीके-जो साक्षात् सर्वेश्वर हैं,लाभ या हानिसे सम्बन्ध नहीं रखती; उन पूर्णकाम-का कार्य तो स्वयंसिद्ध है। उन्हें सब प्रकारसे निश्छल होकर सेवन करनेमें आपलोगोंका ही परम लाभ है, फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले। शरीर

धारण करनेको सफल कर लेनेका यह सुअवसर बड़े ही भाग्यसे प्राप्त हुआ है; अतः कृतार्थ हो जाना चाहिये। सूर्य, अग्नि तथा परलोककी ही भाँति श्रीरघुनाथजी भी हमारी-तुम्हारी सेवाके मुहताज नहीं हैं, हमें-तुम्हें ही अपनी गरज पूरी करनेका सुयोग है।'

इस प्रकार यथार्थ परमार्थमार्गका उपदेश देकर समस्त दलको श्रीरामभजनमें लगाकर उन्होंने सबका भवसागरसे उद्धार कर दिया; बल्कि यों कहें कि सुग्रीवजी अपनी वानरी सेनाके साथ संसारमात्रके उद्धारका उपाय बन गये हैं, जैसा कि लङ्काविजयके प्रसङ्गमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है। वे कहते हैं—वानरो! मुख्यतः तुम भागवतोंकी और गौणतः मेरी भी कीर्ति जो लोग प्रेमसे गावेंगे, वे अपार भवसागरको बिना प्रयास ही पार कर जायँगे। यथा—

मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं।
संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥

स्वयं तरनतारनरूप, परम भागवत, शरणागतिके आदर्श श्रीरामसखा महाराज सुग्रीवजीका महत्त्व कहाँतक कोई लिख सकता है; जिन्हें स्वयं श्रीपरमप्रभुने श्रीअयोध्यामें विमानपर लाकर पूजन किया और सम्मान प्रदान किया—'पूजे भवन अपने आनि।'

(विनय पत्रिका)

भक्तराज सुग्रीवकी जय !



अङ्गदके जीवनका रहस्य

जिस प्रकार श्रीसुग्रीवजीको श्रीरामदर्शनका फल प्राप्त हुआ—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

—उसी प्रकार जब वालीके सम्मुख उसकी घायल अवस्थामें—

स्याम गात सिर जटा बनाएँ। अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ॥

—इस रूपमें श्रीरामजी प्रकट हुए, तब वालीने अपना और अपने पुत्र अङ्गदका भी जन्म सफल कर लिया। यथा—

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥

'प्रभु चीन्हा' शब्द यहाँ भी व्यवहृत हुआ है। इससे सूचित होता है कि वालीको भी सुग्रीवकी भाँति यह पहचान मिल गयी थी कि ये चक्रवर्ती-कुमार नहीं, बल्कि साक्षात् परब्रह्मके अवतार हैं। शबरीके प्रसङ्गमें अपने लिये 'मम' शब्दका प्रयोग कर श्रीरघुनाथजीने भी यही लक्ष्य कराया था। 'मम दरसन फल परम अनूपा'—इसमें 'मम' से तात्पर्य यह है कि मैं वास्तवमें जो हूँ, उसका बोध प्राप्त करके जो मेरा दर्शन करता है—

चिदानंद मय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी ॥

——उसे अपने खास और सहज स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। और जिन्हें ईश्वरकी भावना नहीं होती, जो मुझे राजपुत्रादि जानते हैं, उन्हें निजत्व और सहजत्वकी प्राप्ति क्यों हो ? जैसे जनकपुरमें कुटिल राजाओंको नहीं हुई। उनका वर्णन इस प्रकार आता है——

डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा ॥

उन अज्ञोंको प्रभुका दर्शन होनेपर भी अज्ञान बना ही रहा। वे बकते ही रहे कि——

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ ॥
तोरें धनुषु चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहि कुअँरि को बरई ॥

इत्यादि।

रावणको बार-बार दूसरोंके द्वारा शिक्षा मिलनेपर भी कदापि बोध न हुआ और राजपुत्रके रूपमें ही दर्शन करते रहनेसे उसे कभी निज सहज स्वरूपका बोध न हो सका; न उसकी मोह-माया हटी, न दुराचार मिटा, न वह भजन स्वीकार कर सका और मृत्युपर्यन्त रामविमुख ही बना रह गया।

अतएव बालीके लिये 'प्रभु चीन्हा' शब्द देकर ऐश्वर्य (अवतार) रूपका दर्शन कर जन्म सफल कर लेना दिखाया गया है। चतुर बालीने अपने पुत्र अङ्गदको श्रीभगवान्‌के शरणागत बनाकर तथा श्रीचरणोंमें अपनी दृढ़ प्रीति जमाकर प्राण छोड़े थे। यथा——

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥
राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

दृढ़ प्रीतिसे तात्पर्य यह है कि पहले भी बालीको रामचरणमें प्रीति थी। यथा—

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥

—परन्तु वह विचलित होकर अपने पुत्र अङ्गदपर चली गयी थी। अतः उसे भी प्रपन्न कराकर उस पुत्रका कल्याणसाधन कर दिया। फिर अन्तमें श्रीचरणोंमें ही दृढ़ प्रीति लगायी—जिसमें एक रामचरणके सिवा स्त्री, पुत्र, देह, गेह आदि किसीका भी स्नेह स्मरण न रहे; और तब तनको त्याग दिया।

श्रीअङ्गदजीकी बाँह गहने अर्थात् शरणमें स्वीकार कर लेनेके कारण ही सुग्रीवको राजतिलक देते समय अङ्गदको युवराजका पद दिया गया था। चतुर बालीकी यह भी एक चातुरी थी कि राजगद्दी फिर भी अपने ही वंशजोंमें आ जाय। शरणागतके लोक-परलोक दोनोंका सुधार किया जाता है। यथा—

लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्र समाज।
राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज॥
अंगद सहित करौ तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू॥

श्रीअङ्गदजीकी सच्चे शरणागतोंकी ही भाँति भगवत्सेवामें श्रद्धा

थी, उसीके लिये उन्होंने आत्मसमर्पण किया था तथा उन्हें यह विश्वास था कि मेरी रक्षाके एकमात्र आधार मेरे शरण्य श्रीरघुनाथजी ही हैं। यथा—

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं॥
कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥
पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥
अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥
जामवंत अंगद दुख देखी। कही कथा उपदेस बिसेषी॥
तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥
हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥
निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

जिस तरह सुग्रीव और वालीको यह बोध हो चुका था कि श्रीराघव चक्रवर्ती राजकुमार ही नहीं वरं साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं, उसी तरह जाम्बवन्तजीने श्रीअङ्गदजीको भी दृढ़ताके साथ यह धारणा करा दी कि 'तात अङ्गदजी ! श्रीरामचन्द्रजीको मनुष्य मत जानियेगा; वे साक्षात् अज, अगुण, अजित ब्रह्म हैं। हम सब सेवक सदा सगुण ब्रह्मानुरागी हैं अतएव बड़भागी हैं। जब-जब निज इच्छानिर्मित तन धारण कर सुर, पृथ्वी, गौ और ब्राह्मणोंके हितार्थ प्रभु परमधामसे अवतरित होते हैं, तब-तब हम सब नित्य सगुण-उपासक सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य आदि सब प्रकारके मोक्षोंको त्यागकर भगवान्के संग रहते हैं।

अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥

इसके उत्तरमें अङ्गदने कहा—'जाम्बवंतजी ! जबतक श्रीरामजीकी सेवाका कार्य पूरा नहीं होता और न हमारे ही प्राण समर्पित कर दिये जाते हैं, तबतक हम अपनेको बड़भागी कैसे मान सकते हैं ? बड़भागी तो हम श्रीजटायुजीको ही मान सकते हैं, जिन्होंने रामकार्यके लिये ही तन त्यागकर परमधाम प्राप्त किया है । यथा—

कह अंगद बिचारि मन माहीं । धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ॥
राम काज कारन तनु त्यागी । हरि पुर गयउ परम बड़ भागी ॥

जिस समय सब वानर समुद्र लाँघनेके विषयमें हिम्मत हार बैठे और जाम्बवंतजीने श्रीहनुमान्‌जीको सचेत एवं उत्तेजित करनेके लिये पूर्वबलका स्मरण कराकर जोश दिलाया, उस समय भी श्रीमारुतिजीके बोलनेसे पहले ही श्रीअङ्गदजी स्वामिकार्यके लिये, अपनी सामर्थ्यमें सन्देह होनेपर भी समुद्र पार जानेके लिये तत्पर हो गये थे; परन्तु फिर जाम्बवंतजीके रोकनेपर और श्रीमारुतिजीके तैयार हो जानेपर रुकनेके लिये विवश हो गये । यथा —

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा । जियँ संसय कछु फिरती बारा ॥
जामवंत कह तुम्ह सब लायक । पठइअ किमि सबही कर नायक ॥

स्वामी श्रीरामजीके कार्यकी पूर्ति होनेपर, श्रीसीतामाताकी सुधि प्राप्त कर लेनेपर श्रीअङ्गदजीको कितना अपार हर्ष हुआ—इसका परिचय भी राजबाग मधुवनके फल लुटवानेसे स्पष्ट ही मिलता है, जो राजाज्ञाके बिना असम्भव बात थी । यथा—

तब मधुबन भीतर सब आए । अंगद संमत मधु फल खाए ॥
रखवारे जब बरजन लागे । मुष्टिप्रहार हनत सब भागे ॥
जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज ।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज ॥

जिस समय रावणके दरबारमें जानेके लिये श्रीमुखसे आज्ञा हुई—

बालितनय बुधि बल गुन धामा । लंका जाहु तात मम कामा ॥

—उस समय भी श्रीअङ्गदजीके वाक्योंसे उनकी इस धारणाका स्पष्ट परिचय मिलता है कि वे श्रीरघुनाथजीको साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही जानते थे; तथा उनके सुबोध होनेके प्रमाण तो 'बुधि बल गुन धामा' एवं 'परम चतुर मैं जानत अहऊँ' ये श्रीमुख-वाक्य ही दे रहे हैं । अङ्गदजी श्रीचरणोंमें इस प्रकार नम्र निवेदन करते हुए जाते हैं—

प्रभु अग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ ।
सोइ गुन सागर ईस राम कृपा जा पर करहु ॥
स्वयंसिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियउ ।
अस बिचारि जुबराज तन पुलकित हरषित हियउ ॥

बंदि चरन उर धरि प्रभुताई । अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई ॥
प्रभु प्रताप उर सहज असंका । रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥

'सोइ गुन सागर ईस राम ! कृपा जा पर करहु' से वचन, 'स्वयंसिद्ध सब काज नाथ ! मोहि आदरु दियउ ।' 'अस बिचारि' से मन तथा 'तन पुलकित' से तन—अर्थात् कर्म, वचन और मन तीनोंसे वे श्रीरामजीमें लग गये । 'हरषित हियउ' से शुभ शकुन (होइ काज

मन हरष बिसेषी) और कृतज्ञताका भाव सूचित होता है; 'उर धरि प्रभुताई', 'प्रभु प्रताप उर सहज असंका' से ऐश्वर्यबोध होनेका प्रमाण मिलता है; तथा 'बंदि चरन' कहनेसे श्रीचरणको ही आधार माननेकी सूचना मिलती है, जो सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओं तथा अमङ्गलोंसे रक्षा करनेवाला है ।

रावणसे बातचीत करते समय—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें । श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाकें ॥

—कहनेसे अपने हृदयस्थ इष्टका सदा ध्यान तथा—

सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई । चाहत जासु चरन सेवकाई ॥

—एवं 'राम मनुज कस रे सठ बंगा' इत्यादि वचनोंसे सतत ऐश्वर्यका स्मरण सूचित होता है । रावणसे वाद-विवादमें अमर्षके समयमें भी श्रीअङ्गदजीका कार्पण्य (शरणागतका मुख्य गुण)—नीचानुसन्धान दूर नहीं हुआ । उन्होंने अपनेको दासानुदास ही बतलाया—

तैं निसिचर पति गर्ब बहूता । मैं रघुपति सेवक कर दूता ॥

श्रीरघुनाथजीकी निन्दा सुनकर जब अङ्गदको क्रोध हो आता है तो वे पृथ्वीपर अपने भुजदण्ड पटकते हैं, जिससे पृथ्वी काँप उठती है और रावण सभासमेत मुँहके बल गिर पड़ता है । उसके गिरे हुए चार मुकुटोंको अङ्गदजी श्रीरामदलकी ओर फेंककर अपने बाहुबलका प्रत्यक्ष परिचय देते हैं । यथा—

जब तेहिं कीन्हि राम कै निंदा । क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा ॥
कटकटान कपिकुंजर भारी । दुहु भुजदंड तमकि महि मारी ॥

डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे ॥
गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर ॥
कछु तेहिं लै निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभु पास पबारे ॥

जब रावण अङ्गदको लबार, झूठा कहता है तब श्रीरघुनाथजी-के प्रतापका स्मरण करके वे मध्य-सभामें अपना पग रोप देते हैं और प्रण ठानते हैं कि 'यदि तुमलोगोंमेंसे कोई भी मेरा पैर हटा देगा तो मैं श्रीसीताजीको हार जाऊँगा और श्रीरामजी लौट जायँगे।' यथा—

समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माझ पन करि पद रोपा ॥
जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी ॥

जिस श्रीरामप्रतापको स्मरण करके प्रण ठाना गया था, वह प्रताप क्या है? वह था—

उमा राम कीं भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा ॥
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई ॥

अङ्गदजीको यह पूरा विश्वास था कि सरकारी प्रतापसे पग हटेगा ही नहीं। अतः चाहे जो शर्त लगा देनेमें भी क्या भय है? शर्त तो तब पूरी करनी होगी, जब पहले पग हट जाय। इस विश्वासकी महिमा श्रीगोस्वामिपादके दोहावली-ग्रन्थके इस दोहेसे स्पष्ट होती है—

तासु सभा रोप्यो चरन, जेहि तोल्यौ कैलास।
स्वामी की महिमा कहौं, सेवक को बिस्वास ॥

श्रीअङ्गदजीके इस ध्रुव विश्वास और श्रीरामप्रतापकी महिमाका खयाल न कर लोग अङ्गदकी प्रतिज्ञामें शङ्का करके

'फिरहिं रामु सीता मैं हारी' का भाँति-भातिसे प्रसङ्गविरुद्ध अर्थ किया करते हैं। यदि श्रीसीताजीके हारनेकी बाजी न लगायी गयी होती तो रावणादि चरण उठानेमें प्रवृत्त ही क्यों होते और उन्हें श्रीराम-प्रतापका ऐश्वर्य कैसे माल्रूम कराया जाता? शर्तमें श्रीसीताजीके हारनेकी बात सुनते ही रावणने तत्काल आज्ञा दी कि 'पद गहि धरनि पछारहु कीसा' और आज्ञा पाते ही इन्द्रजीत आदि करोड़ों बली योद्धा जुट पड़े और टारते-टारते हार गये। उस चरणको पृथ्वीदेवी ही नहीं छोड़ती थीं। क्योंकि उन्हें भी अवसर मिल गया था। उन्हींकी पुकारपर तो अवतार हुआ था, वे कैसे चरण छोड़ देतीं? भूमि ही स्वयं पगमें लिपट गयी थीं। यथा—

भूमि न छाँड़त कपि चरन देखत रिपु मद भाग।
कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग॥
कपि बल देखि सकल हियँ हारे। उठा आपु कपि कें परचारे॥
गहत चरन कह बालिकुमारा। मम पद गहें न तोर उबारा॥
गहसि न राम चरन सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥
भयउ तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई॥
जगदातमा प्रान पति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा॥

जब अङ्गदने प्रचारा, तब स्वयं रावण भी उठा। परन्तु ज्यों ही वह पग पकड़कर उठाने चला, त्यों ही श्रीअङ्गदजीने उसके परम हितकी बात यह कही कि 'मेरे चरण पकड़नेसे तेरा उद्धार नहीं होगा, तू श्रीरामजीके चरणोंकी शरण क्यों नहीं लेता? ऐसी चुभती हुई बात सुनकर अङ्गदके चरण छूनेमें उसे लज्जा माल्रूम हुई और वह लौट पड़ा। वह तेजहत होकर ऐसा फीका पड़ गया, जैसे

दो पहर दिनके समय कभी-कभी श्रीहत चाँद [फीकी पीतलकी गंदी थालीकी भाँति] दिखायी देता है । श्रीरामजी विश्वात्मा हैं, उनसे विमुख होकर कोई कैसे विश्राम पा सकता है ? तत्पश्चात्—

रिपु बल धरषि हरषि कपि बालि तनय बल पुंज ।
पुलक सरीर नयन जल गहे राम पद कंज ॥

श्रीअङ्गदजी इस प्रकार प्रतिपक्षियोंको परास्त करके, पुलकाञ्चित-शरीर तथा प्रेमाश्रुपूर्ण नयनोंके साथ श्रीरामजीके चरण-कमलोंमें जा पड़े । तब अति आदरसे समीप बैठाकर और समाचारोंके साथ पहले श्रीरघुनाथजीने यही पूछा कि 'राक्षसेन्द्र महाबली रावणके चार मुकुट जो यहाँ फेंके गये हैं, तात ! वे किस प्रकारसे तुमको मिल गये ?' इसका कैसा अनुपम उत्तर श्रीअङ्गदजी प्रभुसे निवेदन कर रहे हैं ! इससे भी उनकी बुद्धि और निष्ठाकी महिमा प्रकाशित होती है । वे कहते हैं—

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी । मुकुट न होहिं भूप गुन चारी ॥
साम दान अरु दंड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥
नीति धर्म के चरन सुहाए । अस जियँ जानि नाथ पहिं आए ॥

धर्म हीन प्रभु पद बिमुख काल बिबस दससीस ।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस ॥
परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे रामु उदार ।
समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालिकुमार ॥

श्रीअङ्गदजी यह प्रार्थना कर रहे हैं कि 'मैं दीन, हीन, तुच्छ-उन्हें कैसे प्राप्त कर भेज सकता था ? वे चारों मुकुट नहीं बल्कि साम, दान, दण्ड और भेद—ये चार भूपगुण हैं, जो राजाओंके हृदयमें

वास करते हैं; श्रीचरणोंमें नीति और धर्मकी मर्यादा देखकर वे स्वयं चले आये हैं। श्रीकोसलाधीश सरकार! रावणको धर्महीन, प्रभु-पदसे विमुख तथा कालविवश जानकर उसे त्याग कर उन चारों भूप-गुणोंने श्रीचरणोंकी शरण ली है।' इस प्रकार श्रीअङ्गदजीकी मर्मयुक्त गम्भीर विनय सुनकर उदार श्रीरामजी हँस पड़े और तत्पश्चात् लङ्काका सारा हाल अङ्गदने विस्तारसे निवेदन किया।

लङ्का-युद्धमें जैसी सेवा अङ्गद और हनुमान्‌ने की वह पाठकोंसे छिपी नहीं है। श्रीअवधधाममें रामराज्याभिषेकके पश्चात् भक्त वानरों-की विदाईके समय तो श्रीअङ्गदजीकी भक्तिका भंडार ही खुल पड़ा था। पहले तो अङ्गदकी अगाध भक्तिको जानकर श्रीरघुनाथजी प्रेमवश उनसे विदाईके लिये कह ही नहीं सके। यथा—

अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला॥

'नहिं डोला'से सूचित होता है कि अङ्गदका देहानुसन्धान ही जाता रहा था, चित्रवत् अडोल बैठे ही रह गये थे; विदाईकी बात जानते ही उनकी यह दशा हो गयी थी। अतः उस दशाको देखकर ही श्रीरामजीने उन्हें नहीं छेड़ा। जब अङ्गदको कुछ चेत हुआ, तब उठकर वे प्रार्थना करने लगे—

तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।
अति बिनीत बोलेउ बचन मनहुँ प्रेम रस बोरि॥
सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो। दीन दयाकर आरतबंधो॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥
असरन सरन बिरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता । जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता ॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा । प्रभु तजि भवन काज मम काहा ॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना । राखहु सरन नाथ जन दीना ॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ । पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही । अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ॥

श्रीअङ्गदजीके नेत्रोंमें आँसू भर रहे हैं; वे दोनों हाथ जोड़े, अत्यन्त नम्रतापूर्वक सिर नवाये, प्रेमसे सने वचनोंसे प्रार्थना कर रहे हैं—'हे सर्वज्ञ ! हे कृपा और सुखके समुद्र ! हे दीनोंपर दया करनेवाले ! हे आरतजनबन्धु ! मेरी पुकार सुन ली जाय । 'नाथ ! मेरे पिता बालिने मरते समय मुझ दीनको आपकी गोदीमें डाल दिया था । अशरणशरण ! अनाथोंके नाथ ! अपनी विरदावलीकी सँभाल करनेवाले ! भक्तहितकारी प्रभु ! मेरे तो गुरु, पिता, माता, स्वामी—सब कुछ आप ही हैं । आपके चरणकमलोंको छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ ? पुरुषोत्तम ! आप ही विचार करके बतलावें कि श्रीप्रभुको छोड़कर घर जानेसे मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं आपका बुद्धि-बलहीन, अज्ञ बालक हूँ; अपना दीन जन जानकर चरणोंकी शरणमें रख लेनेकी दया करें । सरकारी धामकी छोटी-से-छोटी सेवा मैं करूँगा और श्रीप्रभुके चरणकमलोंके दर्शन करके भवसागरसे पार हो जाऊँगा ।' ऐसा कहते हुए वे चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'नाथ ! इस शरणागतको अब घर (किष्किन्धा) जानेकी आज्ञा न दी जाय ।'

जिस तरह श्रीसुग्रीवजीने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'सब परिहरि करिहउँ सेवकाई', ठीक उसी तरह श्रीअङ्गदजीने भी सब कुछ त्याग कर सेवकाई करनेकी प्रार्थना निष्कपटभावसे की । बालीने तो

उन्हें पहले ही श्रीभगवान्‌की शरणमें दे दिया था; परन्तु उन्होंने भी स्वयं प्रपत्तिका निश्चय किया था, इसका ज्वलन्त प्रमाण उपर्युक्त विनतीमें मिलता है।

अंगद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुना सींव।
प्रभु उठाइ उर लायउ सजल नयन राजीव॥
निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥

अंगद हृदयँ प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव राम कीं ओरा॥
बार बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥
राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥
प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी। चलेउ हृदय पद पंकज राखी॥

× × × ×

पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥
अस कहि कपि सब चले तुरंता। अंगद कहइ सुनहु हनुमंता॥

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥
अस कहि चलेउ बालिसुत फिरि आयउ हनुमंत।
तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भए भगवंत॥
कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि॥

अङ्गदजीके विनीत वचन सुनकर करुणाके सींव श्रीरघुनाथजी

भी सजलनयन हो गये अर्थात् उनके हृदयमें भी वात्सल्यस्नेह (करुण-रस) भर गया, जिससे नेत्रकमलोंमें करुणाश्रु आ गये और अपनी आजानु भुजाओंसे उठाकर अङ्गदको हृदयसे लगा लिया । फिर उन्होंने स्वयं अपने गलेकी माला, वस्त्र तथा मणि-भूषणादि प्रसादरूपमें अङ्गदको पहनाकर वहुत प्रकारसे समझा-बुझाकर विदा किया । अङ्गदके हृदयमें प्रेमकी कोई सीमा नहीं थी, इस कारण वार-वार पीछे मुड़कर वे श्रीरामजीकी ओर देखते जा रहे थे । और इस आशासे वार-वार प्रणाम करते जाते थे कि अव भी श्रीरघुनाथजी दया करके मुझे रुक जानेकी आज्ञा दे दें । श्रीरामजीकी प्रेमपूर्ण चितवन, उनकी मधुर वोली, उनकी सरल चाल तथा हँस-हँसकर दासोंसे प्रेमपूर्वक मिलनेका स्मरण कर-करके सोचते जाते थे । श्री-प्रभुका सव प्रकारसे विदा करनेका ही रुख देखकर, उनके चरणकमलोंको हृदयमें रखकर अर्थात् वाहरी तनसे वियोग अनिवार्य देखकर मनसे प्रभु-चरणोंका संयोग करके अङ्गदजी श्रीरामजीसे विदा हुए । कुछ दूर पहुँचानेके वाद जव श्रीहनुमान्‌जी कपिराज श्रीसुग्रीवकी आज्ञा लेकर लौटने लगे, तव सव कपियोंने उनसे कहा—'पवनकुमार ! आप पुण्यपुञ्ज हैं; आपको सदा श्रीकृपागार भगवान् रामकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।' श्रीअङ्गदजीने कहा—'हनुमंत ! श्रीप्रभुको मेरा दण्डवत् निवेदन करना और वारंवार श्रीरघुनायकको मेरी याद दिलाते रहना ।' ऐसी प्रार्थना करके अङ्गद विदा हुए और श्रीहनुमान्‌जीने लौटकर उनके प्रेमको श्रीरघुनाथजीसे निवेदन किया । भगवान् रामजी भी वह प्रेम सुनकर मग्न हो गये । श्रीरामका चित्त भक्तविरोधियोंके लिये वज्रसे भी

कठोर और निज भक्तोंके लिये पुष्पसे भी कोमल है। गरुड़जी! ऐसे उभय अवधिवाले चित्तको कोई कैसे समझ सकता है?

श्रीसुग्रीवजीको 'मेली कंठ सुमन कै माला' और श्रीअङ्गदजीको—

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।

—इन बातोंसे दोनों शरणागतोंकी एकता सूचित होती है। क्योंकि जब राजसी वस्त्राभूषणका त्याग था, तब जो पुष्पमाला श्रीविग्रहके गलेमें पड़ी थी, उसे ही उन्होंने पहना दिया; तथा जब राजगद्दी स्वीकृत हुई थी, उस समय जो अनुपम, अमूल्य मणिमालादि राजसी वस्त्राभूषण थे, उन्हें भी प्रदान कर दिया गया। अन्तिम दोहेमें 'कुलिसहु चाहि कठोर अति' का सम्बन्ध भक्तराज प्रेमावधि श्रीअङ्गदजीसे नहीं है बल्कि उसके द्वारा श्रीसरकारके चित्तकी दोनों पक्षोंमें असीमताका ऐश्वर्य प्रकट किया गया है। उसमें यह स्पष्ट किया गया है कि भक्तद्रोहियोंके लिये भक्तवत्सल प्रभु इतने कठोर हो जाते हैं कि अङ्गदके पिता बालिके लिये तो—

ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान।

—की प्रतिज्ञा पूरी की और उसी बालिके बेटे अङ्गदपर निज भक्तिके नाते प्रेम बरसा दिया, उसके प्रेममें विभोर होकर बेसुध भी हो गये। ऐसे भक्तवत्सल सरकारकी जय हो!

उपर्युक्त दोहेका अर्थ यदि यह किया जाय कि भगवान् भक्तोंके प्रति कठोर होते हैं तो समस्त शास्त्रके निरर्थक होनेका दोष आता है; और दूसरे भगवान् अपने भक्तके प्रति कभी वज्रसे भी कठोर हो जायँ, यह असम्भव है। प्रभुका अचल विरद है—

जेहि जन पर ममता अरु छोहू। तेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥

यदि नारदकी भाँति कुपथपर जानेपर कठोरता या माताकी भाँति व्रण (फोड़ा) चिरानेकी कठोरताका अर्थ यहाँ करें तो यह भी घटित नहीं होता। क्योंकि श्रीअङ्गदजीकी प्रार्थना ध्येय अर्थात् पथ्यरूपकी थी; वह हेय, कुपथ्य और सांसारिक कामनाओंसे सम्बन्ध नहीं रखती थी। उसपर शरण्य प्रभुके कठोर होनेका अर्थ कैसे उचित हो सकता है? जब 'अङ्गद हृदयँ प्रेम नहिं थोरा' था, उनका 'राम पुनीत प्रेम अनुगामी' होना प्रसिद्ध है, तथा—

अंगद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुना सींव।
प्रभु उठाइ उर लायउ सजल नयन राजीव॥

—तब कठोरताके लिये स्थान कहाँ रहा? क्या वज्रके समान कठोर होनेपर ये लक्षण प्रकट होते हैं? 'करुना सींव' विशेषण करुणाका सूचक है या कठोरताका? अङ्गदको उठाकर उरसे चिपका लेना क्या बाहरी दिखावा माना जायगा? प्रभु भीतरसे वज्रके समान कठोर हो रहे थे और बाहरसे झूठ-मूठ ही छातीसे लगाये हुए थे—भला, यह अनर्थकी बात कैसे हो सकती है? 'सजल नयन राजीव'—भगवान्‌के कमलसदृश नेत्रोंमें जो अश्रु भर आये थे, इसका कारण क्या चित्तकी कठोरता थी? किसीके प्रति चित्त कठोर होनेपर क्या उसके लिये किसीके नेत्रोंमें कभी पानी भर सकता है? 'निज उर माल बसन मनि' बालितनयको कठोरचित्त होकर पहनाये गये अथवा दयाके कारण? बहुत प्रकारसे समझाना और सन्तुष्ट करके बिदा करना कठोरचित्त होना सूचित करता है अथवा करुणापूर्ण दयार्द्र होना? प्रेमी पाठक इन बातोंपर विचार करें।

श्रीअङ्गदजीकी प्रार्थना थी कि 'मोहि जनि तजहु भगत हितकारी'। इसपर उन्हें भली प्रकार समझाया गया कि 'मैं अपने शरणागतको कभी नहीं छोड़ता; तुम किष्किन्धामें रहो अथवा कहीं भी रहो, कदापि तुम मुझसे त्यागे हुए नहीं हो, सदा मेरे ही हो। मेरे द्वारा मेरा प्रपन्न, जहाँ कहीं रहे, सदा रक्षित रहता है। तुम मेरी आज्ञा मानकर जाओ और मेरे दिये हुए युवराजपदको चरितार्थ करो। यह आज्ञापालन ही मेरी परम सेवा है। तुम्हारे पिता वालिने भी अन्तमें मेरी शरण ली थी और तुमको भी शरणमें रख दिया था। मेरी आज्ञा माननेसे अर्थात् युवराजपद स्वीकार करते हुए मेरा भजन करनेसे उस प्रपन्न वालिका भी अभीष्ट सिद्ध हो जायगा।' इस तरह समझा-बुझाकर अङ्गदको अपने अङ्गकी माला, वस्त्र, आभूषण इत्यादि प्रसादरूपमें देकर अति स्नेह और सम्मानके साथ विदा करना कठोरताकी सीमा कही जायगी या कोमलताकी? जो कुछ हो, उसे तो भगवान् और उनके भक्त ही जानते हैं। इस बुद्धिहीन दीनको किसी प्रकार साहस न हो सका कि यह भगवान्‌के, अपने प्रेमावधि भक्तपर, उसकी परमोचित विनती सुनकर, कठोरताकी अवधि बन जानेका अर्थ सिद्ध करे। मानसप्रेमी मेरी इस ढिठाईको क्षमा करेंगे।

'सियावर रामचन्द्रकी जय!'



निषादराज और नाविक केवटका प्रेम-रहस्य

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अवधकाण्डमें वनयात्राके समय श्रीरघुनाथजीके शृङ्गवेरपुर पहुँचनेपर निषादराज गुह और गङ्गाजीके घाटका नाव खेनेवाले घटवार केवटके श्रीरामप्रेमका प्रसंग अद्भुत और अतुलनीय है। इनमें जो परस्पर गुप्त रहस्य है, वह भी विलक्षण ही है। सबसे प्रथम तो इस बातका सप्रमाण निर्णय आवश्यक है कि निषादराज और केवट एक ही व्यक्ति थे या दो ? क्योंकि कतिपय कथावाचकों और टीकाकारोंकी सम्मतिमें वे दोनों एक ही व्यक्ति थे, तथा अधिकतर लोग उन्हें दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। अतः इसका निर्णय करनेके लिये विचारशील मानसप्रेमियोंकी सन्निधिमें ग्रन्थके मूल वचनोंका ही प्रमाण समर्पण किया जा रहा है—

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥

× × × ×

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥
सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥
नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भाग भाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिअ जनु सबु लोगु सिहाऊ॥
कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥

बरष चारिदस बासु बन मुनि ब्रत बेपु अहारु।
ग्राम बासु नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखु भारु॥

× × × ×

तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा॥
पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए॥
गुहँ सँवारि साँथरी डसाई। कुस किसलयमय मृदुल सुहाई॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी॥
सिय सुमंत्र भ्राता सहित कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ॥

श्रीरघुनाथजी और श्रीलखनलाल श्रीसीताजी तथा मन्त्री सुमन्तजीके समेत शृङ्गवेरपुर पहुँच गये। यह समाचार जब केवटके राजा गुह निषादको मिला, तब वे अत्यन्त निहाल हो गये और शीघ्र ही थालमें फल-मूलादिकी भेंट सजवाकर अपने प्रिय बन्धुवर्गसहित स्वागत करनेके लिये आ पहुँचे। तदनन्तर उन्होंने श्रीचरणोंके समीप भेंटके थालको सप्रेम समर्पण करके साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अत्यधिक अनुरागसे श्रीमङ्गलविग्रहके दर्शनानन्दमें निमग्न हो गये। श्रीराघवने, जो स्वाभाविक स्नेहसे विवश हो जाते हैं, उनको अति निकट बैठाकर कुशल-क्षेम पूछा। निषादराजने प्रार्थना की कि 'यह तुच्छ जन श्रीचरणोंका दर्शन-लाभ करके भाग्यशाली हो गया! अब कुशल-ही-कुशल है। हे नाथ! हे देव! मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति, सम्पूर्ण राज्य (धरनि) और घर-बार (राजमहल) आपहीका है। मैं तो अपने समस्त परिवारसमेत आपका तुच्छ-से-तुच्छ नीच सेवक हूँ। कृपा करके सेवकके पुरमें पधारा जाय और इस दीन-हीन जनको स्वीकार कर—अपनाकर कृतार्थ किया जाय; ताकि संसार इस दासका भाग्य देखकर सिहाने!' श्रीरामजीने निषादराजकी इस प्रार्थनाको सुनकर उत्तर दिया कि 'सखा! आप तो सुजान—धर्मज्ञ हैं।

मेरे लिये श्रीपिताजीकी ऐसी आज्ञा है कि मैं मुनियोंका-सा आहार, व्रत और वेष ग्रहण करके चौदह वर्षतक वनमें ही वास करूँ अतएव मेरे लिये ग्राममें वास करना उचित नहीं है।'

यहाँपर उपर्युक्त दोहेमें कविकुलभूषण, संतशिरोमणि श्रीगोस्वामिपादके गाम्भीर्यप्रदर्शनका भी थोड़ा-सा आनन्द मानस-प्रेमी जन ले लें, तब निषादराजका प्रसङ्ग आगे पढ़ें। 'बरष चारि दस बासु बन' में चौदहके दो भाग किये गये हैं। 'चारि' छोटा भाग है और 'दस' बड़ा भाग है। यहाँ निषादराजसे कथन करते समय पहले छोटे 'चारि' को कहकर पीछे बड़े भाग 'दस' का कथन हुआ। इससे यह सूचित होता है कि वनवासका अभी थोड़ा-सा ही समय व्यतीत हुआ है, शेष बहुत है। क्योंकि यही बात जब किष्किन्धामें सुग्रीवकी प्रार्थनापर कही गयी है, तो वहाँ बड़े भाग 'दस' को पहले कहकर छोटे भाग 'चारि' का पीछे कथन हुआ है—

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा॥

अर्थात् अब अधिकांश समय बीत गया, थोड़ा ही बाकी है। वास्तवमें उस समयतक बारह-तेरह वर्षके लगभग व्यतीत हो चुके थे। पुनः यही बात जब लंकाविजय हो जानेके पीछे विभीषणकी प्रार्थनापर कही गयी है, तो वहाँ अवधि समाप्त हो जानेके कारण किसी भी भागका आगे या पीछे कथन नहीं है और न चौदहकी चर्चा ही चलायी गयी है—

पिता बचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ॥

कैसा काव्यकौशल है कि अवधिके विभाजित शब्दोंकी योजना-

से समयके निर्णयका दिग्दर्शन स्वतः हो जाता है। उसके लिये तिथिपत्र आदि क्षेपकोंको पढ़नेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसके अलावा निषादराजजीसे 'ग्राम बासु नहिं उचित', सुग्रीवजीसे 'पुर न जाउँ' एवं विभीषणजीसे 'नगर न जाउँ' कहकर यह दरसाया गया है कि 'ग्राम', 'पुर'और 'नगर'—ये तीन ही बस्तीके विभाग हैं, (श्रोता त्रिविध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल) और श्रीरामजीने तीनोंमें न जाकर अपना नेम पूर्णरूपसे निभाया। 'पुर' (पुरवा) छोटी बस्तीको कहते हैं, 'ग्राम' (गाँव) मध्यम श्रेणीकी बस्तीको कहा जाता है और 'नगर' (शहर) भारी और बड़ी बस्तीकी संज्ञा है। अतः तीनों प्रसङ्गोंमें बस्तीके तीन विभाग देकर यह लक्ष्य कराया गया है कि श्रीरघुनाथजी तीनोंमेंसे किसीमें भी नहीं गये तथा चौदह वर्षका जीवन वनमें ही व्यतीत किया। यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि 'ऋषि-आश्रम जो वनमें थे, वहाँ तो पधारते थे न ?' तो इसका समाधान यह है कि त्रेतायुगमें वनवासियोंके आश्रमोंकी गिनती 'पुर', 'ग्राम' और 'नगर' तीनोंमें नहीं थी। क्योंकि त्रेतायुगमें वन राजाके राज्यमें आयरूप नहीं समझा जाता था। ऋषिलोग उनमें स्वच्छन्दरूपसे निवास करते हुए भजन करते थे—'उदासीन तापस बन रहहीं'। यदि वन भी देश (इलाका) माना गया होता तो 'चक्रवर्ती-राज्य त्याग करके चौदह वर्ष वनमें वास करें' ऐसा वर ही न सिद्ध हो पाता। अतएव ऋषि-मुनियोंकी कुटियाँ पुर, ग्राम, नगर—किसीकी भी गिनतीमें नहीं थीं।

अस्तु, निषादराज श्रीरघुनाथजीका ऐसा कठोर नियम सुनकर

बड़े दुखी हुए और विवश होकर उन्होंने अपने हृदयमें विचार किया कि 'बस्तीके बाहर अशोकका एक बड़ा मनोहर वृक्ष है, इसीके नीचे प्रभुके निवासका प्रबन्ध करूँ।' श्रीसरकारने भी उसे पसंद कर लिया। अतः जबतक श्रीरामजी सन्ध्यावन्दन करनेके लिये गये, तबतक निषादपतिने कुश और पत्तोंकी अत्यन्त कोमल और सुन्दर साथरी बनाकर बिछा रक्खी और उस दिव्य आसनके पास दोनोंमें शुद्ध तथा मीठे-मीठे कन्द और फलोंको भर-भरकर सजा दिया। श्रीरघुनाथजीने सीता, लक्ष्मण और मन्त्री सुमंतसहित कन्द, मूल और फलोंका भोजन करके शयन किया। लखनलालजी पैर दबाने लगे।

उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥
कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥
गुहँ बोलाइ पाहरू प्रतीती। ठावँ ठावँ राखे अति प्रीती॥
आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई॥
सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेम बस हृदयँ बिषादू॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥

× × × ×

सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥
कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥

जब श्रीरामजीको निद्रा आ गयी, तब श्रीलक्ष्मणजी सुमंतजीको भी शयन कराकर कुछ दूरपर वीरासनमें विराज गये और हाथमें धनुष-बाण लेकर पहरा देने लगे। श्रीगुहराजने भी अपने विश्वासी पहरेदारोंको ठौर-ठौर पहरेपर लगा दिया और स्वयं कमरमें तरकस

बाँध, धनुषपर बाण चढ़ाकर श्रीलखनलालजीके समीप जा बैठे। श्रीसीतारामजीको पृथ्वीके ऊपर पड़े हुए कुशकी साथरीपर सोते देखकर निषादराजको श्रीअवधके महलोंकी याद आ गयी। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो गया और नेत्रोंसे जल बहने लगा। वे गद्गद वाणीसे श्रीलक्ष्मणजीसे बोले—'अयोध्याके जिस राजमहलके सुख-साजकी तुलना इन्द्रसदनसे भी नहीं की जा सकती, वहाँकि मनिमयरचित 'चौबारों' में सुन्दर और दुग्धफेनसे भी कोमल बिछौनेवाले पलँगोंपर नित्य शयन करनेवाले आज पृथ्वीपर पड़े कुशकी चटाईपर सो रहे हैं। भला, ये कोमल सुकुमार-शरीर क्या वनके योग्य थे? जो लोग कहते हैं कि प्रारब्ध बड़ा प्रबल होता है, वे सत्य ही कहते हैं! हाय, कैकेयीके कठिन कुटिलपनने इस युगल मंगलविग्रहोंको सुखकी ऐसी अवस्थामें ऐसा कठोर दुःख दे दिया! इस प्रकार कहते-कहते जब निषादराजको भारी विषाद हो गया, तो श्रीलखनलालजी उन्हें प्रबोध देते हुए बोले—

बोले लखन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥
अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल ॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू ॥

श्रीलखनलालजीके वचन कोमल तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्तिरससे सने हुए थे। वे बोले—'सखा! कोई किसीको सुख-दुःख देनेवाला नहीं है। सब जीव अपने पूर्वकृत कर्मका ही फल भोगते हैं। संसारमें किसीका संयोग-वियोग होना, अच्छे-बुरे भोगोंका भोगना एवं हित, अनहित, मध्यस्थ (जिससे वैर या प्रीति कुछ भी न हो) आदि नातोंका मानना—ये सब भ्रममात्र हैं, भ्रमके फंदे हैं। जन्म-मरण आदि जहाँतक जगत्‌का पसारा (फैलाव) है, सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म, काल, धरणी, धाम, धन, गाँव, कुटुम्ब, स्वर्ग, नरक इत्यादि जहाँतक जगत्‌का व्यवहार है और जो कुछ भी देखने, सुनने या मनन करनेमें आता है, वह सब मोहमूलक है, परमार्थमें कुछ भी नहीं। अर्थात् इन सबकी स्फूर्ति मोहसे ही हो रही है, इनमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नमें कोई भिक्षुक देखता है कि 'मैं राजा हो गया हूँ' और कोई राजा देखता है कि 'मैं दरिद्र हो गया हूँ', परन्तु जागनेपर न उस भिक्षुकको राजा बननेका लाभ होता है और न नृपको ही दरिद्र हो जानेकी

हानि होती है, उसी प्रकार जीवको इस जगत्का प्रपञ्च स्वप्नवत् भासता है । अतः सखा ! ऐसा विचारकर किसीपर रोष न कीजिये और व्यर्थ ही किसीको दोषी भी न बनाइये । क्योंकि सब जीव मोहरात्रिमें सो रहे हैं और हानि-लाभ, सुख-दुःखादि उपर्युक्त बातोंका अनेक प्रकारसे स्वप्न देख रहे हैं । इस संसाररात्रिमें जगत्-प्रपञ्चसे सर्वथा अलग रहकर परमार्थका साधन करनेवाले केवल योगीजन ही जागते हैं । इस संसाररूपी रात्रिमें उसी जीवको जगा हुआ समझना चाहिये, जिसको सम्पूर्ण विषयोंसे वैराग्य हो गया है; [क्योंकि विषयसे विरक्त जीवोंको] जब विवेक पैदा होता है और उसके द्वारा मोहकी निवृत्ति हो जाती है, तभी श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनुराग होता है । सखा ! परम परमार्थ यही है कि मन, वचन और कर्मसे श्रीरामजीके चरणोंमें स्नेह हो जाय । श्रीरघुनाथजी साक्षात् ब्रह्म, परमार्थके स्वरूप हैं । ये ही सकल विकारोंसे रहित देश, काल, वस्तु आदि भेदोंसे परे और अनादि, अनुपम, व्यापक विभु हैं । इन्हींको वेद 'नेति नेति' कहकर सदा निरूपण करता है । यही कृपालु भगवान् भक्तों, ब्राह्मणों, देवताओं और गौओंका कल्याण करने एवं पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मनुज-अवतार धारण कर यह सब चरित्र कर रहे हैं, जिसको सुननेमात्रसे संसार-रूपी जालका नाश हो जाता है । [अतः] सखा ! ऐसा निश्चय करके मोह छोड़िये और श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम-भक्ति कीजिये ।'*

* श्रीतुलसीकृत मानसबीजककी हस्तलिखित प्रतिमें श्रीलखनलालजी-के इस उपदेशभागको 'लक्ष्मणगीता-प्रसङ्ग' नाम दिया गया है। वास्तवमें यह 'लक्ष्मणगीता' ही है। इसी उपदेशका प्रभाव है, जिसने निषादराजको

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीका गुणानुवाद करते-करते प्रातःकाल हो गया—'कहत राम गुन भा भिनुसारा'।

श्रीलखनलालका रूप बना दिया और श्रीरघुनाथजीके प्रति एक भावकी अतुल भक्तिद्वारा गुरु-शिष्य दोनोंने भक्तभूषण बननेका सौभाग्य प्राप्त किया। जैसे श्रीलखनलालजी—

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥

इस तरहकी अपनी विशुद्ध धारणाके अनुसार प्रभु-हृदयमें तनिकभर 'खँभार' देखते ही श्रीभरतजीका दलसहित संहार करनेके लिये कटिबद्ध हो गये थे, ठीक वैसे ही श्रीनिषादराजने भी अपनी स्थिति दृढ़ की थी। यथा—

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़े भाग अस पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥
साधु समाज न जा कर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू। जननी जौबन बिटप कुठारू॥

इस असार संसारको मोहमूलक तथा स्वप्नवत् निश्चय कर लेनेका ही यह प्रमाण है कि तन, मन, धन सबको प्रभुके अर्थ समर्पित करके अपना परम सौभाग्य समझा जा रहा है। निषादराज श्रीराघवके 'निहोरे' अपना प्राण तो हथेलीपर लिये ही हैं, औरोंको भी कैसी शिक्षा दे रहे हैं कि भाइयो! मेरी सेनाके सुभटगण! आजकी मृत्यु बड़े भाग्यसे प्राप्त होनेवाली है; क्योंकि एक तो समरका मरना है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

(गीता २। ३७)

श्रीरघुनाथजी जगे, शौच-स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर वटका दूध मँगवाया और अनुजके सहित सिरके घुँघराले बालोंकी

दूसरे श्रीगङ्गाजीका तट है—जहाँपर मृतककी अस्थि पहुँच जानेसे ही मोक्ष मिल जाता है। तीसरे श्रीरामजीका सेवाकार्य है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता १८। ६६)

चौथे यह शरीर क्षणभङ्गुर है—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (गीता २। २७)

और पाँचवें, श्रीभरतजी श्रीरामजीके भ्राता हैं—

जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥

'निरबान दायक क्रोध जाकर', उनके हाथसे मरण है। इसके अतिरिक्त इस लक्ष्मणगीताके निष्ठापूर्वक श्रवण और निदिध्यासनसे मनमें यह दृढ़ धारणा हो जाती है कि 'जिसकी साधु-समाजमें गिनती नहीं, और राम-भक्तोंमें गणना नहीं है, वह इस जगत्में व्यर्थ जीनेवाला और पृथ्वीका भारस्वरूप है। वह नाहक ही जन्म लेकर अपनी माताकी युवावस्थाका हन्ता बना है।' अतः लखनलालजीका वह सदुपदेश और निषादराजकी सद्धारणा धन्य है, जिसने शिष्यको गुरुका विग्रह बना दिया। यथा—

१—गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।

मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

२—कहि निषाद निज नाम सुबानीं। सादर सकल जोहारीं रानीं॥

जानि लखन सम देहिं असीसा। जिअहु सुखी सय लाख बरीसा॥

३—निरखि निषादु नगर नर नारी। भए सुखी जनु लखनु निहारी॥

श्रीभरतजी, सारी माताएँ, समस्त अयोध्यावासी जो भी निषादराजसे मिलते हैं, उन्हें यही प्रतीत हो रहा है मानो वे लक्ष्मणजीसे ही मिल रहे हैं। ऐसे परमभागवत निषादराज धन्य हैं।

जटा बनायी । उस रूपको देखकर सुमंत मन्त्रीके नेत्रोंमें जल छा गया । उन्होंने हाथ जोड़कर श्रीचक्रवर्ती दशरथजी महाराजके सन्देश तथा अभिप्रायका निवेदन किया, जिसका उचित उत्तर पानेके पश्चात् अपनेको भी साथ ले चलनेकी प्रार्थना की । परन्तु हर तरहसे मजबूर होकर उनको (सुमंतको) अवध ही लौटना पड़ा—

बरबस रामु सुमंत्रु पठाए ।

और—

सुरसरि तीर आपु तब आए ॥

मागी नाव न केवटु आना । कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥

अब यहाँसे केवटका (नाव खेनेवाले मल्लाहका) प्रसङ्ग आरम्भ होता है । यहाँपर श्रीरामजी, श्रीसीताजी, श्रीलखनलालजी और निषादराज—चारों मूर्तियाँ साथ हैं तथा श्रीगङ्गाजीके तीरपर आकर पार होनेके लिये नाव खेनेवाले घटवार मल्लाहसे, जो धारामें नावपर था, नाव किनारे लानेके लिये आज्ञा कर रहे हैं । परन्तु यह केवट (नाविक) उत्तर देता है कि 'महाराज ! मैं नाव नहीं लाऊँगा, क्योंकि, मुझको आपका मर्म मालूम है । सब लोग कहते हैं कि आपकी चरण-रज मनुष्य बना देनेवाली कोई जड़ी है—

चरन कमल रज कहुँ सबु कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू । नहिं जानउँ कछु अउर कबारू ॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू । मोहि पद पदुम पखारन कहहू ॥

'जब चरण-रजको छूते ही पत्थरकी शिला सुन्दरी 'नारि' (अहल्या) बन गयी तो पत्थरसे काष्ठ कठोर नहीं होता । कहीं हमारी नौका भी मुनिकी स्त्री बन गयी तो नाथ ! इससे आपका तो हरजा ही होगा; क्योंकि बाट पड़ जायगी अर्थात् नाव न रहनेसे आप पार न जा सकेंगे, रास्ता रुक जायगा । और मेरी भी हानि होगी, क्योंकि नौका [स्त्री होकर उसी तरह] उड़ जायगी [जैसे वह शिला अहल्या बनकर उड़ गयी थी] । इस नौकाहीके द्वारा मेरे सारे कुटुम्बका प्रतिपालन होता है, दूसरा कोई भी उद्यम मैं नहीं जानता । अतः यदि प्रभुको अवश्य ही पार जाना है तो मुझको आज्ञा दी जाय कि मैं आपके चरणकमलोंकी रज धो डालूँ—

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं ।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं ।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

"मैं नाथसे उतराई नहीं चाहता—केवल चरणकमल धोकर ही नावपर चढ़ा लूँगा परन्तु जबतक मैं पाँव न पखार लूँगा तबतक लखनलाल (जो क्रुद्ध चेष्टाएँ कर रहे हैं) मुझे बाणसे मार ही क्यों न डालें, मैं कदापि पार उतारनेके लिये तैयार न होऊँगा । नाथ ! यह बात मैं आपकी और आपके पिता दशरथजीकी सौगंध खाकर सच-सच कह रहा हूँ ।"

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन ॥

उस केवट (नाविक) के प्रेमसे लपेटे हुए अटपटे उत्तरको सुनकर

करुणाधाम श्रीरामजी श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजीकी ओर देखकर हँस पड़े—ताकि वे लोग इस कथनपर रुष्ट न हों, बल्कि यह समझ जायँ कि प्रभु इसपर प्रसन्न हैं। श्रीचरणोंको धोकर चरणोदक लेनेकी चाहसे केवटके वाक्योंमें जो प्रेम लिपट रहा था, उस प्रेमभावपर श्रीरामजी-की कृपा-दृष्टि थी—'रामहि केवल प्रेमु पिआरा।' परन्तु सच्चे सेवकोंसे स्वामीकी अवज्ञा या अपमान कैसे सहा जा सकता है? अतः सम्भावना थी कि श्रीसीताजी और श्रीलखनलाल उसे अनिष्ट जानकर क्रोध न कर बैठें! क्योंकि झूठमूठ एक बेपरकी बात पैदा कर देना कि 'चरण-रज स्त्री बनानेकी जड़ी है' और यह ढिठाई करना कि 'आपकी और आपके बापकी कसम खाकर सब सच-सच कहता हूँ' उसकी अटपटी बातोंके प्रमाण हैं। इसीलिये यहाँपर 'करुनाऐन' विशेषण लगाया गया है। प्रभु ऐसे दयानिधान हैं कि—

कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत रामु जानि जन जी की॥

अतः श्रीरामजी उसके अटपटे (अनुचित) कथनपर तनिक भी ध्यान न देकर—बल्कि प्रेमभावपर रीझकर स्वयं भी प्रसन्न हो रहे हैं और अपने बिहँसने (प्रसन्न-मुद्रा) के द्वारा श्रीसीताजी तथा श्रीलखन-लालजीको भी प्रसन्न कर रहे हैं। इस सोरठेके अर्थमें बड़े-बड़े किस्से-कहानियोंको जोड़-जोड़कर चितवने और बिहँसनेके तरह-तरहके भाव पैदा किये जाते हैं, परन्तु निचली चौपाईसे श्रीरघुनाथजीके केवल प्रसन्नतासूचक भावकी ही पुष्टि हो रही है—

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥

कृपाके समुद्र श्रीरामजी केवटसे भी मुसकराकर ही बोले (जिससे उसको भी उनकी प्रसन्नता ही सूचित हो) कि जल्दीसे जल लाकर पाँव पखार ले। वही कर, जिससे तेरी नाव बच जाय! 'यहाँ एक प्रश्न अवश्य पैदा होता है कि जब निषादराज भी भगवान्‌के साथ ही सेवामें हाजिर हैं, तब उनके रहते नाविक केवटको ऐसी हिम्मत कैसे पड़ी और उन्होंने उसे डाँट क्यों नहीं दिया। प्रभुके साथ राजाका विनयपूर्ण वर्ताव देखते हुए भी क्या किसी प्रजा या सेवकका ऐसा साहस कदापि हो सकता है? इससे यह बात स्पष्ट हो रही है कि वास्तवमें 'चरणोदकप्राप्ति' की यह युक्ति निषादराज गुहकी ही बतलायी हुई थी। यदि गुहकी अनुमति न होती तो क्या मजाल था कि केवट ऐसी छेड़-छाड़ करता! अवश्य ही गुहके द्वारा यह सिखलाया गया था कि 'इस विनोदी प्रार्थनाके साथ श्रीरघुनाथजीका चरणोदक प्राप्त कर लिया जाय, जिससे समस्त कुलका उद्धार हो जाय।' अतएव श्रीचरणप्रक्षालनके सौभाग्यभाजन भी, निषादराज ही थे, केवट नाविक तो एक ओट बनाया गया था। अस्तु—

केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं॥
पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार॥
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।

श्रीरामजीकी प्रसन्नतापूर्ण आज्ञा पाते ही नाविक केवट काष्ठके पात्र—कठौतेमें जल भरकर ले आया। [यह भी सिखाये हुए उस नाट्यका कौशल ही था—जिससे दर्शकोंको केवटके सन्देहका यहाँतक विश्वास हो जाय कि 'वह अपने सन्देहके निवृत्त्यर्थ काष्ठका ही पात्र लाया है,

और पूरा भरकर लाना इस लक्ष्यका द्योतन कर रहा है कि 'बहुत पीनेवाले हैं ! सबको अँट जाय'] श्रीरामजीके चरणकमलोंको जिस समय वह अत्यन्त अनुरागानन्दमें उमंगकर पखारने लगा, उस समय सम्पूर्ण देवगण पुष्पोंकी वर्षा करके उसके भाग्यपर सिहाने लगे कि 'ऐसा पुण्यशाली कोई भी नहीं होगा ।' उसको अगुआ बनानेवाले निषादराज श्रीगुहजी तथा और भी जो बन्धुवर्ग वहाँ उपस्थित थे, सबने पद पखारने तथा पादोदक-पान करनेका सौभाग्य प्राप्त किया । इस प्रकार अपने समस्त परिवार और स्वर्गस्थित पितरोंको भी जब उसने भवसागरके पार लगा लिया, तब हर्षके साथ प्रभुको श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और निषादराज गुहसमेत गङ्गापार उतारा ।

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता । सीय राम गुह लखन समेता ॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा । प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा ॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी । मनि मुदरी मन मुदित उतारी ॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई । केवट चरन गहे अकुलाई ॥
नाथ आजु मैं काह न पावा । मिटे दोष दुख दारिद दावा ॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी । आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी ॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें । दीनदयाल अनुग्रह तोरें ॥
फिरती बार मोहि जो देबा । सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा ॥

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ ॥

तब श्रीसीतारामजी लखनलाल और गुहराजसहित नावसे उतरकर श्रीगङ्गाजीके उस पार रेतमें खड़े हो गये, तब केवट (नाविक) ने नावसे उतरकर दण्डवत् किया (यहाँ भी गुह और केवटका अलग-अलग उतरना स्पष्ट है) । श्रीरामजीको इस बातका संकोच हुआ कि 'मैंने

इसे कुछ भी उतराई नहीं दी।' तबतक श्रीजानकीजीने पतिके हृदयकी बात जानकर प्रसन्न मनसे अपनी मणिमुद्रिका उतार ली और उसको लेकर कृपालु रामजीने आज्ञा की कि 'यह उतराई ले।' इसपर केवट आकुल होकर चरणोंमें गिर पड़ा और प्रार्थना की कि "नाथ! आज मुझे क्या मिलना बाकी है? मेरे सम्पूर्ण 'दोष' (पूर्वकृत पाप), 'दुःख-दारिद्र्य' (वर्तमान मानसिक और शारीरिक क्लेश) और 'दावा' (भविष्य जन्म-मरणादि संसृति) मिट गये। बहुत कालसे मैं मजदूरी कर रहा था (आपकी चरणजा श्रीगङ्गाजीको शरण लेकर इन्हींका दर्शन-स्पर्शन कर रहा था)—आज विधाताने उसकी भली और 'भूरी' (बहुत) बनि (मजदूरी) इकट्ठा करके दे दी। नाथ! अब मुझको और कुछ भी नहीं चाहिये। दीनदयाल! आपका अनुग्रह ही मेरे लिये बहुत है। आप लौटते समय जो कुछ भी दे देंगे उस प्रसादको मैं शिरोधार्य करूँगा।" तीनों सरकारोंने बहुत चाहा; परन्तु उसने जब किसी तरह नहीं लिया तब करुणायतन श्रीरघुनाथजीने उसको अपनी भक्तिका विमल वर देकर बिदा किया।

बस, केवट (नाविक) का प्रसङ्ग, जो 'मागी नाव न केवट आना' से आरम्भ हुआ था, यहीं समाप्त हो जाता है। यह प्रसङ्ग केवल गङ्गातट और नावसे ही सम्बन्ध रखता है और निषादराज गुहजी अपनी राजधानी शृङ्गबेरपुरमें प्रभुके पहुँचनेके समयसे ही स्वागतमें लगे हैं तथा श्रीगङ्गाजी-को पार कराकर साथ-साथ आगे भी बढ़े हैं। जैसे—

तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥
दीन बचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई॥

जेहिं बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥
तब मोहि कहँ जस देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई॥
सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदयँ हुलासू॥
तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा अनुज सिय सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥

श्रीतीर्थराज प्रयाग पहुँचकर सखा गुहको क्षेत्रका माहात्म्य सुनाया गया। फिर श्रीभरद्वाज ऋषिके यहाँ निषादराजसहित फलाहार करने और प्रयागसे भी उनको लेकर आगे बढ़नेका प्रमाण है—

कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥
× × × ×
सीय लखन जन सहित सुहाए। अति रुचि राम मूल फल खाए॥
राम कीन्ह बिश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन मुदित मुनिहि सिरु नाइ॥

यमुनापार हो जानेके बाद जब गुप्त तापस-मिलन हुआ है, वहाँपर निषादके दण्डवत् करनेका प्रमाण मिलता है और वहींसे उनको समझा-बुझाकर वापस किया गया है—

कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही॥
तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेइँ कीन्ह॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीको यमुनाके पारतक पहुँचाकर श्रीगुहजी शृङ्गवेरपुर लौटे। जब श्रीभरतजी अवधसमाजसहित चित्रकूट जा रहे थे, तब भी निषादराज उनके साथ वहाँतक गये थे और उसी समाजके साथ श्रीरामजीका दरस-परस-समागमादि करके लौट भी आये।

लङ्काविजयके पश्चात् श्रीरघुनाथजीकी राजगद्दीके समय इनका श्रीअवध-धामको भी जाना हुआ था, जहाँसे इनकी विदाईकी कथा यों है—

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥
बचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी॥
चरन नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु सुभाउ परिजनन्हि सुनावा॥

अस्तु, उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हो गया कि निषादोंके राजा, जिनका नाम गुह था, भिन्न थे और नाव खेनेवाला केवट (निषाद) दूसरा था। दोनोंकी जाति एक ही थी, अतः कहीं-कहीं निषादराज गुहजीके लिये भी 'केवट' (जातिनाम) शब्दका प्रयोग हुआ है। परन्तु घाट खेनेवाला निषाद गरीब केवट था और गुहजी राजा थे। उन्हींकी युक्ति और अनुमतिसे केवटद्वारा चरणोदककी प्राप्ति हुई थी। केवटकी कथा केवल गङ्गातटपर है—और गुहजीकी सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड, लङ्का-काण्ड और उत्तरकाण्डमें भी मौजूद है। गुहजी बड़े प्रतापी राजा थे। इनके पास बड़ी भारी सेना थी। इन्होंने रातभरमें इतनी नावें इकट्ठा करा दी थीं कि श्रीभरतजीका सारा समाज, जिसका वारापार न था, एक ही खेवेमें यमुनापार हो गया!—

प्रात पार भए एकहिं खेवाँ। तोषे रामसखा की सेवाँ॥

श्रीरामजीने इनको अपना 'सखा' स्वीकार किया था। इनकी भक्ति और गौरवकी अतुलनीय गाथा मानसमें भरी पड़ी है। श्रीभरतजी-सरीखे भक्तशिरोमणिने—

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥

—इनको हृदयसे लगा लिया था—

…भरत लीन्ह उर लाइ।……प्रेमु न हृदयँ समाइ।

श्रीवसिष्ठजीने भी—

रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

क्योंकि वे जानते थे—

एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगु पावन कीन्हा॥

अतएव—

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥
जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

भक्तमालमें गुहजीकी भक्तिके सम्बन्धमें यह लिखा है कि जिस प्रकार चित्रकूटसे लौटनेपर श्रीभरतजीने 'महि खनि कुस साथरी सँवारी' थी, उसी प्रकार निषादराज भी चौदह वर्षतक नेत्र मूँदकर रहे। रोते-रोते उनकी आँखोंसे रुधिरतक गिरने लगा था, परन्तु उनकी प्रतिज्ञा थी कि 'श्रीरामरूपको देखकर ही नेत्र खुलेंगे, वरना बंद ही रह जायेंगे।' अस्तु, जब मूँदे हुए नेत्रोंवाले निषादराजजीने सुना कि प्रभु आये हैं, तब आकाशमें विमान न देखते हुए भी 'नाव नाव कहँ लोग बोलाए।' फिर जब सुना कि—

सुरसरि नाघि जान तब आयो। उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो॥

——तब प्रेमाकुल होकर दौड़ पड़े और—

प्रभुहि सहित बिलोकि बैदेही । परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही ॥

'बिलोकि' प्रभुके ही साथ है ! 'परम प्रीति' शब्दसे भी उनकी प्रीति प्रमाणित हुई है, यथा—

प्रीति परम बिलोकि रघुराईं । हरषि उठाइ लियो उर लाईं ॥
लियो हृदयँ लाइ कृपानिधान सुजान रायँ रमापती ।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती ॥
अब कुसल पद पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेव्य जे ।
सुख धाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते ॥
सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो ।
मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोह बस बिसराइयो ॥

यदि निषादराजने श्रीभरतजीकी भाँति राम-वियोगमें चौदह वर्षकी अवधितक सब विषयोंसे मुँह मोड़कर अपने शरीरको भुला दिया तथा आँखोंको बंद किये रोते ही रहे, तो श्रीरघुनाथजीने भी उनको भरत-जीकी ही भाँति आह्लादसे हृदयमें लगाया—'भरतु ज्यों उर लाइयो' । इसके अलावा श्रीनिषादराज और श्रीभरतलालजीकी एकता ग्रन्थसे भी प्रमाणित है । पहले चित्रकूटमिलनमें देखिये और फिर लङ्का-विजयके पश्चात् अयोध्या लौटते समयके प्रसङ्गमें मिलाइये ।

चित्रकूटमें श्रीभरतमिलन श्रीनिषादराजमिलन

१—भूतल परे लकुट की नाईं । १—परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही ।
२—बरबस लिए उठाइ उर लाए । २—हरषि उठाइ लियो उर लाईं ॥
३—परम प्रेम पूरन दोउ भाईं । ३—प्रीति परम बिलोकि रघुराईं ।
४—उर लाए कृपानिधान । ४—लियो हृदयँ लाइ कृपानिधान ॥

श्रीअयोध्यामें श्रीभरतमिलन श्रीनिषादराजमिलन

१– परे भूमि······। १–परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही।
२–नहिं उठत उठाए। २–हरषि उठाइ लियो उर लाई॥
३–बर करि कृपासिंधु उर लाए। ३–लियो हृदयँ लाइ कृपानिधान।
४–बूझत कृपानिधि कुसल। ४–बूझी कुसल सो कर बीनती॥
५–अब कुसल कौसलनाथ। ५–अब कुसल पद पंकज बिलोकि आरत जानि।
६–नमत जिन्हहि सुर मुनि संकरु अज। ६–बिरंचि संकर सेव्य जे॥

श्रीनिषादराजके सम्बन्धमें पहले प्रमाण दिया जा चुका है कि वे श्रीलखनलालजीका स्वरूप ही बन गये थे। अब यह भी प्रमाणित हो गया कि श्रीभरतजीसे भी उनकी एकता हो गयी थी। अतः श्रीरामसेवाकी संयोगावस्थामें श्रीगुहजी साक्षात् श्रीलक्ष्मण और श्रीरामजीकी वियोगावस्थामें साक्षात् श्रीभरतके स्वरूप थे और दोनों अंशावतार अर्थात् श्रीविष्णुरूप भरत तथा श्रीशिवरूप लक्ष्मणकी तदाकारता प्राप्त की थी! ऐसे भक्त-भूषण श्रीगुहजीकी भक्ति और प्रेमकी प्रशंसा कहाँतक की जा सकती है? वह किसकी लेखनीमें समा सकती है? हम तुच्छ जीवोंके लिये तो श्रीनिषादराजका बतलाया हुआ यह महामन्त्र ही सर्वदा स्मरणीय है—

समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभु महिमा जियँ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

श्रीजटायुजीकी भक्ति

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके वनकाण्डान्तर्गत श्रीसीतान्वेषण-प्रसङ्गमें गृध्रराज श्रीजटायुका मिलना इस प्रकार वर्णित है—

पूरनकाम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥
आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥
कर सरोज सिर परसेउ कृपा सिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥

आप्तकाम सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीरघुनाथजी मनुष्यलीलाकी मर्यादामें श्रीसीताजीको खोजते हुए पञ्चवटीसे दक्षिणके वनोंमें प्रवेश करते चले जा रहे थे कि उन्होंने आगे श्रीजटायुजीको पंख कटी हुई अवस्थामें पृथ्वीपर पड़े और निज (राम) चरणोंकी रेखाओं (अड़तालीसों चिह्नों) को स्मरण करते हुए देखा। देखते ही कृपाके समुद्र दयावीर श्रीरघुवीरने अपने करकमलोंको गृध्रराजजीके सौभाग्य-शाली सिरपर फेर दिया। बस, श्रीकर-कमलोंका स्पर्श होते ही और श्रीरामजीके छविधाम मनोज-मनहर मुखारविन्दका दर्शन मिलते ही श्रीजटायुजीकी सारी व्यथा मिट गयी।

श्रीरामचरितमानसमें यों तो श्रीरघुनाथजीके चरणाश्रित बहुत-से भक्तोंका उल्लेख मिलता है, परन्तु चरणोंकी रेखाका स्मरण (ध्यान) केवल जटायुजीके ही सम्बन्धमें दिया गया है। प्रमाणके लिये मानसप्रेमीजन सातों काण्ड (समग्र ग्रन्थ) विचारकर देख लें। अतः इस रहस्यकी खोज आवश्यक हुई कि गृध्रराजजीको रेखाओंके

ध्यानका संस्कार किस सद्गुरुके द्वारा और कब प्राप्त हुआ था— जिसको वे इस मरणासन्न अवस्थामें भी पड़े-पड़े स्मरण कर रहे थे; इसके अलावा वह संस्कारकर्ता सद्गुरु भी ऐसा ही सिद्ध होना चाहिये, जो श्रीरामजीके चरणोंकी रेखाओंको ही इष्ट और अवलम्ब मानकर स्वयं भी उनके ध्यानकी निष्ठावाला रहा हो !

श्रीसीता-हरण-प्रसंगका विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीसीता-अम्बाजीके इष्ट उनके उस वियोगकालमें श्रीरघुनाथजीके चरण-चिह्न ही थे; क्योंकि अशोकवाटिकामें आपके ध्यानके सम्बन्धमें निम्नाङ्कित दोहे ग्रन्थमें मौजूद हैं—

> जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
> सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम ॥
> निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन ।
> परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन ॥

अर्थात् जिस प्रकार कपट-मृगके पीछे श्रीरघुनाथजी 'धाइ' (दौड़कर) चले, 'सो छबि' (उसी छबिको) श्रीसीताजीने हृदयमें धारण किया । वह छबि क्या थी ? वह श्रीरामजीके चरण-तलोंकी रेखाओंका साक्षात्कार था । क्योंकि जब श्रीरामजी मृगके पीछे-पीछे कुटियासे 'धाइ' (दौड़कर) चले, तब तो सरकारका मुख मारीचकी ओर और पृष्ठभाग कुटिया अथवा श्रीसीताजीकी ओर था । यहाँपर यदि 'सो छबि' का अर्थ मुखारविन्दका ध्यान किया जाय, तो वह तो उस 'धाइ' चलनेके समय श्रीजानकीजीके सामने ही नहीं था। इधर तो पृष्ठका ही दर्शन हो रहा था । हाँ, प्रभुके पदकमल ज्यों-ज्यों ऊपर उठते थे, त्यों-त्यों पीछेकी ओरसे उनके तलवोंकी छबि भली-

भाँति दिखायी देती थी—जिनमें अड़तालीस*अनुपम शुभ रेखाएँ (चौबीस दायें और चौबीस बायेंमें) विराजमान थीं। उसी चरण-

---

* ध्यानप्रेमियोंके आनन्दार्थ श्रीरामपदाम्बुजकी अड़तालीसों रेखाओं-का वर्णन पूर्वाचार्योंद्वारा रचित श्लोकपञ्चक तथा अपने ध्यान और स्मरणार्थ टूटी-फूटी भाषामें जोड़ी हुई तुकबंदियोंमें लिख रहा हूँ—

श्रीरामदक्षिणपदस्थमयोर्ध्वरेखास्वस्त्यष्टकोणकमलाहलमूसलं च।
शेषं शराम्बरसरोजरथं च वज्रं ध्यायेद् यवं सुरतरुं जनकामपूरम्॥ १॥
भूयोऽङ्कुशध्वजकिरीटयुतं सचक्रं सिंहासनं च ललितं यमदण्डचिह्नम्।
छत्रं सचामरनरं जयमाल्यमेतद् वेदाक्षिसौख्यमनिशं मनसा स्मरामि॥ २॥
वामे पदे स्थितमहं सरयूञ्चतीर्थं गोपादभूमिघटशोभितमुत्पताकम्।
जम्बूफलार्धशशिशङ्खषडस्रयुक्तं त्रैकोणकं च गदया सह जीवमीडे॥ ३॥
ऊर्ध्वं सबिन्द्वमृतकुण्डवलित्रयं च मीनं सपूर्णशशिवीणमहं भजामि।
वंशीशरासनयुतं शुभि राजहंसं सीतापतेः श्रुतिनुतं च सचन्द्रिकं च॥ ४॥
सीताङ्घ्रिपङ्कजमिदं हि विपर्ययेन वामेतरं च सुधियः परिभावयन्ति।
चिह्नानि चाष्टजलविप्रतिमानि नित्यं ध्यायेज्जनो रघुपतेर्लभते सुधाम॥ ५॥
यः श्लोकपञ्चकमिदं मनुजः पठेत ध्यात्वा हृदि प्रतिदिनं रघुनन्दनाङ्घ्रिम्।
हित्वा बहूनि दुरितानि पुरार्जितानि प्राप्नोत्यभीष्टघनधर्ममथापवर्गम्॥ ६॥

पुष्प[१] माल[२] अरु छत्र[३] शुभ सिंहासन[४] यमदण्ड[५]।
चँवर[६], चक्र[७], अंकुश[८], मुकुट[९], सुरतरु[१०], केतु[११] प्रचण्ड॥ १॥
स्वस्तिचिह्न[१२] अठकोण[१३] श्री[१४], शर[१५] हल[१६] मूसल[१७] शेष[१८]।
पट्टक[१९] पदुम[२०] रथ[२१] वज्र[२२] जौ[२३], ऊर्ध[२४] दाहिने रेष॥ २॥
हंस[२५] चन्द्रिका[२६] त्रोण[२७] धनु[२८], बंशी[२९] वीण[३०] निशेष[३१]।
मीन[३२] त्रिवलि[३३] पीयूषहृद[३४], गोखुर[३५] महि[३६] कलशेष[३७]॥ ३॥
ध्वजा[३८] जम्बुफल[३९] शशिकला[४०] दर[४१] षटकोण[४२] त्रिकोण[४३]।
गदा[४४] जीव[४५] सरयूसरित[४६], ऊर्ध[४७] बिन्दु[४८] सुठि लोन॥ ४॥

रेखछविको, जिसका ठीक वियोग होनेके समय सामना और लक्ष्य करनेका संयोग मिला था, श्रीसीताजी अपने उरमें दृढ़रूपसे धारण करके रामनामका रटन कर रही थीं—

सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम ॥

इसी अर्थकी पुष्टि उपर्युक्त दूसरे दोहेके इस प्रथम चरणसे भी हो रही है—'निज पद नयन दिए मन राम पद कमल लीन । 'अर्थात् श्रीसीताजीकी आँखें योगदृष्टिकी भाँति नीचे अपने पैरोंकी ही ओर लगी थीं ('दिशश्चानवलोकयन्' गीता ६ । १३) और 'मन' श्रीरामजीके

भूषित अड़तालीस वर चिह्न युगल पद ध्यान ।
गीधराज अन्तिम समय किये जिन्हहि जलयान ॥५॥
सोई दृढ़ विश्वास हिय धरेउ 'दास जयराम' ।
कबहुँ कृपा करि ढरैंगे ढरनि आपनी राम ॥६॥

पदाम्बुज रामजीमें रेख अड़तालीस विराजे हैं ।
पुरुष[1] माला[2] छत्र[3] यमदण्ड[4] सिंहासन[5] चँवर[6] वो चक्र[7] ।
मुकुट[8] अंकुश[9] पताका[10] कल्पतरु[11] वो स्वस्ति[12] साजे हैं ॥१॥
अष्टभुज[13] वो स्वयं श्री[14] वाण[15] हल[16] मूसल[17] सर्प[18] अम्बर[19] ।
पद्म[20] रथ[21] वज्र[22] जव[23] वो ऊर्ध[24] दाँये पदमें भ्राजे हैं ॥२॥
चन्द्रिका[25] हंस[26] भाथा[27] धनुष[28] वंशी[29] वीण[30] पूरनचन्द्र[31] ।
मीन[32] त्रिवली[33] सुधाके कुण्ड[34] गोखुर[35] भूमि[36] राजे हैं ॥३॥
कलश[37] ध्वज[38] जम्बुफल[39] अर्धेन्दु[40] दर[41] षटकोण[42] तिरकोना[43] ।
गदा[44] जिव[45] विन्दु[46] श्रीसरयू[47] उर्ध[48] बायेंमें छाजे हैं ॥४॥
दास जयराम निसि वासर हैं इन चिह्नोंके शरणागत ।
प्रणतपालक विरद जिनके सकल श्रुतियोंमें गाजे हैं ॥५॥

चरणोंमें लीन था। तात्पर्य यह कि वे उन सम्पूर्ण चरणचिह्नोंको, जिनका उन्हें मृगके पीछे दौड़ते समय तलवोंके उठनेसे साक्षात्कार हुआ था, हृदयसे स्मरण कर रही थीं।

टिप्पणीमें दिये गये श्लोकपञ्चकके पाँचवें श्लोकद्वारा इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है कि जो चौबीस चिह्न श्रीरामजीके दायें पदतलमें थे, वे ही श्रीसीताजीके बायें और चौबीस चिह्न श्रीरामजीके बायें पदतलमें थे, वे ही श्रीसीताजीके दायें पदतलमें विराजमान थे। अतएव उन्हीं अड़तालीसों चिह्नोंको श्रीसीताजी अपने चरणोंमें ठीक-ठीक देख रही थीं और फिर उन्हीं चिह्नोंका श्रीरामजीके चरणोंमें ध्यान करके मनसे उनका स्मरण कर रही थीं। इसीसे दोहेमें 'निज पद नयन दिए मन राम पद कमल लीन' कहा गया है। 'निज पद' पर 'नयन' दिये रहनेसे उन चिह्नोंके रूपका दर्शन हो रहा था—इससे 'कायिक भक्ति' 'मन' रामचरण चिह्नोंमें लीन हो रहा था—इससे 'मानसिक भक्ति' तथा 'वचन' राम-नामकी रटनमें लगा हुआ था—इससे 'वाचिक भक्ति' सिद्ध होनेके साथ-साथ मन, वचन और कर्म—तीनों श्रीप्रभुमें ही लग रहे थे, जैसा कि स्वयं श्रीसीताजीने भी हनुमान्‌जीसे कहा था—

मन क्रम वचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥

—इसी सम्बन्धमें श्रीमुखके वचन भी हैं—

वचन कायँ मन मम गति जाही। सपनेहुँ बिपति कि बूझिअ ताही॥

श्रीअम्बाजीके सच्चे सेवक श्रीजटायुजीकी भी ठीक वही स्थिति हो रही थी। सेवामें शरीर अर्पण करके पंख कटी हुई अवस्थामें पड़े थे (कायिक भक्ति), मनसे श्रीरामचरण-रेखाका स्मरण कर रहे थे (मानसिक भक्ति) और वाणीसे श्रीरामनामका रटन हो

रहा था (वाचिक भक्ति) । इस प्रकार इनके भी मन, वचन और शरीर——तीनों ही श्रीरामजीमें लगे थे ।

रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई ।
'तुलसी' रामहि प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई ॥
(गीतावली)

तात्पर्य यह कि श्रीसीताजी जिस तरह राम-नामका रटन (विलाप) करती हुई जा रही थीं ('त्रिलपति अति कुररी की नाईं' तथा 'राम राम हा राम पुकारी'), उसी नाम-रटको गृध्रराजने भी अपना गुरुमन्त्र बना लिया । यह भी उसी महामन्त्रको जप रहे थे । साथ ही श्रीरामजीकी चरण-रेखाओंका ध्यान जिस प्रकार श्रीअम्बाजी-को हो रहा था, उसी प्रकार गृध्रराजजीके हृदयमें भी हो रहा था ——'सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा ॥'

वास्तवमें निष्ठावान् शिष्य-सेवकोंके शुद्ध हृदयमें सद्गुरुओं और कृपालु स्वामियोंकी दयाके प्रभावसे ऐसे ही अनुपम प्रदान होनेका प्रमाण नियमितरूपसे देखा जाता है । देखिये——शृंगवेरपुरमें श्री-रामजीके प्रथम दिनके 'महि सयन-समय' में (बोले लखन मधुर मृदु बानी' से 'सिय रघुबीर चरन रत होहू' तक) उपदेश पाने और निषादराजकी अवस्था श्रीलखनलालजी-जैसी हो गयी । दोनों ही हृदयोंकी एक धारणा, दोनोंहीके वाक्यादि और स्वभावोंकी एक दशा और दोनोंहीके कार्यादि प्रभावोंकी एक स्थिति देखी जाती है । अर्थात् जिस प्रकार श्रीलखनलालजीको भरतजीके सैन्य साजकर लड़ने आनेका सन्देह हुआ था——

जौं जियँ होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ॥

—ठीक उसी प्रकार उनके शिष्य निषादराजने भी अनुमान किया—

जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्हि संग कटकाई॥

फिर जिस तरह श्रीलखनलालजी समरके लिये तैयार हुए—

बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायकु हाथा॥
आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥

—ठीक उसी तरह निषादराजने भी अपने सहयोगियोंको सावधान किया—

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥

मन और वचनकी ऐसी एकता थी। और कायकी तो यह दशा थी कि जो अवधवासी श्रीनिषादराजसे मिल रहे थे, उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो हम लखनलालजीसे ही मिल रहे हैं। यथा—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

माताएँ—

जानि लखन सम देहिं असीसा। जिअहु सुखी सय लाख बरीसा॥

पुरवासी लोग—

निरखि निषादु नगर नर नारी। भए सुखी जनु लखनु निहारी॥

इस प्रकार गुरु और शिष्य दोनों ही मन, वचन और शरीरमें तदाकार पाये जाते हैं। सच्चा लगन और निष्कपट सेवाका फल भी यही है। अतः गृध्रराज श्रीजटायुजीको भी उनकी निःस्वार्थ और निष्कपट सेवाके प्रतापसे जो श्रीसीता स्वामिनीकी अनुकूलता प्राप्त थी, उसके कारण इन्हें भी चरणरेखाका ध्यान प्राप्त हुआ

था——जो उन्हींके प्रति निकले हुए स्वयं श्रीमुखके वचनोंद्वारा प्रमाणित हो रहा है——

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरन कामा॥

——आदि

यहाँपर एक बात यह जान लेनेकी है कि श्रीग्रन्थकारने गृध्रराजके सम्बन्धमें रावणसे लोहा लेते समयके प्रसङ्गमें तीन बार 'धावा' शब्दका प्रयोग किया है और तीनोंके साथ 'क्रोध' का एक ही रूपमें सम्बन्ध है। जैसे——

(१) गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुलतिलक नारि पहिचानी॥

× × × ×

धावा क्रोधवंत खग कैसें। छूटइ पबि परबत कहुँ जैसें॥

(२) जाना जरठ जटायू एहा। मम कर तीरथ छाँड़िहि देहा॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा॥
राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥

(३) उतरु न देत दसानन जोधा। तबहिं गीध धावा करि क्रोधा॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहि राखि गीध पुनि फिरा॥

इस प्रसङ्गके रहस्यका ठीक-ठीक बोध न होनेके कारण प्रायः लोग शङ्का किया करते हैं कि 'धावा' का तीन बार प्रयोग होनेके कारण पुनरुक्ति-सी दिखायी देती है परन्तु वस्तुतः यह पुनरुक्ति नहीं, बल्कि यह श्रीगोस्वामिपादकी मर्मज्ञता और काव्यकुशलताका परिचायक है और इसे समझ लेनेपर हृदय आनन्दपूर्ण हो जाता है। सचमुच इस ग्रन्थकी इतनी गम्भीर रचना हुई है कि उसका

कोई भी प्रसङ्ग सामने आनेपर प्रत्यक्षवत् खड़ा हो जाता है और उसका सारा दृश्य नेत्रोंके समक्ष नाचने-सा लगता है। बात यह है कि जिस समय रावण श्रीसीताजीको लेकर गगनपथसे चला, उस समय श्रीजटायुजी उसके बहुत ऊपर आकाशमें मँडरा रहे थे—जैसा कि गृध्रयोनिका स्वभावानुसार अभ्यास है। जिस गीधकी जितनी ही अधिक शक्ति होती है, वह उतने ही ऊँचे आकाशमें उड़कर अपने आहारको पृथ्वीके विस्तृत फैलावमें देख सकता है। क्योंकि 'गीधहि दृष्टि अपार'—चाहे कितना भी फासला क्यों न हो, वे स्पष्ट देख सकते हैं। इनकी दृष्टिकी कोई सीमा नहीं होती। यहाँ अमित शक्तिमान् श्रीजटायुजी तो 'रवि निकट' तक उड़नेवाले थे, जैसा कि सम्पातिका वचन है—

हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गए रवि निकट उड़ाई॥

अतः जब उन्होंने अत्यन्त ऊँचाईपर श्रीसीताजीकी 'आरत बानी' सुनी तो दृष्टि डालकर पहचान लिया और देखा कि उनको—

अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥

बस, उसी जगहसे यह कहते हुए कि—

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥

—इस प्रकार क्रोधपूर्वक दौड़े, जैसे किसी पर्वतपर 'पवि' (वज्र–बिजुली) गिरा हो! 'पवि' की उपमासे स्पष्टतः सूचना मिलती है कि श्रीगृध्रराजजीने आकाशकी अत्यधिक ऊँचाईपरसे रावणपर 'धावा' किया।

जिन महानुभावोंको यह देखनेका संयोग मिला होगा कि गीध,

चील या अन्य मँडरानेवाले पक्षी आकाशसे पृथ्वीपर किस भाँति उतरा करते हैं, वे भलीभाँति जानते होंगे कि बिना चक्कर दिये उनका उतरना सम्भव ही नहीं होता। हवाई जहाजतकके लिये उतरते समय चक्कर अनिवार्य होनेके कारण विस्तृत भूमिकी आवश्यकता पड़ा करती है। अतः इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये कि श्रीगृध्रराजजी केवल तीन ही चक्करमें वज्रकी भाँति शीघ्रतासे रावणके ऊपर आ टूटे [यह उनके अमित पुरुषार्थकी महिमा थी], तीन बार 'धावा' शब्दका प्रयोग हुआ है। फिर सबमें 'क्रोध' की स्थिति तो एक-सी ही थी, इसलिये तीनों 'धावा' के साथ क्रोधका एक-सा वर्णन आया है। यदि किसी कारणसे उनका रुकना और फिर चलना बतलाया गया होता तो उनके क्रोधावेशमें अवश्य कमी-बेशी दिखलायी गयी होती अथवा उनके 'धावने' में ही अन्तर बतलाया गया होता। जैसे वाली जब सुग्रीवका गर्जन सुनकर दौड़ा तो उस समय उसके 'धावने' का वर्णन इस तरह आया है—'सुनत बालि क्रोधातुर धावा।' परन्तु जब 'गहि कर चरन नारि समुझावा'—ताराने समझाया कि जिनसे सुग्रीव मिल गया है, वे 'कालहु जीति सकहिं संग्रामा', तब वालीका पूर्व वेग कम हो गया और ताराके उत्तरमें 'जौं कदाचि मोहि मारहिं तौं पुनि होउँ सनाथ' 'अस कहि चला महा अभिमानी।' यहाँपर वेगकी कमीके सूचनार्थ 'धावा' शब्द न देकर 'चला' दिया गया है। परन्तु श्रीगृध्रराजजीके सम्बन्धमें तीन बार 'धावा' कहकर उनके तीन चक्कर (मँडराने) में उतरनेकी चालका ही नकशा खींचा गया है, तीन बार आक्रमण-का नहीं। इसीलिये दूसरे चक्करके सूचक 'क्रोधातुर धावा' के साथ

वही पहलेकी आरत गिराके 'सुनत' शब्दको दुहराकर 'सुनत गीध' कहा गया है । और इसके द्वारा एकाक्रमणकी ही सूचना दी गयी है । नहीं तो रावणके अनुमानके सम्बन्धमें 'सुनना' शब्द क्यों लाया जाता ? 'अनुमान' सुननेकी चीज नहीं, वह तो हृदयकी चीज है । अतएव यह निश्चय है कि 'धावा' शब्दके तीन बार आनेसे न तो पुनरुक्ति दोष है और न तीन बार आक्रमणका ही अर्थ निकलता है, बल्कि उससे तीन बारके चक्कर (मँडराने) की सूचना देकर रावणके रथपर उतरनेकी चाल बतलायी गयी है । और इन शब्दोंका इस उत्तमतासे प्रयोग हुआ है कि उनके बीच-बीचमें गीधराजके वे वाक्य भी पिरो दिये गये हैं, जिनका उच्चारण करते हुए वे दौड़े थे, यहाँपर रावणके उत्तर-प्रत्युत्तरका प्रसंग नहीं है—'उतरु न देत दसानन जोधा ।' केवल गृध्रराजजीके ही वाक्य हैं और यह भी एक विशेषता है । अस्तु,

श्रीगृध्रराजजीने श्रीरघुनाथजीसे भेंट होनेपर स्पष्टरूपसे बतला दिया कि—

नाथ दसानन यह गति कीन्ही । तेहिं खल जनकसुता हरि लीन्ही ॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं । बिलपति अति कुररी की नाईं ॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना । चलन चहत अब कृपानिधाना ॥

यहाँ भी लोग शंका किया करते हैं कि 'जब जटायुने यह स्पष्ट बतला ही दिया कि रावण श्रीसीताजीको हरकर दक्षिणकी ओर ले गया है, तब श्रीरामजीने वानरी सेनाके द्वारा इतनी खोज क्यों करायी ?' इसका समाधान यही है कि केवल चोरकी पहचान तथा उसके माल लेकर किसी दिशामें भाग जानेका समाचार पाकर ही

कैसे सन्तोष किया जा सकता है, जबतक उसकी पूरी खोज करके उसे गिरफ्तार न कर लिया जाय और माल बरामद करके उसे उचित दण्ड न दे दिया जाय ? अतएव इस बातकी खोज आवश्यक थी कि श्रीजानकीजी कहाँ और किस दशामें हैं तथा उन्हें चुराकर रावण कहाँ छिपा हुआ है, इत्यादि ।

श्रीरघुनाथजीने चाहा कि जटायुजी अभी अपने अनुपम जीवनसे लोकको कृतार्थ करें, शरीर न छोड़ें । परन्तु उनका उत्तर कैसा अद्भुत और प्रगाढ़ भक्तिभाव, विशुद्ध विज्ञान तथा असार-संसारके प्रति वैराग्यका द्योतक था—

राम कहा तनु राखहु ताता । मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता ॥
जाकर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥
सो मम लोचन गोचर आगें । राखौं देह नाथ केहि खाँगें ॥

यद्यपि यह लोकप्रसिद्ध नीति है कि 'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं,' परन्तु जिन महाभागोंको श्रीरामचरणकमलोंकी लगन है, उनकी यही दृढ़ धारणा रहती है—

गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह ।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह ॥

फिर श्रीजटायुजी तो रामभक्तोंके एक स्तम्भ हैं, इन्हें 'देह-गेह' की ममता कैसी ? इनकी निष्ठा तो इनके अनुपम कर्तव्यसे ही स्पष्ट हो रही है—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम ।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम ॥

उनके इसी संवादको श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामगीतावलीमें यों लिखा है—

राखौ गीध गोद करि लीन्हो।
नयन सरोज सनेह सलिल सुचि मनहुँ अरघजल दीन्हो ॥

× × × ×

बहु विधि राम कह्यौ तन राखन परमधीर नहिं डोल्यो।
रोकि प्रेम अवलोकि बदन बिधु बचन मनोहर बोल्यो ॥
'तुलसी' प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनिदुर्लभ तुमहि कहाँ पुनि पैहौं ? ॥

(अरण्यकाण्ड, पद १४)

मेरे जान तात कछुक दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन सेवा सुख, मोहि पितु को सुख दीजै ॥
दिव्य देह, इच्छा जीवन जग विधि मनाइ मँगि लीजै।
हरि हर सुजस सुनाइ, दरस दै लोग कृतारथ कीजै ॥
देखि बदन सुनि बचन अमिय तन राम नयन जल भीजै।
बोल्यो विहसि विहग 'रघुवर ! बलि, कहौं सुभाय, पतीजै ॥
मेरे मरिबे सम न चारि फल, होंहि तौ क्यों न कहीजै ?'
'तुलसी' प्रभु दियो उतरु मौनहीं, परी मानो प्रेम सहीजै ॥

(अरण्यकाण्ड, पद १५)

सुनि प्रभु बचन राखि उर मूरति चरन कमल सिर नाई।
चल्यो नभ सुनत राम कल कीरति अरु निज भाग बड़ाई ॥
पितु ज्यौं गीध क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो ॥

(अरण्यकाण्ड, पद १६)

जब श्रीरघुनाथजीने श्रीजटायुजीको यह आज्ञा दी कि 'दिव्य देह, इच्छा-जीवन जग बिधि मनाइ मँगि लीजै' तब उन्होंने निवेदन

किया कि 'मेरे मरिबे सम न चारि फल, होंहि तौ क्यों न कहीजै।' अर्थात् यदि मेरी इस मृत्युके बराबर (जैसे मैं साक्षात् श्रीभगवान्की गोदमें लेटकर उन्हींके कमल-नेत्रोंके करुणाश्रुओंसे स्नान और उनके ही श्रीमुखारविन्दका दर्शन करता हुआ तथा उनके ही श्रीमुखसे अमृत-वचन सुनता हुआ शरीर त्याग रहा हूँ, इसकी समानतामें) चारों फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) तुलते हों तो सरकार ही बतलावें, ताकि मैं जीवन धारण करूँ। श्रीरघुनाथजी इस कथनको यथार्थ मानकर कि सचमुच जटायुकी इस मृत्युकी तुलना चारों फलोंसे नहीं की जा सकती और ऐसी अनुपम योगिजनदुर्लभ मृत्यु न तो किसीकी हुई न आगे ही होगी, मौन हो गये और गृध्रराजका कथन स्वीकार कर लिया—'मौनं सम्मतिलक्षणम्'। इसी मृत्युकी सराहना श्रीगोस्वामिपाद-ने श्रीरामदोहावलीमें इन शब्दोंद्वारा की है—

प्रभुहि बिलोकत गोद गत सिय हित घायल नीच।
तुलसी पाई गीधपति मुकुति मनोहर मीच ॥२२२॥
बिरत, करम रत, भगत, मुनि सिद्ध ऊँच अरु नीच।
तुलसी सकल सिहात सुनि गीधराज की मीच ॥२२३॥
मुए, मरत, मरिहैं सकल घरी पहरके बीच।
लही न काहूँ आजु लौं गीधराज की मीच ॥२२४॥
मुए मुकुत, जीवत मुकुत, मुकुत मुकुतहूँ बीच।
तुलसी सबही तें अधिक गीधराज की मीच ॥२२५॥

'गृध्रराज जटायुको धन्य है, जो सीताजीको छुड़ानेके लिये घायल हुए और नीच शरीर होनेपर भी प्रभुकी गोदमें उनके मधुर मुखारविन्दको निरखते हुए ही मुक्तिमयी मनोहर मृत्यु प्राप्त की।

गृध्रराजकी ऐसी मृत्युका समाचार सुनकर विरक्त, कर्मकाण्डी, भक्त ज्ञानी, मुनि, सिद्ध, ऊँच और नीच—सभी उनकी ईर्ष्या करने लगे (मानो सबने चाहा कि हमारी भी ऐसी ही मृत्यु हो)। आजतक कितने मर गये, कितने मर रहे हैं और आगे घड़ी-पहरके अन्तरसे कितने मरेंगे परन्तु जटायुकी-सी मौत आजतक किसीकी नहीं हुई। कोई मरनेपर मुक्त होता है, कोई जीते ही मुक्त (जीवन्मुक्त) हो जाता है। मुक्त-मुक्तमें भी भेद होता है। परन्तु इन सारी मुक्तियोंसे भी जटायुकी मृत्यु सबसे बढ़कर है।'

इस प्रकार परमधामकी यात्राका निश्चय होते ही श्रीसरकारकी कृपासे गृध्रराज श्रीजटायुजीने तत्काल ही भगवत्-स्वरूपताको प्राप्त कर लिया और 'सजल नयन' से श्रीसरकारकी स्तुति करके श्रीवैकुण्ठ-धामके नित्य किङ्करोंमें जाकर निवास किया। पश्चात् श्रीप्रभुने अपने हाथोंसे ही उनका यथोचित संस्कार करके अपनी भक्तवत्सलताका परिचय दिया—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा ॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी ॥
अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरि धाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय !



श्रीरामचरितमानसका गुप्त तापस

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेज पुंज लघुबयस सुहावा॥
कबि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥
सजल नयन तनु पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥११०॥
राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारसु पावा॥
मनहुँ प्रेमु परमारथु दोऊ। मिलत धरें तन कह सबु कोऊ॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा॥
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही॥
पियत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥

उपर्युक्त प्रसङ्ग श्रीअवधकाण्डके अन्तर्गत १०९ वें दोहेके पश्चात् चौथी चौपाईसे आरम्भ होकर ११० वें दोहेके पश्चात् तीन चौपाइयोंमें वर्णित है; श्रीरघुनाथजीकी वनयात्रामें यमुनापार होते ही यह घटना हुई है। मूलपदान्तर्गत केवल 'एक तापसु आवा' इन शब्दोंके आधारपर श्रीरामायणके टीकाकारों तथा कथावाचक महानुभावों-द्वारा जो अनुमान प्रकट किये गये हैं, वे प्रायः इस प्रकार हैं—

(१) किन्हींका मत है कि वह तापस अग्निदेव थे, क्योंकि 'तेजपुंज' उन्हें कहा है।

(२) कोई कहते हैं कि वह तापस वाल्मीकि ऋषि थे, जो स्वागतार्थ आये थे।

(३) कुछ लोगोंका कहना है कि चित्रकूटगिरि ही तापस वेषमें स्वागतार्थ आये थे।*

(४) कोई कहते हैं कि वह तापस स्वयं सूर्यदेव थे, जिन्होंने तीन पथिकोंकी यात्रा निषिद्ध समझकर निजकुलोत्पन्न प्रभुके चौथे साथी होनेका प्रयत्न किया था।

(५) कोई कहते हैं कि महारामायणमें अगस्त्यजीके शिष्यका मिलना सुना जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि जब मूल पद ही महाकूट काव्य बन रहा है, जिसमें केवल पहेली-सी ही बुझायी गयी है, तो फिर अपनी-अपनी अटकल लगानेके सिवा और किया ही क्या जा सकता है?

---

* चित्रकूट अस श्रवन सुनि जमुन तीर भगवान।
बाल बिरागी वेष धरि गए लेन अगवान॥

परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि जिन श्रीगोस्वामीजीके निश्चित वाक्य ग्रन्थके आदिमें ही उनकी सम्मतिका स्पष्ट निर्देश कर रहे हैं, यथा—

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥१४(क)॥
(बालकाण्ड)

तथा साधारण बोधवाले भी इस महालाभसे वञ्चित न रह जायँ। अतः जिनकी सरल काव्य करनेकी प्रतिज्ञा 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई' से भी सूचित है—उन सर्वहितैषी सरलचित्त संतभूषण श्रीगोस्वामीजीके द्वारा ऐसे कूट प्रसङ्गकी रचना अकस्मात् और ऐसे अप्रासङ्गिक ढंगसे कैसे हो सकती है? इस विचारपर सूक्ष्म दृष्टि डालनेसे इसमें एक विलक्षण और अद्भुत भगवत्-भागवत-रहस्यकी तहका पता लगता है, जिससे परमकृपालु करुणाधाम चरित-नायक श्रीरघुनाथजीके वात्सल्य, विरद एवं विशुद्ध प्रेमी, सच्चे शरणागत चरितकार श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके अनन्य प्रेमकी 'सही' (प्रमाणता) विनय-पत्रिका—'तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ हाथ सही है'—की भाँति चरितार्थ हो जाती है।

श्रीरामचरितमानसके केवल एक अवधकाण्डको श्रीगोस्वामीजीने मुख्यतः 'निश्चल नियमपरायण' श्रीभरतलालका चरित जानकर 'देखि दसा मुनिराज लजाहीं' तथा 'भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं'—का ही प्रधान लक्ष्य करते हुए इस नियमके अनुसार रचा है कि ४ चौपाईपर १ दोहा और २४ दोहोंके उपरान्त २५ वें दोहेकी जगह १ छन्द तथा १ सोरठा रक्खा है।

बराबर इसी संख्याके अनुसार इस काण्डकी रचना हुई है । यद्यपि अन्य काण्डोंमें ऐसा नियम नहीं पाया जाता, परन्तु अवधकाण्डमें इस नियमके अनुसार ही कुल १३ छन्द और १३ सोरठे तथा ३१३ दोहोंकी संख्या पायी जाती है ।

उपर्युक्त संख्याओंका जोड़ देखते हुए दोहोंकी संख्या ३१२ की जगह ३१३ क्यों हो गयी है ? क्योंकि २४×१३=३१२ ही होते हैं । यह खटकनेकी बात है । विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इस उपर्युक्त तापसके ही प्रसङ्गवश (जो ४ चौपाई और १ दोहेका है) इसी स्थलके भागमें १ दोहेकी संख्या बढ़ाकर २४ की जगह २५ दोहेके पश्चात् छन्दकी रचना की गयी है । तात्पर्य यह कि इस प्रसङ्गके पूर्ववाला छन्द—'पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं ।' इत्यादि—जो चौथा है, ९६ दोहोंके पश्चात् है। यहाँतक २४-२४ दोहोंके बाद छन्द-संख्याय ४ तथा उसके पहलेकी दोहा-संख्या ९६ (२४×४=९६) ठीक ही है । इस प्रसङ्गका अगला छन्द ९६ से आगे २४ जोड़कर १२० दोहेके बाद होना चाहिये था । परन्तु १२० की जगह १२१ दोहेके पश्चात् ५ वाँ छन्द श्रीवाल्मीकिवचन—'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी' इत्यादि विद्यमान है । इन्हीं ४ थे और ५ वें छन्दोंके बीचमें १०९ दोहेपर यह तापस-प्रसङ्ग है और केवल इस तापस-प्रसङ्गवाले १ दोहेकी अधिकता छोड़कर आगे फिर काण्डभरमें पहलेकी भाँति वही २४-२४दोहोंका क्रम अन्ततक ठीक चला गया है ।

निष्कर्ष यह निकलता है कि यह तापस-प्रसङ्गका एक दोहा, 'जो ग्रन्थकारकी नियमित संख्यायुक्त रचनासे अधिक तथा उनके

रचित प्रसङ्गके बीचमें अप्रासङ्गिक घुसा हुआ पाया जाता है । इसके पूर्व और पश्चात्‌के ग्रन्थकाररचित पदोंका मेल भी स्पष्ट दीखता है । यथा 'तेहि अवसर एक तापसु आवा ।' के पूर्वकी चौपाई है—

सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं । रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं ॥

और इस प्रसङ्गके अन्तिम पद 'मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा' के पश्चात्‌की चौपाई है—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे । जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥

अर्थात् समस्त यमुनातीरवासी नर-नारी वनगमनका प्रसङ्ग सुनकर पछताते हैं कि राजा-रानीने अच्छा नहीं किया । स्त्रियाँ आपसमें कहती हैं कि 'हे सखी ! वे पिता–माता कैसे होंगे कि जिन्होंने ऐसे बालकोंको वनमें भेज दिया ?' 'कहहु सखि कैसे' यह वचन तापसका हो ही नहीं सकता । उसका प्रसङ्ग तो 'पिअत नयन पुट रूप पियूषा' अर्थात् दर्शनानन्द लेने लगा—यहीं समाप्त है । अतएव श्रीगोस्वामीजीद्वारा इस प्रसङ्गकी रचना न होनेकी और भी पुष्टि हो रही है । यदि ग्रन्थकारको किसीके भी आगमन या मिलनकी कथा रचनी होती तो उसका स्पष्ट नाम लिखनेमें क्या आपत्ति थी—चाहे वह अग्निदेव हों या वाल्मीकिजी, चित्रकूट ही हों या सूर्य-देव, अगस्त्यके शिष्य हों वा स्वयं अगस्त्यजी ही हों । क्या उपर्युक्त नामोंके उल्लेख न करनेका ग्रन्थमें कहीं किञ्चित् भी खयाल रक्खा गया है ? कदापि नहीं । बल्कि जब जहाँ प्रसङ्ग आया है, बराबर स्पष्ट नाम दिये गये हैं । प्रमाणार्थ एक-एक नामका एक-एक पद दिखा दिया जाता है । वैसे तो अनेक स्थलोंमें इन नामोंका उल्लेख पाया जाता है ।

अग्नि—प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें ।

वाल्मीकि—वाल्मीकि मन आनँदु भारी।

चित्रकूट—चित्रकूट गिरि करहु निवासू।

सूर्य—कौतुक देखि पतंग भुलाना।

{ अगस्त्य—मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना।
{ शिष्य—नाम सुतीछन रति भगवाना।

इन उल्लिखित व्यक्तियोंके सिवा और भी जिस किसीको रामचरितसे सम्बन्ध दिखाया गया है, उसका नाम भी आवश्यकतानुसार हर जगह अवश्य दिया है। फिर यहाँ तो ऐसा करना अति आवश्यक है, कारण कि जिसका इतने आह्लाद एवं प्रेमसे ८ चौपाई और १ दोहेमें मिलन-वर्णन किया गया हो, उसका नाम-पता न बताना कैसे सम्भव है? इसलिये ग्रन्थकारके लिये तो जानकर छिपाना असम्भव ही है। इसी प्रकार कविको मालूम न होना उससे भी अधिक आश्चर्यमय है, जब कि 'बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहिं मोहि जाना॥' से स्वयं परम प्रभुके मनका अनुमानतक भी ज्ञात हो गया है। क्योंकि अन्तर्यामी सूत्रधार श्रीरामजी शारदाको दारुनारि (कठपुतली) बनाकर 'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥'—अपने कृपापात्र कविजनोंके उरमें नृत्य कराते हैं तो उसकी जानकारीसे रचनाके प्रसङ्गका कौन अंग बाकी रह सकता है? अतः निश्चय मानना पड़ता है कि यह प्रसङ्ग ग्रन्थकारका स्वरचित होना सम्भव नहीं है। परन्तु आधुनिक क्षेपकोंकी भाँति ग्रन्थरचना हो जानेके पश्चात्‌का भी यह प्रसङ्ग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि सभी प्रामाणिक प्रतियोंमें पाये जानेके अतिरिक्त सबसे बड़ा प्रमाण इसके ग्रन्थके अन्तर्गत होनेका यह है

कि स्वयं ग्रन्थकारने ही इसे अपनी नियमित संख्यामें जोड़कर ग्रन्थका मूल स्वीकार कर लिया है। तात्पर्य, श्रीगोस्वामीजीके रचनाकालमें ही इस प्रसङ्गका बीचमें रचा जाना और किसी ऐसे पूज्यके द्वारा रचित होना सिद्ध होता है, जिसको ग्रन्थकारने हृदयसे स्वीकार कर अपने ग्रन्थमें मूलरूपसे माननेका एक आह्लादपूर्ण विषय बना लिया है। क्योंकि इसे प्रेम-भावानुसार ही ग्रन्थमें ज्यों-का-त्यों भगवत्-प्रसाद मानकर अचल स्थान देकर अपने नियम-भंगकी संख्या अङ्कित करनेमें भी हर्ष माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आगन्तुक तापस कोई ऐसा ही पुरुष है, जिसका नाम-पता देना उक्त प्रसङ्गके रचयिताके लिये किसी कारणविशेषसे सम्भव नहीं था और मिलन कराके पुनः वियोग करना भी सर्वथा अयोग्य—अनुचित समझा गया। इससे उसकी नित्य सन्निधि ही प्रमाणित कर दी गयी है—सो भी इस गौरवके साथ कि प्रकटमें आगे चलकर कहीं पता ही नहीं लगता, जैसा कि ग्रन्थकारके रचित पदोंसे स्पष्ट है। यथा—

चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई॥

× × ×

जे भरि नयन बिलोकहिं रामहि। सीता लखन सहित घनस्यामहि॥

× × ×

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकलहिं जाई॥

× × ×

राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी॥

× × ×

राम लखन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं मन मति चित लाई॥

उपर्युक्त पदोंसे सूचित है कि श्रीरघुनाथजी, श्रीलखनलाल और श्रीसीताजीके सिवा और कोई भी चौथा व्यक्ति साथ नहीं था। केवल तीन ही मूर्तियोंकी यात्राका बराबर प्रमाण मिलता है। बल्कि मार्ग-निवासी रक्षा और सेवाके लिये प्रार्थना करते हैं कि 'आप दोनों सुकुमार हैं, आपके साथ सुकुमारी नारी है और कोई सेवक-सहायक भी नहीं है। अतः आज्ञा हो तो हम साथ चलें और जहाँ जाना है, वहाँ पहुँचा आवें।' इस प्रमाणसे किसीका भी स्वागतार्थ आना या तीन पथिकोंकी जगह चार संख्या करनेके लिये सम्मिलित होना इत्यादि सभी अनुमान असङ्गत हो जाते हैं। फिर इस समयतक तो गुहजी भी साथ मौजूद थे, जिन्हें लेकर चारकी संख्या है ही। उनकी विदाईका प्रसङ्ग इसके आगेके दोहा १११ में है—

तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेइँ कीन्ह॥

बल्कि निषादका तो तापससे मिलना सिद्ध ही है अतः उनके रहते पाँच व्यक्ति मौजूद थे। अतएव अब यह स्पष्ट होनेकी बड़ी ही आवश्यकता है कि यह प्रसङ्ग किसके निमित्त और किस भावसे यहाँ आया है?

श्रीअयोध्याके प्रसिद्ध रामायणी वैकुण्ठवासी बाबा माधवदासजी—जो श्रीकाशी, चौकाघाटमें वरुणा-तीरपर निवास करते थे—इस 'दीन' से इस प्रसङ्गकी खोजपर सहमत थे; तथा मेरे परम कृपालु सद्गुरु श्री १०८ स्वामी परमहंसजी महाराज त्रिवेणी-बाँधगुफा प्रयाग-निवासीकी भी कृपा-अनुमति इसी प्रकार है कि यह

प्रसङ्ग किसी दूसरे व्यक्तिके सम्बन्धमें न होकर स्वयं श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके अन्तरङ्ग भावके साक्षात्कारका ही प्रमाण है। बात यह है कि जब ग्रन्थकार यमुना-पार होनेका चरित लिखकर वहाँके निकट (तट) वासी ग्रामीण मनुष्योंके आनन्द-की कथा, जो श्रीकृपालु प्रभु (श्रीसीता-राम-लक्ष्मण) के प्राप्त होनेसे उन्हें मिल रहा था, रचने लगे तो आपकी अपने निवास-स्थानके सम्बन्धसे करुणार्द्र चित्तवृत्तिमें एक प्रेमभाव उत्पन्न हो उठा। कारण कि जहाँ इस समय यमुनाजीके दक्षिण तटपर प्रभु पहुँचे हैं, वहीं राजापुर (जिला बाँदा)—श्रीगोस्वामीजीके निवास-से सम्बन्ध रखनेवाला स्थान है। बहुधा तो जीवनचरितद्वारा यही आपकी जन्मभूमि भी प्रमाणित है; परन्तु इतना तो निस्सन्देह है कि वहाँ आपका निवास अवश्य था, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण घाटकी माफी और सङ्कट-मोचनादि मन्दिरोंका होना तथा श्रीअवधकाण्ड रामचरितमानसकी प्राचीन प्रतिकी विद्यमानता है, जो श्रीतुलसी-मन्दिर राजापुरमें ही वर्तमान है।

श्रीग्रन्थकार इस भावको स्मरणकर भगवत्-प्रेममें मग्न हो गये कि 'यही भूमि है, जहाँ यह अभागा कलियुगमें प्रवासी बना; यदि कहीं त्रेतायुगमें ही इसका जन्म हुआ होता तो सम्पूर्ण ग्राम-वासियोंकी ही भाँति यह आत्मा भी मङ्गलमूर्तियोंकी साक्षात् सन्निधि प्राप्त कर कृतार्थ हो गया होता।' यह अनुराग-दशा इतनी गहरी तहतक पहुँची कि देहानुसन्धान जाता रहा और लेखनी हाथसे छूटकर गिर पड़ी। भक्तवत्सल भगवान् सच्चे प्रेमकी आर्तदशाका निरीक्षण कर, श्रीसुतीक्ष्णजीकी ही भाँति 'अतिसय प्रीति देखि

रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥'—अपने 'राम पुनीत प्रेम अनुगामी' विरदको सत्य करते हुए ग्रन्थकारके अन्तःकरणमें अनुज-जानकीसहित वल्कि निषादराजको भी सङ्ग लिये हुए प्रकट हो गये और जो कल्पना श्रीगोस्वामीजीके हृदयमें स्फुरण हो रही थी, उसीकी पूर्तिके लिये दूसरे ग्रामवासियोंकी ही भाँति हृदयानुसन्धानद्वारा मानसिक मिलन उसी प्रकार प्रदान कर दिया, जैसा इन ८ चौपाई और १ दोहेमें वर्णित है। तात्पर्य श्रीविरदपाल प्रभुने अपनी भक्तवत्सलतासे इस बातका पूर्ण सन्तोष प्रदान कर दिया कि ग्रन्थकारको कोई पश्चात्ताप न रह जाय, उनका भी मिलना स्वीकार है। श्रीरामचरितमानसमें यह स्थल अपूर्व और दिव्य है। जब श्रीगोस्वामीजी उस आनन्दको उपलब्ध कर सचेत होते हैं तो क्या देखते हैं कि वही बातें, जो आपको ध्यानमें स्फुरित हुईं, ग्रन्थमें आपके द्वारा रचित चौपाईसे आगे ८ चौपाई और १ दोहेमें ज्यों-का-त्यों लिखी विद्यमान है। इस दिव्य महाप्रदानका साक्षात्-कर गोस्वामीजी कृतकृत्य हो जाते हैं और अपनेको धन्य मान उस प्रसादको यथास्थान ज्यों-का-त्यों सुरक्षित कर उसे भी अपने ग्रन्थकी मूल संख्यामें जोड़ पहले छोड़ी हुई कथासे मिलाते हुए आगेका वर्णन आरम्भ करते हैं कि 'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'—इत्यादि। एक प्रमाण ग्रन्थकारकी मुग्ध-हृदयताका पोषक और भी है, जो उनके आनन्दकी सीमाका स्मरण करा रहा है वह यह कि इस दिव्य सुखानुभूतिसे जगनेपर उस प्रेमशिथिल हृदयसे नवीन पद रचनेकी चैतन्यता भी शिथिल हो गयी और अपना ही पूर्वरचित पद जो शृङ्गवेरपुर पहुँचनेपर दोहा ८८के

आगेकी चौपाईमें—'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए वन बालक ऐसे ॥' शृङ्गवेरपुरवासी नर-नारियोंके मुखसे कहला चुके थे, वही अक्षर-अक्षर फिर दोहरा उठे।

इस तापस-प्रसङ्गके शब्दार्थोंकी तारतम्यता विचारनेमें भी कोई खटकने लायक बेमेल बात नहीं प्रतीत होती। विरक्तवेष श्रीगोस्वामी-को 'तापस' कहना उचित ही है। 'तेजपुंज' ब्राह्मणशरीर स्वभावकर्मा-नुसार होता ही है। 'लघुवयस' 'बालक सुत सम दास अमानी'—इस वचनसे सिद्ध ही है। 'सुहावा' भजनानन्दका स्वरूप ही है। बेषु विरागी तो आप थे ही और आपके 'मन क्रम वचन राम अनुरागी' होनेके बारेमें क्या कहना है 'कवि अलखित गति' तो मानो इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहा गया है कि सचमुच यह दैहिक मिलन न होकर केवल मानसिक सन्निधिका ही प्रकरण है; जब श्रीमानसके कवि स्वयं ही देहानुसन्धानरहित (बेहोश) दशामें हैं, तभी तो उनमें लिखनेकी शक्ति नहीं है अतएव 'अलखित गति' यथार्थ सङ्गत है। 'सजल नयन तनु पुलक' आदि सात्त्विक-भाव प्रेम-दशामें होते ही हैं। 'प्रेम और परमारथ' के मिलनकी उपमा भी गोस्वामीजी और सरकारके लिये सर्वथा सार्थक है। श्रीलखनलालके पग लगना तथा श्रीसीताचरण-रजको मातृभावानुसार शीश धरना ग्रन्थकारके ही भावोंके द्योतक हैं। निषादराजका वर्णाश्रम-धर्मानुसार ब्राह्मण, संतवेष एवं विरक्त श्रीगोस्वामी-जीको मर्यादा देना मर्यादापुरुषोत्तमको अभीष्ट ही है। 'पिअत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा ॥' के भावनार्थ तो करुणा ही उठी थीं, जो सदा अनन्तरूपसे प्रदान की गयी है। इस प्रकार

प्रत्येक शब्द श्रीगोस्वामीजीके ही लिये सङ्गत हो जाता है। अतएव जिस प्रकार विनय-पत्रिकाके अन्तिम पद—

मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहुँ नाथ नाम सों परतीति प्रीति एक किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है।
कृपा गरीबनिवाज की देखत गरीब की साहेब बाँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैंहूँ लही है।
मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ हाथ सही है॥

—से श्रीरामदरबारकी सही प्राप्त है तथा श्रीरामगीतावली आदि अपर ग्रन्थोंके मार्मिक पदों—

राम लखन रिपुदवन भरत के चरित्त सरित अन्हवैया।
तुलसी तब के से अजहुँ जानिए रघुबर नगर बसैया॥

तथा—

तुलसी राम बिमल जस बरनत सो समाज उर आनी।

—द्वारा भी इस रहस्यकी पुष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीराम-चरितमानसके अन्तर्गत यह प्रसङ्ग अनन्यभक्तिभूषण गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके ही प्रेम-मिलनके परमानन्दकी सही है। किसी अन्य व्यक्तिके आनेकी भिन्न कथा नहीं है। इसे भगवद्भक्त कदापि आश्चर्य न मान भगवान् शिवजीके इस वचनपर विश्वास कर मग्नचित्त होनेकी श्रद्धा करें—

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!



श्रीसुतीक्ष्णजीकी प्रेमा-भक्ति

श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डान्तर्गत श्रीसुतीक्ष्ण मुनिके प्रसङ्गकी आलोचना करनेपर आपमें नवधा, प्रेमा, परा आदि सभी प्रकारकी भक्तियोंका आदर्श तथा सगुणोपासनाके अनेक रहस्य स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। नवधा भक्तिके नौ भेद इस प्रकार माने गये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

श्रीसुतीक्ष्णजीमें भक्तिके ये नवों भेद इस प्रकार पाये जाते हैं—

(१) श्रवण—प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा।

(२) कीर्तन—कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।

(३) स्मरण—हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥

(४) पाद-सेवन—परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।

(५) अर्चन—निज आश्रम प्रभु आनि करि पूजा बिबिध प्रकार।

(६) वन्दना—कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।
अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी॥

(७) दास्य—मन क्रम बचन राम पद सेवक।

(८) सख्य—मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।

(९) आत्मनिवेदन—को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।

प्रेमा—अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।

परा—मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

मानसमें नवधा भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है। एक तो उपर्युक्त भागवत-कथित है, जो श्रीलक्ष्मणगीताके प्रसङ्गमें आयी है।

जब लक्ष्मणजीने ईश्वर-जीवादिका भेद पूछते समय भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना की थी कि 'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया,' तब उसके उत्तरमें कहा गया था कि—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

पुनः—

भगति कि साधन कहउँ बखानी। ....

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। ....॥

यहाँ पहली नवधा भक्तिका लक्ष्य है। यह उस भक्तके लिये है, जो संत-शरण नहीं प्राप्त कर सकता हो, अर्थात् गृहस्थाश्रम त्याग कर अपनेको संत-सेवामें लगा उनकी कृपाका भागी न हो सकता हो। ऐसा भक्त वर्णाश्रमधर्मका पालन करता हुआ विप्र-चरणोंमें निष्ठा कर उसके फलस्वरूप विषयोंसे वैरागी बन उपर्युक्त श्रवण आदि भक्तियोंके द्वारा क्रमशः प्रेमा और परा भक्तिको प्राप्त होकर कृतार्थ हो जाता है।

दूसरी नवधा भक्ति श्रीमुखद्वारा ही श्रीशबरीजीके प्रति यों कही गयी है—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥

सातवँ सम मोहि मय जग देखा । मो तें संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥

यह नवधा भक्ति, जब साधक-संतके सर्वथा अनुकूल हो जाती है तथा उसमें जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १ । १ । १), तब सद्गुरुका संयोग होनेसे (तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्——मुण्डक० १ । २ । १२) उत्पन्न होती है । अर्थात् गृहस्थाश्रमसे उपरत चित्त एवं निवृत्तिमार्गकी दृढ़ उत्कण्ठासहित सर्वतोभावेन विरक्त संतके शरण होकर उसके सान्निध्यमें उपस्थित रह सेवामें रत रहना संत-संगरूप प्रथम भक्ति है । उस संत गुरुदेवसे भगवत्-कथा सुन-सुनकर जब उसमें रति होती है तो वह दूसरी भक्ति कहलाती है । तीसरी भक्ति कथा आदिके श्रवणका सुख मिलते-मिलते गुरुमें अधिक प्रेम होकर उनके पद-कमलकी सेवा होना है । चौथी भक्ति श्रवण करते-करते गुणगान करनेकी उत्कण्ठा होनेपर निष्कपटरूपसे स्वयं गुण-गान करने लगना है । पाँचवीं भक्ति श्रीगुरुदेवसे प्राप्त राम-मन्त्रके जापमें दृढ़ विश्वासपूर्वक आरूढ़ होना है । सत्संगके प्रभावसे इन्द्रियोंका दमन और नानाविध कर्मोंकी प्रवृत्तिसे वैराग्य होकर सत्-धर्ममें मन लगना छठी भक्ति है । सातवीं राग-द्वेषकी निवृत्ति होकर समबुद्धि होना और जगत्का भगवद्रूप ही दीखना है । इस समय संतोंमें अधिक निष्ठा हो जाती है । आठवीं जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष होकर दोषदृष्टिका आत्यन्तिक त्याग होना है । नवीं भक्ति चित्तकी सरलता, सबसे निश्छल व्यवहार, केवल भगवान्का भरोसा करना और हृदयका हर्ष-विषाद एवं दीनतासे रहित हो जाना है ।

विरक्त भक्त शबरीके प्रति कही गयी इस भक्तिके द्वारा तथा अनुरक्त भक्त लक्ष्मणके प्रति उपदिष्ट भक्तिके द्वारा प्रेमा एवं परा भक्तिको प्राप्त कर सकते हैं, रामायणमें दोनोंके वर्णन करनेका यही अर्थ है।

अब श्रीसुतीक्ष्णजीकी योग्यता, नम्रता एवं दीनता विचारने योग्य है—

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

भक्तिकी पराकाष्ठाके यही लक्षण हैं। श्रीसुतीक्ष्णजी किसी कारणवश अपने गुरुदेव महर्षि अगस्त्यजीसे विद्या पढ़ चुकनेके बादसे ही अलग रहनेके लिये विवश हो गये थे। वह कारण आगे मालूम हो जायगा। संत-समागमका सुयोग न पानेके कारण ही आपमें श्रवणादि नवधा भक्तिकी ही तारतम्यता पायी जाती है।

श्रीसुतीक्ष्णजी जब प्रभु-आगमन सुनकर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये, तब श्रीरघुनाथजी आपकी अतिशय प्रीति देखकर—पैदल चलकर पास पहुँचनेमें देर होती जान तथा ऐसी परम प्रेमदशामें तत्काल प्राप्त न होनेसे अपना विरद झूठा होता देख त्वराके कारण हृदयमें ही प्रकट हो ध्यानद्वारा साक्षात् हो गये। फिर क्या था—

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

श्रीसुतीक्ष्णजी हृदयमें ही सरकारको पाकर रोमाञ्चित हो मार्गमें ही अचल होकर बैठ गये। जब श्रीरघुनाथजी निकट आ गये और बहुत प्रकारसे जगाने लगे तो ध्यानजनित सुखकी समाधिके कारण

मुनि नहीं जागे। तब विरद-संभारन पुनीत-प्रेमानुगामी प्रभु श्रीराम—जिन्होंने पैदल चलकर आनेमें कुछ विलम्ब होता देख प्रेमविवश हो प्रेमीके हृदयमें ही प्रकट होकर अपना विरद सँभाला था—भला, उसके हृदयमेंसे उसका प्रेम ज्यों-का-त्यों रहते सर्वथा कैसे निकल सकते थे ? अत:

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा॥

भगवान् अपने लीला-अवतार-विग्रह राजपुत्र-रूपको छिपाकर अपने ही नित्य अवतारी विग्रह चतुर्भुजरूपसे हृदयमें दर्शन देते हैं, जिससे अवताररूप दाशरथि रामके द्विभुज रूपके उपासक सुतीक्ष्ण-जी घबराकर जग भी जायँ और भगवान् अपने दूसरे नित्यरूपसे हृदयमें बने भी रहें। वैसा ही हुआ भी—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिबर जैसें॥

जैसे मणिधर सर्प मणिहीन हो जानेपर विकल हो उठता है, वैसे ही राम-रूप छिप जानेसे सुतीक्ष्णजी अकुला उठे। यहाँ मुनिको चतुर्भुज रूपका द्वेषी बताना अपनी अल्पज्ञताको ही सूचित करना है। कारण, यह उपमा ही इस प्रसङ्गको स्पष्ट कर रही है कि साँप मणिके जानेसे विकल होता है, न कि किसी चीजको देखनेसे। सुतीक्ष्णजी 'भूप-रूपके दुराने' से विकल हुए हैं न कि चतुर्भुज रूपको देखनेसे। भला जो नित्य विग्रहके अवतारका प्रेमी होगा वह अवतारी स्वरूपसे द्वेष क्यों करेगा ? कहीं अवतारी और अवतारमें भी कोई भक्त द्वैत-बुद्धि कर सकता है ? कदापि नहीं। देखिये श्रीसुतीक्ष्णजीका ही वचन यहाँ ऐक्यका प्रमाण दे रहा है—

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदयँ निरंतर बासी॥

तदपि अनुज श्री सहित खरारी । बसतु मनसि मम काननचारी ॥

इन्होंने जिनसे सब कुछ सीखा था, उन गुरुदेव अगस्त्यजीके भी ऐसे ही अभेदके वचन हैं—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता । अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ । पुनि पुनि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ॥

ऐसे ऐक्यके बोधमें द्वैप कैसे सम्भव है ?

जैसे ही श्रीसुतीक्ष्णजी अकुलाकर जगे, वैसे ही सामने श्रीसीता और लखनलालजीसहित श्रीरघुनाथजीको देखकर—

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी । प्रेम मगन मुनिवर बड़ भागी ॥

जैसे हाथसे छोड़ देनेपर छड़ी बेलाग—शीघ्रतासे पृथ्वीपर गिर पड़ती है, वैसे ही वे बेसुध होकर चरणोंपर गिर पड़े । 'दंड इव' न कहकर 'लकुट इव' कहनेसे उनका कृश-गात होना सूचित किया गया है । श्रीस्वायम्भुवमनुके प्रसङ्गमें—

'परे दंड इव गहि पद पानी'

कहकर—

हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए । मानहुँ अबहिं भवन ते आए ॥

—सूचित किया गया था ।

कृपालु भगवान्‌ने उन्हें अपनी विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया; उस समय ऐसी शोभा हुई मानो तमाल-तरुसे कनक-लता भेंट रही हो । यहाँ श्रीमुनिजीके गौर शरीर तथा श्रीसरकारके श्याम तनुकी तारतम्यता की गयी है । मुनि भगवान्‌को आश्रमपर लाकर विविध प्रकारसे उनकी पूजा कर बोले, 'प्रभो ! सरकारकी महिमा अमित है और मेरी बुद्धि तुच्छ है; मैं किस प्रकार

स्तुति करूँ ?' मुनिने सात चौपाइयोंमें ऐसी दीनतासे स्तुति समाप्त की है कि प्रत्येक चौपाईके अन्तिम चरणोंमें एक वार 'नौमि' तो दूसरी वार 'त्रातु' शब्द क्रमपूर्वक आते गये हैं। जिन पदोंमें स्वरूपके सौन्दर्यका कथन है, उनके अन्तमें नमस्कारात्मक 'नौमि' तथा जिन पदोंमें विरद कथित है, उनके अन्तमें रक्षात्मक 'त्रातु' शब्द बराबर आया है। इस अपूर्व भावके अतिरिक्त एक विशेष बात यह भी है कि 'नौमि' के कर्तारूप अहंके आरोपको भी 'त्रातु'से सँभाला गया है अर्थात् 'मैं किसी योग्य नहीं हूँ'—अपने इस निश्चयकी पुष्टि 'त्रातु' से करते जा रहे हैं कि कहीं भूलकर भी यह भाव न आ जाय कि मैं स्तुतिका कर्ता हूँ। धन्य है ऐसी दीनता !

अब आपकी अभीष्ट याचनाका रहस्य देखिये—

आप सगुणध्यानके बड़े प्रेमी हैं, अतः यही वर माँगते हैं कि 'भगवन् ! यद्यपि आप एक अन्तर्यामी व्यापकरूपसे तो सबके हृदयमें बसते ही हैं, तथापि मेरे मानसमें तो इसी वनमें विचरनेवाले रूपसे श्रीसीता-लखनलालजीसहित निवास कीजिये।' परन्तु प्राप्तिमें विघ्नकी शङ्कासे डरनेवाले आर्त याचककी तरह श्रीसुतीक्ष्णजीने सोचा कि "'काननचारी' संकेत देकर श्रीअवतार-विग्रहको तो मैंने निश्चित कर लिया, पर काननमें विचरना तो केवल चौदह वर्षोंके लिये ही है। कहीं ऐसा न हो कि सरकारके काननसे लौटकर राज्यासीन होनेपर जटाजूट उतारकर किरीट, मुकुट आदि धारण करनेसे प्रभुका 'काननचारी' रूप न रहनेके कारण मेरे हृदयसे भी ध्यानका तिरोभाव हो जाय।" अतः पुनः सँभाल लेते हैं—

जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

यहाँ 'कोसलपति' और 'रघुपति' शब्दोंसे वह कसर पूरी कर दी गयी है।

श्रीलीलाधाम प्रभुने देखा कि 'मुनिजी थोड़ी देर पहले तो ध्यानमें इतने मग्न थे कि मेरे जगानेपर भी नहीं जागते थे, परन्तु इस समय उनकी याचनामें कितनी दूरकी सोच-सँभाल प्रकट होती है। अतः इन्हें और सचेतकर अवसर दे अति आर्तताके रहस्यका आनन्द लेना चाहिये।' भगवान् भी भक्तोंके साथ विनोद करनेमें वैसे ही सुखी होते हैं, जैसे भक्त भगवान्‌की लीलामें। भगवान् श्रीमुखसे बोले—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥

'मुने! और भी जो कुछ चाहते हो, सो माँगनेमें कसर न करो; मैं सब कुछ देनेको तैयार हूँ।

सुतीक्ष्णजीने विचारा, 'मालूम होता है माँगनेमें अब भी कोई-न-कोई कसर रह गयी है, तभी तो प्रभुजी ऐसे कह रहे हैं। अहा! मैं अल्पज्ञ जीव कहाँतक सोच-विचार कर सकता हूँ। उचित और उत्तम तो यही है कि प्रभुके ही ऊपर छोड़कर अपने अभीष्टको सर्वाङ्ग पुष्ट कर लूँ।' अतः मुनि बोले—

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

तब श्रीसरकारने यह कौतुक किया कि और तो सब प्रकारके उत्तम वर दे दिये, पर ध्यानका प्रसङ्ग यह देखनेके लिये नहीं आने

दिया कि मुनिजीको वास्तवमें तो ध्यानकी ही आतुरता है, देखें उसके अभावमें ये क्या सोचते हैं। प्रभु बोले—

अविरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥

यह सुन सुतीक्ष्णजी व्याकुल-चित्त हो सोचने लगे कि 'और सब कुछ तो सरकार दे रहे हैं; परन्तु मैंने जो सतत ध्यानका मुख्य वर माँगा था, उसकी तो चर्चा भी नहीं की। उसी कमीको तो पूरी करनेकी बात थी।' फिर सोचने लगे कि प्रभुने जिस त्रुटिको सुधारनेके लिये अवसर दिया था, वह तो यही है कि कोसलपति या रघुपतिस्वरूप तो अवधिबद्ध ही है—

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥
(वा० रा०)

प्रभु ग्यारह हजार वर्षतक ही तो कोसलपतिरूपसे रहेंगे। पीछे परमधाम पधारनेके बाद ऐसा न हो कि श्रीराज्यासीनरूपका ध्यान भी हृदयसे तिरोहित हो जाय। इसलिये मुनिने पुनः याचना की—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

'धनुष-बाणधारी प्रभो! आप निष्काम (स्थिर) होकर श्रीलखनलालजी और श्रीसीताजीसहित मेरे हृदयमें आकाशचन्द्रवत् सदैव निवास करें। यही मेरी कामना है।' तब श्रीसरकार—

एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा॥

—हर्षित हो 'एवमस्तु' कह अगस्त्यजीके पास चले ।

अब सुतीक्ष्णजीका अपने गुरुवर्य श्रीअगस्त्यजीसे पृथक् रहनेका कारण सुनिये । आप पहले जब विद्याध्ययन करते थे, तब सब कुछ पढ़ चुकनेपर आपने गुरुजीको गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये बहुत मजबूर किया । गुरुजीने बार-बार कहा कि 'हम तुम्हें यों ही उऋण कर देते हैं, तुम गुरुदक्षिणाका हठ न करो ।' परन्तु जब आपने किसी प्रकार आग्रह करना नहीं छोड़ा तो अगस्त्यजी सरोष होकर बोले कि 'नहीं मानते हो तो जाओ, दक्षिणामें श्रीरामजीको लाकर मुझसे मिलाओ ।'

तभीसे सुतीक्ष्णजी वहाँसे चले आये और श्रीसरकारकी प्राप्तिके लिये अरण्यमें भजन करने लगे । उस बातके कारण लौटकर गुरुदेवके पास नहीं गये । इसीलिये श्रीरघुनाथजीका वन-आगमन सुनकर आप और भी अधिक प्रेममग्न हो नाचने लगे थे ।

जब प्रभु चलने लगे तो सुतीक्ष्णजी बोले—

बहुत दिवस गुर दरसनु पाएँ । भए मोहि एहिं आश्रम आएँ ॥
अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं । तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं ॥

'नाथ ! मुझे इस आश्रममें आये बहुत दिन हो गये । मैंने बहुत दिनोंसे गुरुजीके दर्शन नहीं पाये । प्रभुके संग मैं भी चलूँ ! इसमें सरकारपर कोई अहसान नहीं है; मै तो अपने प्रयोजनसे चलना चाहता हूँ ।'

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई । लिए संग बिहसे द्वौ भाई ॥

कृपानिधान श्रीरामजी मर्मको जान गये । दोनों भाई हँस पड़े एवं मुनिको साथ ले लिया और—

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा॥

जब अगस्त्यजीके आश्रमके निकट पहुँच गये; तब—

तुरत सुतीछन गुर पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ॥
नाथ कोसलाधीस कुमारा। आए मिलन जगत आधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिनु देव जपत हहु जेही॥

श्रीसुतीक्ष्णजीने तुरंत आगे बढ़कर गुरुदक्षिणासे उऋण होनेके लिये अपने गुरुदेवके पास जा दण्डवत् की और 'देव! आप जिन तीन मूर्तियोंका रात-दिन जाप करते हैं, वे श्रीजानकीजी और लखनलालसहित भगवान् रामचन्द्रजी आपसे मिलने आ पहुँचे हैं, कहकर अपने ऋणको व्याजसहित चुका दिया।

सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥

श्रीअगस्त्यजी सुनते ही दौड़े और दर्शन पाकर प्रेममग्न हो गये। इस प्रकार मुनि सुतीक्ष्णजी गुरु-ऋणसे मुक्त हो गये।

उसकी प्रेमा-भक्ति अनुपम और परम सराहनीय है, जिसने अपने प्रभुको प्रेमके बलसे सचमुच प्राप्त कर दक्षिणाका धन बना दिया।

इस प्रसङ्गसे भक्तिके सम्पूर्ण अङ्गों तथा उपासनाके गूढ़ प्रभाव एवं आर्त प्रेमके रहस्यके सिवा एक और भी भारी उपदेश मिलता है। वह यह कि गुरु और शिष्यके बीच यदि दक्षिणा लेने-देनेका व्यवहार हो तो शिष्यसे ऐसी ही सेवाकी भेंट माँगी जाय।

वह शिष्य धन्य है, जो ऐसे सत्य कर्मका सौभाग्य प्राप्त कर स्वयं भी कृतार्थ होता है और अपने गुरुदेवको भी कृतकार्य कर सन्तुष्ट कर देता है।

श्रीशबरीजीकी भक्ति

श्रीरामचरितमानसमें कबन्ध-उद्धारके पश्चात् शबरी-मिलनका प्रसङ्ग—

ताहि देइ गति राम उदारा। सबरी कें आश्रम पगु धारा॥

—इस अर्द्धालीसे आरम्भ होकर निम्नलिखित दोहेपर समाप्त होता है—

जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि॥

(अर० ३६)

उपर्युक्त अर्द्धालीके 'राम उदारा' पदसे भगवान्‌की गति देनेकी उदारता सूचित की गयी है। यथा—

'देखि दुखी निज धाम पठावा।' (विराध)
'राम कृपाँ बैकुंठ सिधारा।' (शरभङ्गजी)
'पावहिं पद निर्बान।' (खर-दूषणादि)
'मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना।' (मारीच)
'गीध गयउ हरि धाम।' (जटायु)
'गयउ गगन आपनि गति पाई।' (कबन्ध)

इस प्रकार सबको परमगति प्रदान करते हुए उदारशिरोमणि भगवान् शबरीको भी गति देनेके लिये उसके आश्रममें पधारे। 'आश्रम' शब्दसे शबरीजीका विरक्त होना सूचित किया गया है; क्योंकि वनमें बहुत-से कोल-किरात आदि भी निवास करते हैं; परन्तु उनके घरोंको कभी 'आश्रम' नहीं कहा जाता। शबरीजी मन, वचन और शरीर—सर्वाङ्गसे श्रीभगवान्‌के शुद्ध प्रेममें सराबोर थीं। इस बातका लक्ष्य निम्न पदोंसे कराया गया है। यथा—'प्रेम मगन' पदसे शबरीजीके मनकी, 'मुख बचन न आवा' से वचनकी और 'पद सरोज सिर नावा' से कायाकी दशा सूचित की गयी है। 'सबरी परी चरन लपटाई' से उनकी प्रेम-विह्वलता भी सूचित होती है, ठीक वैसी ही जैसी माता कौसल्याजीकी प्रेम-विह्वलता दर्शायी गयी है—'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी।' वस्तुतः भगवान्‌में शबरीजीकी निष्ठा, माता कौसल्याजीके समान ही, वात्सल्यभावकी थी। यह बात श्रीरामगीतावली (अरण्यकाण्ड) की पद-संख्या १७ में स्पष्टतः प्रमाणित है—

अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंब हित सब आनि कै।
सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानि कै॥

....

सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के।

और आगे चलकर—

तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपनें हाथ जल अंजलि दई॥

'जैसे माता अपने बच्चेके लिये अच्छी प्रकार चीजें संग्रह करके रखती है, वैसे ही उसने वे सुन्दर फल भगवान्‌के लिये लाकर उन्हें मानो अमृतसे हजारोंगुने सुन्दर स्नेहके रसमें डुबाकर रक्खा।'

....

'श्रीरामजी भावके भूखे हैं। इसलिये उन्होंने भाई लक्ष्मणजीके सहित उसका माताके समान आदर किया।'

....

'श्रीरघुनाथजीने उसे माताके समान अपने हाथोंसे जलाञ्जलि दी।'

यह पूरा पद पढ़ने योग्य है। इस पदके प्रथम भागमें शबरीजीकी दैनिक चर्चाका वर्णन है। जिस दिन श्रीमतङ्ग ऋषिद्वारा उन्हें यह आदेश मिला कि श्रीरघुनाथजी इसी आश्रममें अवश्य आकर मिलेंगे, उसी दिनसे वे प्रतिदिन सवेरे सोकर उठते ही यह निश्चय करतीं कि 'भगवान् आज अवश्य पधारेंगे।' फिर आश्रमको झाड़-बुहारकर स्वागतकी तैयारी करतीं, अच्छे-अच्छे मीठे-मीठे फल-मूल पत्तोंके दोनोंमें सजाकर रखतीं और बार-बार बाहर आकर श्रीरघुनाथजीकी बाट जोहतीं। इस प्रकार भगवान्‌की प्रतीक्षामें ही

उनके दिन बीतते थे। श्रीगुरुके वचनोंमें परम प्रतीति होनेके कारण उनका हृदय राम-पद-पङ्कजके 'नित नव प्रेम' से भर रहा था, जीवन प्रेमानन्दमय हो रहा था। इसीलिये उक्त पदका आरम्भ—

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन बाहु।
सगुन सुहावने सूचत मुनि मन अगम उछाहु॥

—से किया गया है। श्रीमानसमें भी जहाँ प्रभुकी प्राप्तिका प्रकरण है, वहाँ भी शबरीजी श्रीमतङ्ग ऋषिके ही वाक्योंको समझकर कृतार्थ हो रही हैं। यथा—

सबरी देखि राम गृह आए। मुनि के बचन समुझि जिय भाए॥

सारांश यह कि शबरीजीको जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह सब संतकी अनुकूलताका ही प्रसाद है। शबरीजीके प्रति श्रीमुखसे जिस नवधा भक्तिका कथन किया गया है और जिसका प्रमाण-पत्र उन्हें 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें' इन शब्दोंद्वारा दिया गया है, वह निवृत्तिमार्गियोंकी ही नवधा भक्ति है। और उसके लिये पञ्चवटीमें श्रीलखनलालजीद्वारा प्रश्न होनेपर श्रीमुखसे प्रथम ही यह संकेत भी किया जा चुका है कि—

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥

अस्तु, वही सुयोग श्रीशबरीजीको लग गया था। श्रीशबरीजीने संतशिरोमणि महर्षि श्रीमतङ्ग मुनिजी महाराजकी शरणागति प्राप्त कर ली थी और वे भी उसे स्वीकार करके उनके अनुकूल हो गये थे; अतएव यहाँकी नवधा भक्तिका आरम्भ भी 'प्रथम भगति संतन्ह

कर संगा' से ही किया गया है। तात्पर्य यह कि जब कोई बड़भागी जीव अपनी प्रवृत्ति ('जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई ॥') का त्याग करके विरक्त हो जाता है और किन्हीं सच्चे संत-सद्गुरुकी शरण ग्रहण कर लेता है तो वही उसकी प्रथम भक्ति होती है, दूसरी भक्ति जब संत-सद्गुरु श्रीराम-कथा (जो संतोंका जीवन-प्राण है) का श्रवण कराने लगते हैं, तब उसमें 'रति' (प्रेम) होनेको कहते हैं—'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।' तीसरी भक्ति मानरहित होकर उन संत-सद्गुरुके चरणकमलों-की सेवा करना है—'गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।' चौथी भक्ति भगवान्के गुणोंका स्वयं निष्कपटभावसे गायन करना है—'चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।' अर्थात् जब श्रीगुरुकी सेवा-संगतिमें सदा रहते-रहते और उनके मुखसे श्रीभगवान्का यश सुनते-सुनते 'भरेउ सुमानस सुथल थिराना' तथा 'उमगेउ प्रेम प्रमोध प्रबाहू' की स्थिति हो जाय एवं निज मुखसे भी श्रीरामयशका गान होने लगे, तब चौथी भक्ति सम्पन्न होती है।

जब शरणागत मुमुक्षु इन चार प्रकारकी भक्तियोंसे सम्पन्न हो जाता है, तब संत-सद्गुरु उसे अधिकारी जानकर श्रीराम-मन्त्रकी दीक्षा देते हैं। अतः श्रीरघुनाथजी शबरीजीसे अपने मन्त्रका दृढ़ विश्वासके साथ जप करनेको पाँचवीं भक्ति बतला रहे हैं—'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥' छठी भक्ति इन्द्रियोंका दमन, बहुमुखी कर्मोंकी प्रवृत्तिसे वैराग्य और सज्जनधर्म (भगवदा-राधन आदि) के पालनमें सर्वदा-तत्पर रहना बतलायी गयी है—

'छठ दम सील बिरति बहु करमा । निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥' तात्पर्य यह कि गृहस्थीके जंजालमें, कर्मोंके प्रपञ्चमें विशेष प्रवृत्ति होनेका जो अभ्यास है, उसे रोककर तथा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे एकदम हटाकर संत-स्वभाव ('पर उपकार बचन मन काया') का पालन एवं भगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धामादिकी ही सेवा—भजन-पूजनमें समय व्यतीत होने लगना छठी भक्ति है । सातवीं भक्ति समस्त जगत्‌को राममय देखना, सभीके प्रति समान भाव रखना, पर संतोंको सबसे बढ़कर ('मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥') मानना है । यथा—'सातवँ सम मोहि मय जग देखा । मोतें संत अधिक करि लेखा ॥' यहाँ भी संत सद्‌गुरुकी महामहिमाका वर्णन यह भाव सूचित करता है कि भगवान्‌की प्राप्तिके साधन संत ही हैं । आठवीं भक्ति यदृच्छालाभसंतोष अर्थात् जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहना और स्वप्नमें भी पराये दोषको न देखना बतायी गयी है—'आठवँ जथालाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥' अर्थात् भक्तिकी आठवीं सीढ़ीतक पहुँचनेपर शरणागत शिष्यकी भी संत-वृत्ति बन जाती है । उसे बिना कोई उद्योग किये अनिच्छितरूपसे जो प्राप्त होता रहता है, उसीको वह अपने शरीरका प्रारब्ध मानकर उसीसे अघाये रहता है और भूलकर भी किसी जीवमें दोष-दृष्टि नहीं करता, बल्कि 'अवगुन में गुन गहनि सदा है' की वृत्ति रखता है । अतः कृपाधाम श्रीभगवान् इन वृत्तियोंको भी अपना भजन मानते हैं और इसे आठवीं भक्ति बतलाते हैं । अन्तमें श्रीप्रभुजी अपनी नवीं भक्तिके लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—'स्वभावसे सरल होना (किसीसे भी कठोर व्यवहार

न करना), मनसे निश्छल होना (कपटका लेश भी न होना) जैसा कि उत्तरकाण्डमें अवधपुरवासियोंको उपदेश किया गया है—'सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथालाभ संतोष सदाई ॥' और मेरे ही भरोसेपर दृढ़ रहकर हृदयमें किञ्चित् भी हर्ष-विषादका अनुभव न करना । यथा—'नवम सरल सब सन छल हीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥'

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'शबरी ! इन नौ भक्तियोंमेंसे एक भी भक्ति जिसे प्राप्त हो वह स्त्री-पुरुष, जड़-चेतन—कोई भी हो, मुझे अत्यन्त प्रिय है; फिर तुममें तो ये नवों भक्तियाँ दृढ़रूपसे विद्यमान हैं । यथा—

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥

यहाँ 'एकउ जिन्ह कें होई' और 'सचराचर कोई' से जीवमात्रको भक्तिका अधिकारी बतलाया गया है—चाहे वह गृहस्थ हो या निवृत्तिमार्गी, चेतन हो या अचेतन ! परन्तु उपर्युक्त नव प्रकारकी भक्तियोंका एकत्र संयोग किन्हीं निवृत्तिपरायण साधुमें ही और वह भी संत-सद्गुरुकी अनुकूलतासे ही होता है, जैसा कि श्रीशबरीजीमें श्रीमतङ्ग ऋषिकी शरणागतिसे हुआ था—'मिलइ जो संत होइ अनुकूला ।' परन्तु जिस जीवको इन नौ भक्तियोंकी प्राप्तिका सुयोग न हो, उनके लिये श्रीप्रभुने उसी काण्डमें पहले ही लखनलालजीसे प्रवृत्तिमार्गीके लिये श्रवणादि नौ भक्तियोंके साधन बतला दिये हैं । यथा—'भगति कि साधन कहउँ बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥' भगवान् कहते हैं कि वह प्रवृत्त जीव अपने

वर्णाश्रम-धर्मके पालनमें नित्य निरत रहकर पहले ब्राह्मणोंमें प्रेमनिष्ठा करे। उस पुण्यका फल यह होगा कि उसे विषयोंसे स्वतः वैराग्य हो जायगा, फिर वह भगवान्‌के चरणोंका अनुरागी हो जायगा और उसमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन---ये दूसरे प्रकारकी नवों भक्तियाँ, जो श्रीमद्भागवतमें वर्णित हैं, दृढ़ हो जायँगी। यथा--

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

निष्कर्ष यह कि श्रीमानसमें श्रीमुखसे ही दो स्थलोंपर पृथक्-पृथक्‌रूपसे जो दो प्रकारकी नवधा भक्तियोंका वर्णन हुआ है, उनमें वड़ी गम्भीरताके साथ लक्ष्मणजीके प्रति गृहस्थोंके लिये श्रवणादि नौ भक्तियोंका और शबरीजीके प्रति विरक्तोंके लिये सत्संगादि नौ भक्तियोंका कथन करके भक्तिमार्गके दो सुन्दर सुगम विभाग कर दिये गये हैं। यद्यपि श्रीलक्ष्मणजीके प्रति कही गयी 'भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥'—यह अर्द्धाली भी सत्संगादि नौ प्रकारकी भक्तिके लिये ही बीजरूपसे आयी है, परन्तु इनका पूर्णरूपसे निर्णय श्रीशबरीजीके प्रति कही हुई नवधा भक्तिमें ही हुआ है। अस्तु,

श्रीशबरीजी इन नौ प्रकारकी भक्तियोंकी प्रत्यक्ष मूर्ति थीं। उसीका फल यह हुआ कि जो पद बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ है वह शबरीजीको अनायास सुलभ हो गया--'जोगि बृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥' और उन्हें वे परम

प्रभु स्वयं साक्षात् आकर प्राप्त हो गये, जिनके दर्शनका अनुपम फल यह है कि जीव अपना सहज (स्वाभाविक), मायारहित; ईश्वर-अंश, चेतन, अमल, सुखमय और अविनाशी रूप प्राप्त कर लेता है । यथा—
'मम दरसन फल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज सरूपा ।।'
अनूप फल इसलिये कहा कि इसकी समताका और कोई दूसरा फल है ही नहीं । मोक्षसे भी ऊपर इसका दर्जा है ! इस जीवका निजत्व और सहजत्व नित्यधाम और नित्य-कैङ्कर्यमें ही है और वह मोक्षका त्याग करनेपर ही प्राप्त होता है । यथा—

सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ॥
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

अस्तु, जिस रामभक्ति (नित्य-कैङ्कर्य) को प्राप्त करनेपर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये चारों प्रकारकी मुक्तियाँ अनिच्छितरूपसे प्राप्त रहती हैं और जिसके बिना मोक्ष-सुख वैसे ही नहीं टिक सकता, जैसे बिना स्थलके जल नहीं रुक सकता, वही नित्य-सेवाका पद मोक्षसुखका आधार है । यथा—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं । अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥

श्रीशबरीजी ऐसे ही दुर्लभ फल और परम अनुपम पदको प्राप्त हुईं । यथा—

कहि कथा सकल बिलोकि हरि मुख हृदयँ पद पंकज धरे ।
तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ॥

सुवेल शैलपर श्रीरामकी झाँकी

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा । उतरे सेन सहित अति भीरा ॥
सिखर एक उतंग अति देखी । परम रम्य सम सुभ्र बिसेषी ॥
तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए । लछिमन रचि निज हाथ डसाए ॥
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला । तेहिं आसन आसीन कृपाला ॥

इस प्रस्तुत प्रसङ्गमें 'इहाँ' शब्द कथान्तरकी सूचना देता है। इसके पहले रावणके यहाँका समाचार इस प्रकार कहा गया है—

सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास ।
परम प्रबल रिपु सीस पर तद्यपि सोच न त्रास ॥

इसके पश्चात् अब श्रीरामदलका समाचार वर्णन किया जाता है कि 'इधर सुवेल-गिरिपर श्रीरघुवीर सेनासहित बड़ी भीड़के साथ उतरे।' 'इहाँ' शब्दमें भी एक रहस्य है। ग्रन्थकार जब रावणके समाचार वर्णन करते हैं तो 'उहाँ' शब्दका प्रयोग करते हैं। जैसे—

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका । जब तें जारि गयउ कपि लंका ॥
उहाँ अर्ध निसि रावन जागा । निज सारथि सन खीझन लागा ॥

इत्यादि ।

—और जब श्रीरघुनाथजीका प्रसङ्ग उठाते हैं तो 'इहाँ' शब्दसे आरम्भ करते हैं। यथा—

'इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा ।' 'इहाँ प्रात जागे रघुराई ।'
'इहाँ राम अंगदहि बोलावा ।'

—इत्यादि ।

'इहाँ' शब्दसे गुसाईंजी श्रीरामजीके साथ अपना निजत्व सूचित करते हैं। तात्पर्य यह कि यहाँ—अपनी ओर (स्वपक्षका) यह

समाचार है, और वहाँ—रावणके दलका (पर-पक्षका) ऐसा समाचार है ।

सुवेल-शैल वही पर्वत है, जिसपर चढ़कर हनुमान्‌जीने लङ्काको देखा था—

सैल बिसाल देखि एक आगें । ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागें ॥
उमा न कछु कपि कै अधिकाई । प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी । .... ॥

सुवेल-शैलके विषयमें कथा है कि वहाँ कालका पहरा था, अतः उसके भयसे वहाँ कोई फटकने नहीं पाता था । किन्तु श्रीहनुमान्‌जी भय त्यागकर उस पर्वतपर चढ़ गये । इसका कारण यह था कि उनमें प्रभुके प्रतापका बल था, जो कालको भी ग्रास बना सकता है । हुआ भी वही, श्रीमारुतिजीने कालको परास्तकर वहाँसे उसी समय उसे यमपुरी वापस भेज दिया । परन्तु इस मर्मको लङ्कानिवासियोंने नहीं जाना । श्रीरामजीके ऐश्वर्यकी एक आश्चर्य-घटना सुवेल गिरिपर उतरना भी था । इसका उल्लेख मन्दोदरी और प्रहस्तने रावणको समझाते समय किया है । प्रहस्तने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

जेहिं बारीस बँधायउ हेला । उतरेउ सेन समेत सुबेला ॥
सो भनु मनुज खाब हम भाई । बचन कहहिं सब गाल फुलाई ॥

तात्पर्य यह कि 'रावण ! राक्षस जो तुमसे गाल फुलाकर कहते हैं कि हम मनुष्योंको पकड़कर खा जायँगे, सो तुम खूब समझ लो कि श्रीराम मामूली मनुष्य नहीं हैं, उन्होंने समुद्रको बँधवानेका दुस्साध्य कार्य किया है और सेनासहित आकर उस

सुवेल-गिरिपर डेरा दिया है, जहाँ जानेकी बातपर राक्षस भी भयसे काँपने लगते हैं।' मन्दोदरीने भी कहा है—

जेहिं जलनाथ बँधायउ हेला। उतरे प्रभु दल सहित सुबेला॥

अर्थात् जिस सुवेल-गिरिपर कालके भयसे मक्खी भी नहीं भिनक सकती थी, वहाँ श्रीरामचन्द्रजीकी सेनासे धूम मच रही है। तात्पर्य यह कि श्रीरामके ऐश्वर्यके सामने कालकी भी कुछ नहीं चलती।

वह सुवेल-पर्वत त्रिकूटके शिखरोंमेंसे एक था, दूसरेपर लङ्का नगरी बसी थी और तीसरेपर अशोकवाटिका थी। श्रीहनुमान्‌जीने पहलेहीसे यह तजवीज कर ली थी कि इसी सुवेलपर सरकारी शिविर होगा, क्योंकि लङ्का यहाँसे ठीक सामने दीखती है और यही उच्च शृङ्ग उसके मुकाबलेका है।

उतरे सेन सहित अति भीरा।

यहाँ 'अति भीरा' शब्दसे श्रीसरकारकी निर्भयता ध्वनित होती है; क्योंकि रावणके गढ़के सामने चुपचाप नहीं, बल्कि सेनाके साथ धूमधामसे आप उतरे। इस स्थलपर 'रघुवीरा' शब्द देकर पञ्चवीरताके अन्तर्गत पराक्रम-वीरताकी सूचना भी दी गयी है—

त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदाश्रितः॥
पञ्च वीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥

'सैल शृंग०'—उस सुवेल-गिरिका एक कँगूरा—जो सबसे ऊँचा, समतल और शुभ्र था अर्थात् जो कुश-कण्टकसे हीन और

दिव्य प्राकृत सौन्दर्यसे पूर्ण था, उसीपर वृक्षोंके किसलय (नये कोमल पत्ते) बिछाये गये और उस आसनको श्रीलखनलालजीने अपने हाथों रच-रचकर नवविकसित मनोहर सुमनोंसे आवृत कर सुसज्जित कर दिया। ऊपरसे रुचिर मृदुल मृगछाला भी बिछा दी। ऐसे आसनपर कृपालु श्रीरामचन्द्रजी आसीन हुए।

एक मार्मिक बात यहाँ मृगछाला-सम्बन्धी है। इस प्रसङ्गसे पहले कहीं भी मृगछालापर बैठनेका अवसर नहीं बतलाया गया। अतः यह मृगछाला श्रीलखनलालजीको कहाँसे मिली और उन्होंने इसको किस अभिप्रायसे बिछाया? अबतक तो इनके साथ मृगछाला होनेका कोई स्पष्ट प्रमाण ही नहीं मिलता। परन्तु गीतावलीके अरण्यकाण्डके पद २०८ में इस प्रकार उल्लेख है—

हेम को हरिन हन चले रघुकुलमनि लखन ललित कर लिये मृगछाल॥

इससे इस रहस्यका उद्घाटन हो जाता है कि श्रीरघुनाथ जो मारीचको मारकर श्रीजानकीजीके माँगे हुए उसके स्वर्णमय चर्मको लक्ष्मणजीसे उठवाकर लाये थे और जब आश्रममें आकर श्रीसीताजीको उन्होंने नहीं पाया, तो लक्ष्मणजी उस मृगचर्मको इस विचारसे साथ लिये घूमते रहे कि जब श्रीसीताजी मिल जायँगी तो उनकी अभीष्ट वस्तु उन्हें दे दी जायगी। परन्तु जब वे किष्किन्धा पहुँचे और वहाँ सुग्रीवसे भेंट होनेपर सुग्रीवने सीताजीके गिराये हुए वस्त्राभूषणों-को दिया तो उन्हें लेकर श्रीरामचन्द्रजी शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो गये—

मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥

तभीसे श्रीलखनलालजी यह सोचा करते थे कि जब श्रीसीताजीके पट और आभूषणोंने सरकारको इतना विह्वल बना दिया तो इस

मृगचर्मको देख सीताका स्मरणकर स्वामीका परम शोकाकुल होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि इसी मृगचर्मके कारण श्रीसीताजीका वियोग हुआ है; अतः उस मृगचर्मको वे सदा अपने वल्कलोंके अंदर छिपाये रखते थे और मन-ही-मन सोचा करते थे कि कब माताजी मिलें और कब यह उन्हें दिया जाय । इस कारण श्रीलखनलालजी (जो मायाकी सीताके मर्मको न जानकर यही समझते थे कि असली जानकीजीका हरण हुआ है) जब-जब श्रीसरकारको उद्योगमें विलम्ब करते देखते थे तो घबड़ा उठते थे । जब विभीषणकी रायसे सरकारने पार होनेके लिये समुद्रसे राय माँगनेकी बातको स्वीकार किया तो—

मंत्र न यह लछिमन मन भावा । राम बचन सुनि अति दुख पावा ॥

और आपने कहा कि 'दैवका भरोसा क्यों किया जाय ? कौन जानता है कि समुद्र अपनी खुशीसे हमें मार्ग दे देगा ? बाण-प्रहारसे समुद्रको शीघ्र सुखाकर हमें मार्ग बना उतर चलना चाहिये और जहाँतक हो सके, अविलम्ब श्रीसीतामाताको दुःखसे छुड़ाना चाहिये । परन्तु श्रीसरकारने कहा कि 'धैर्य धारण करो, ऐसा ही किया जायगा ।' पश्चात् जब तीन दिन व्यतीत होनेपर भी समुद्रने भगवान्की बात सुनी-अनसुनी कर दी, तब सरकारको कोप करके बाण सन्धान करना पड़ा । 'यह मत लछिमन के मन भावा ।' किन्तु तत्क्षण ही समुद्र भयभीत हो सरकारके शरण आ गया और निश्चय हुआ कि सेतु बाँधा जाय । अतः सेतु बाँधा गया । तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजीने कहा कि अब श्रीशिवमन्दिर बनाया जाय और शिवस्थापनाके बाद हमलोग आगे बढ़ें । श्रीलखनलालजी चुपचाप

भगवान्‌की लीलाको देख रहे थे और सोचते थे कि वहाँ तो श्रीसीता-माताको एक-एक क्षण कल्पके समान बीत रहा है, और यहाँ मन्दिर और प्रतिष्ठाकी लीला चल रही है; किन्तु 'सब तें सेवक धरमु कठोरा' के कारण वे कर ही क्या सकते थे ? सरकारकी इच्छाका अनुवर्तन करना ही उनका धर्म था। इसीसे सब कुछ सहते थे। परन्तु जब सिन्धु पारकर सारी सेना सुवेलपर उतरी तो श्रीलखनलालजीने विचारा कि कहीं यहाँ भी लीलाधाम सरकारकी कोई नयी लीला न आरम्भ हो जाय, अतः ऐसा करना चाहिये जिससे सरकार युद्धके लिये उत्साहित हों तथा उनके मनमें माता सीताके सङ्कट-हरण और उनसे मिलनेकी त्वरा उत्पन्न हो। अतः उन्होंने उस छिपायी हुई मृगछालाको निकालकर विरह उत्तेजित करनेके उद्देश्यसे पुष्प-शय्याके ऊपर बिछा दिया। उनका अभिप्राय था कि सरकार इसे देखकर हरणके समयको स्मरण करेंगे और क्षुभित हो शीघ्र युद्धकी आज्ञा प्रदान करेंगे।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि मारीच तो अन्त-समय अपना राक्षसी शरीर धारण कर चुका था (प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा।) तब मृगछाला कहाँसे आयी ! उत्तर यह है कि श्रीसरकार 'सत्यसन्ध प्रभु' ने अपनी सत्तासे उसे सत्य कर लिया था, जिसका गीतावलीमें प्रमाण है ही। दूसरी बात यह है कि श्रीलखनलालके जानेपर यदि मृगछाला नहीं मिली होती तो इसकी चर्चा उस प्रसङ्गमें इस प्रकार अवश्य हुई होती कि जिस मृगछालाके लिये आये थे, वह तो मिली ही नहीं, अब सीताजीको क्या देंगे; परन्तु ऐसा पाया नहीं जाता, अतः मानससे भी यही निश्चित और ध्वनित है कि मृगछाला अवश्य मिली थी।

इस प्रकार आसनका ध्यान कहकर अब आसीन श्रीप्रभुका ध्यान वर्णन किया जाता है।

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहुँ कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥
प्रभु पाछें लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥
एहि बिधि कृपा रूप गुन धाम रामु आसीन।
धन्य ते नर एहिं ध्यान जे रहत सदा लयलीन॥

श्रीरघुनाथजीने अपना सिर सुग्रीवकी गोदमें टेक रक्खा है, उनकी बायीं ओर चाप और दाहिनी ओर तरकस रक्खा है। सरकार एक बाण लेकर दोनों हाथोंसे उसे सुधार रहे हैं, विभीषणजी कानोंके पास ही बैठे कुछ मन्त्रणा दे रहे हैं, महाभाग्यवान् श्री-हनुमान्‌जी और अंगदजी चरणकमल दाब रहे हैं और श्रीलखनलालजी भगवान्‌के पीछे धनुष-बाण हाथमें लिये कमरमें तरकस कसे वीरासनसे विराजमान हैं। इस प्रकार कृपा, रूप और गुणके धाम श्रीरामचन्द्रजी आसीन हैं। वह मनुष्य धन्य है, जो सदा इस ध्यानमें अपने चित्तको लय किये रहता है।

ग्रन्थकार महोदयने पहले 'बाम' कहकर फिर 'दहिन' कहा, सो उचित ही है। चाप बायें हाथकी चीज है और निषंगसे बाण निकालकर सन्धान करना दाहिने हाथका कार्य है। इसमें विपर्यय होनेसे ठीक नहीं होता। लङ्केश एक व्यक्ति है और कान दो हैं, अतः इस स्थलमें भी कान-शब्दसे दाहिना कान ही समझना चाहिये। वाम कानके पास होनेसे उसका अवश्य उल्लेख होता। इसी

प्रकार चरणसेवाके विषयमें भी समझना चाहिये। अङ्गदका नाम पहले आया है, अतः अङ्गद दाहिने पैरकी और हनुमान्‌जी बायें पैरकी सेवा करते हैं—ऐसा समझना चाहिये। यदि कोई यह शङ्का करे कि अङ्गदको यह श्रेष्ठता कैसे मिली तो इसका उत्तर यह है कि दरबार-में ऐश्वर्यकी तारतम्यताके अनुसार ही स्थान मिला करता है। यहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि पारमार्थिक गुणोंका निर्णय नहीं है। अतः यहाँ सबका स्थान उनके पदके अनुरूप ही है। सुग्रीवजी पूर्ण राजा हैं, इससे उन्हें सिरके समीप स्थान मिला है; विभीषणजीको राजतिलक हो चुका है, परन्तु अभी दखल नहीं हुआ है; अतः उनको दूसरा स्थान मिला है, वे कानके पास हैं। अङ्गदजी भी युवराज हैं, यथा—'राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुवराज'; अतः उन्हें तीसरा स्थान दाहिना पैर प्राप्त हुआ। श्रीहनुमान्‌जी मन्त्री हैं, जैसे सुग्रीवने एक बार कहा है—

मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥

—अतः उनको चौथा स्थान अर्थात् बायें पैरकी सेवा प्राप्त हुई है। यही क्रम आगे चलकर शशिश्यामताकी जिज्ञासाके प्रकरणमें भी है, जिसका वर्णन आगे होगा।

'बड़भागी' शब्दका प्रयोग दोनों चरणसेवकोंके लिये ही किया गया है। यद्यपि विभीषणजी और सुग्रीवजीको सिर और कानके पास बैठनेमें इनसे अधिक सम्मान प्राप्त है; तथापि 'बड़भागी' शब्दसे वे वञ्चित रहे; कारण यह है कि ग्रन्थकारने केवल चरण-सेवकोंके लिये ही 'बड़भागी' शब्दका सर्वाधिकार सुरक्षित (All rights reserved) कर रक्खा है। यथा—

'परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी । प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी ॥'
'सोइ गुनग्य सोई बड़भागी । जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥'
'अहह धन्य लछिमन बड़भागी । राम पदारविंद अनुरागी ॥'
'हनूमान सम नहिं बड़भागी । नहिं कोउ राम चरन अनुरागी ॥' इत्यादि

—तथा प्रभुके पदसे विमुख रहनेवालेको अभागी कहा है; यथा—
'ते नर नरकरूप जीवत जग भव भंजन पद विमुख अभागी ।' इत्यादि ।

सुग्रीवकी गोदमें अपना सिर रखकर प्रभु सच्ची मिताईकी सूचना अपनी ओरसे दे रहे हैं तथा उनके ऊपर ही सारा भरोसा है—ऐसा प्रकट कर रहे हैं । विभीषणजीको कानके समीप प्रतिष्ठित कर मानो लङ्का-युद्धके विषयकी सारी मन्त्रणाका भार उनके ऊपर दे दिया है, और यह सूचित किया है कि इनकी सभी बातें सुनी जायँगी । इसी प्रकार अङ्गद और हनुमान्‌के अधीन पदसेवाका भार प्रदान कर प्रभु यह सूचित कर रहे हैं कि हमारा आगे बढ़ना या पीछे हटना तुम्हीं दोनोंके आधारपर अवलम्बित है । श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तमके इस भावसे राजधर्मकी कैसी उच्च शिक्षा प्राप्त होती है । राजाको युद्धके ऐन मौकेपर अपने कर्मचारियोंका हृदय, उनकी योग्यताके अनुसार कार्य प्रदान कर, किस प्रकार अधिकृत कर लेना चाहिये—इसका यह एक सुन्दर दृष्टान्त है । दोनों हाथोंसे बाण सँभालना इस बातका प्रमाण है कि यह कहीं चलानेके लिये तैयार किया जा रहा है । भला, स्वर्ण-मृगछालापर दृष्टि जानेपर अब बाण चलाये बिना चित्तमें कैसे सन्तोष हो सकता है ? इसके सिवा श्रीराम-दलमें कुछ महान् वानरोंके अतिरिक्त सब भालु-कपियोंको श्रीसरकारका ऐश्वर्य अभी मालूम नहीं है, उसका जना देना भी परम आवश्यक है; क्योंकि

इस असाधारण युद्धमें उन्हें स्वामीके शौर्यपर विश्वास होनेसे धैर्य बना रहेगा तो वे सब कठिनाइयोंको सहज ही पार कर सकेंगे।

श्रीरघुनाथजी दोनों पैर फैलाकर लेटे हुए-से सुग्रीवके उछंगमें मस्तक रक्खे हैं; आपके नेत्र पूर्वकी ओर हैं, जिससे सरकारकी दृष्टि सहज ही उगते हुए चन्द्रदेवपर पड़ती है और लीलासे ही आपके श्रीमुखसे एक प्रश्न निकल पड़ता है। श्रीलखनलालजी कुछ दूरीपर थे---यथा 'कछुक दूरि सजि बान सरासन।' कुछ दूर रहनेपर ही पहरेमें विघ्नादिके निवारण करनेकी विशेष सुविधा रहती है और इस प्रकारकी परिस्थितिका श्रीलखनलालजीको अभ्यास भी था; अतः वे दूर थे। इसीसे वे प्रभुके इस प्रश्नोत्तरमें सम्मिलित न हो सके। ये प्रश्नोत्तर प्रभु, सुग्रीव, विभीषण, अङ्गद और हनुमान्‌में ही हुए थे। कैसा विलक्षण राम-पञ्चायतन है! इसके ध्यान करनेवाले व्यक्ति धन्य हैं! स्वामीकी कैसी महिमा है; जो स्थान भरतादिको प्राप्त है, वही स्थान अपनी असीम कृपासे कपियोनि तथा राक्षस-योनिको प्रदान किया गया है। किस स्वामीमें ऐसी निजत्व-भावना हो सकती है!

को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी॥

'कृपाधाम' शब्द सरकारके इसी विरदकी सूचनाके लिये है, तथा सौन्दर्यकी अनुपमता 'रूपधाम' शब्दसे प्रकट की गयी है और 'गुणधाम' शब्द उपर्युक्त राजनीतिकता तथा दूरदर्शिता आदि गुणोंका सूचक है।

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि मृगपति सरिस असंक॥

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी । परम प्रताप तेज बल रासी ॥
मत्तनाग तम कुंभ बिदारी । ससि केसरी गगन बन चारी ॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा । निसि सुंदरी केर सिंगारा ॥
कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई । कहहु काह निज निज मति भाई ॥

कैसा सुन्दर समस्त-पद-निरूपित सर्वाङ्ग रूपक है । पूर्व दिशा पहाड़की कन्दरा है, उस कन्दरामें निवास करनेवाला यह मयङ्क केहरि है । [चन्द्रदेवको सिंहकी उपमा देकर उसका अशंक और अभिमानी होनेके साथ ही बलवान् और प्रतापी होना भी बतलाया] तम (अन्धकार) ही मत्त हाथी है, जिसके मस्तकको विदीर्ण कर यह सिंह आकाशरूपी वनमें विचरण कर रहा है; ये तारागण उसी तमरूपी हाथीके विदीर्ण मस्तकसे निकले हुए गजमुक्ता बिखरे हुए हैं, जिनसे निशापति केशरीने अपनी निशि-सुन्दरीका श्रृंगार किया है । इस प्रकार रूपकके द्वारा चन्द्रमाकी ओर ध्यान आकर्षित कर सरकार पूछते हैं कि 'इसमें जो काला धब्बा दीखता है, वह क्या है ? सब अपनी-अपनी मतिके अनुसार कहो ।'

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई । ससि महुँ प्रगट भूमि के झाँई ॥

पहला स्थान सुग्रीवका था, अतः उन्होंने ही पहले उत्तर दिया कि 'मेरी रायमें विमल चन्द्रमें [दर्पणवत्] पृथ्वीकी पड़ी हुई छाया काली-काली दीख पड़ती है ।' यहाँ सुग्रीवके भूपति होनेके कारण उनके चित्तमें भूमिका संस्कार है; और राजाके हृदयमें पृथ्वीकी ही कामना होती है, अतः उनकी भूमिकी छायाकी कल्पना वास्तविक है ।

मारेउ राहु ससिहि कह कोई । उर महँ परी स्यामता सोई ॥

दूसरा स्थान विभीषणजीका है, उन्होंने कहा कि—'मेरी

रायमें यह कालिमा उस चोटका निशान है, जो इसके शत्रु राहुने इसकी छातीपर की थी।' यहाँ 'कोई' अनिश्चयवाचक शब्द रखकर गुसाईंजीने एक पहेली बना दी है, जिसको केवल उपर्युक्त ध्यानके उपासक भक्त ही समझ सकते हैं। भक्त विभीषणजी अपने शत्रु रावणको लातकी चोट खाकर आये थे, वह उन्हें विस्मृत नहीं हुई थी, उसका संस्कार बना ही हुआ था। अतः उनका अनुमान भी स्वाभाविक ही हुआ। ध्यानके अनधिकारी व्यक्तियोंको असूया आदिका अवसर न मिले और मर्मी उपासकोंका तो यह निश्चय ही है कि—

'ग्यान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर॥'
'जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥'

अतः यहाँ 'कोई' शब्दका व्यवहार निष्प्रयोजन नहीं हुआ है। यही बात अङ्गदके उत्तरके विषयमें भी है। उनके लिये भी 'कोउ कह' कहा गया है; स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया—

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा।
सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं।
तेहि मग देखिअ नभ परिछाहीं॥

तीसरा स्थान अङ्गदजीका है, उन्होंने कहा—'मेरी रायमें जब ब्रह्माने रतिका मुख बनाया तो [सर्वोत्तम सौन्दर्यमय तत्त्व जानकर] चन्द्रमामेंसे सार-भाग कतर लिया, उसीके निकल जानेसे यह छिद्र हो गया है; उसी छिद्रके मार्गसे उस पारके आकाशकी परिछाईं झलक रही है, जिससे श्यामता-सी मालूम होती है। यहाँ भी उनकी स्थितिके अनुसार 'कोउ' शब्द अङ्गदजीके ही लिये है। क्योंकि पिताके न रहनेपर उसका

उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, यह धर्मनीति है। इसके अनुसार बालिका राज्य अङ्गदका ही था, परन्तु वह निकलकर सुग्रीवको मिल गया। कुछ भी हो, अधिकारहीन होनेसे हृदयमें छेद हो ही जाता है; अतः अङ्गदका अनुमान भी स्वाभाविक ही हुआ।

अब हनुमान्‌जीके बोलनेकी बारी थी; परन्तु प्रभुने देखा कि 'मैंने तो चन्द्रमाके दोष पूछे थे [जो कालिमाके प्रश्नसे स्पष्ट है]। सबको धब्बेका लक्ष्य कराया था; परन्तु इन तीनोंने तो उसे अमल, चोट खाया हुआ और सार छीना हुआ दीन-दुखी बताकर निर्दोष बना दिया। इनका मत मेरे अनुकूल नहीं हुआ, इन्होंने तो अपनी-अपनी स्थिति ही स्पष्ट की; अतः बीचमें ही अपने मतका लक्ष्य करवाकर श्रीहनुमान्‌जीके मतको अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। इसलिये सरकार बीचमें ही बोल उठे—

प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥

इस चन्द्रमाका [साथ ही समुद्रसे जन्म होनेके कारण] गरल बन्धु है और वह इसका अत्यन्त प्यारा है; इसीसे उस विषको इसने अपने हृदयमें स्थान दिया है। यही कारण है कि उस विषसे संयुक्त अपनी किरणोंको फैलाकर यह विरहमें पड़े नर-नारियोंके हृदयको दग्ध कर रहा है। यदि वह कालिमा विष नहीं होती तो शीतल-तत्त्व इस चन्द्रमें दाहक-शक्ति कहाँसे आती? कैसा अपूर्व रहस्य है! गुणातीत श्रीप्रभु भक्तमण्डलीमें माधुर्यकेलिको दिखलानेके लिये वर्तमान लीलाकी जो अपनी स्थिति है, उसे कैसे सूचित कर रहे हैं। अर्थात् मैं विरही हूँ, यह चन्द्रमा दाहक होकर मुझे जला रहा है—इस कथनसे नर-चरितद्वारा सरकार अपने दासोंसे मिल गये हैं

और यह बतला रहे हैं कि मनुष्यकी जैसी वृत्ति रहती है, वैसा ही अनुमान होता है। इससे यह भी ध्वनित करते हैं कि चन्द्रमा मुझसे प्रतिकूल है तथा दोनोंके लिये दुःखदायी है।

अब पाँचवें नंबरवाले श्रीहनुमान्‌जीकी सम्मति सुनिये। उन्होंने विचारा कि 'यह बड़ा ही गूढ़ प्रसङ्ग उपस्थित हुआ। इधर प्रभुके हाथोंमें बाण सुधर रहा है और उधर चन्द्रमापर उनकी दोषान्वेषक दृष्टि पड़ रही है। स्वामी शायद अपने दलको ऐश्वर्य दिखलाकर निर्भय करनेके लिये इस बाणसे असली चाँदकी ही चाँदमारी कर फिर उसे ज्यों-का-त्यों बना दें। अवश्य ही प्रभु सर्वसमर्थ हैं, उनकी शक्ति अघटित-घटना-पटीयसी है; परन्तु विचार तो इस बातका है कि—

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

गीतामें भी कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(४।८)

—'जब सुरोंको थापना' (दैवी विभूतिकी रक्षा करना) रामजन्मका हेतु है, तो चन्द्र 'देवता' पर अस्त्र चलाना कैसे उचित हो सकता है! भगवान् ऐसा कभी नहीं कर सकते। वास्तवमें प्रभु हम सब मन्त्रियों और सेवकोंकी बुद्धिकी परीक्षा कर रहे हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् यह भी एक मर्यादाकी लीला करके दिखला रहे हैं कि मन्त्री अपने राजाको किस प्रकार उचित मन्त्रणा देकर यथार्थ कार्य करते हैं। अतएव मुझे ऐसी

राय देनी चाहिये कि चन्द्रमा निर्दोष सिद्ध हों और प्रभु भी प्रसन्न रहें ।' इसलिये——

कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास॥

श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि 'प्रभो ! मेरे विचारमें तो शशि आपका प्रिय दास है । आपकी ही मूर्ति उसके हृदयमें वस रही है । बस, वही श्यामता दिखलायी देती है।' इस सम्मतिमें भी निज स्थितिका लक्ष्य वर्तमान है——'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर ।' जैसे आपके हृदयमें सदा रामजी वसते हैं, वैसा ही अनुमान आपको चन्द्रमाके विषयमें भी हुआ है । श्रीहनुमान्‌जीके कथनानुसार चन्द्रमा प्रभुका दास सिद्ध हो गया, इससे अब सिवा उसकी रक्षाके उसपर अस्त्र-प्रयोगकी तो कोई बात ही नहीं रह गयी । [पाँचों सम्मतियाँ वर्तमान वृत्तिके अनुसार ही हुई हैं ।] कैसी उत्तम युक्तिसे चन्द्रदेवके उपर्युक्त समस्त दोषाभास दूर कर दिये गये, जिससे प्रभुको भी प्रसन्न होकर हँस पड़नेके सिवा और कुछ कहते नहीं बना । यथा——

पवनतनय के बचन सुनि बिहँसे रामु सुजान।
दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु बोले कृपा निधान॥

'सुजान' विशेषणके द्वारा सरकारकी अमित सुबोधताको सूचित किया है । हनुमान्‌जीके परम चातुर्यके भावको जानकर उनकी सम्मति स्वीकार करते हुए सरकार परम प्रसन्न हुए और उस सुधारे हुए बाणको काममें लानेके लिये चन्द्रमापरसे अपनी दृष्टिको हटाकर दक्षिण दिशाकी ओर दृष्टि डाली । जिस कार्यके लिये यहाँ आना हुआ, इस बाणसे उसी कार्यका श्रीगणेश करना उचित होगा——ऐसा सोचकर आप बोले——

देखु बिभीषन दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा॥
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा। होइ बृष्टि जनि उपल कठोरा॥

'विभीषण! दक्षिण दिशाकी ओर तो देखो, कैसे बादल घुमड़ रहे हैं तथा बिजली चमक रही है। मन्द-मन्द गर्जन भी सुनायी पड़ रहा है, कहीं उपल-वृष्टि न हो।'

विभीषणने उत्तर दिया—'कृपालु! यह न तो बिजली है, न मेघमाला है—बल्कि लङ्काके शिखरपर रावण नृत्य देख रहा है; उसका राजछत्र उमड़े घनके समान देख पड़ता है और मन्दोदरीके श्रवण-ताटंकका हिलना दामिनीकी दमकके समान भासता है तथा मृदंगकी ध्वनि ही मेघ-गर्जन-सी सुन पड़ती है।

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना॥
छत्र मुकुट ताटंक सब हते एकहीं बान।
सब कें देखत महि परे मरमु न कोऊ जान॥

श्रीरघुनाथजीने उसी बाणको, जिसे आप हाथमें लेकर सुधार रहे थे, धनुषपर चढ़ाकर सन्धान किया, और एक ही बाणसे छत्र-मुकुट-ताटंक सब हरण कर रावणके अभिमानको भंग कर दिया और वह शर पुनः लौटकर तरकसमें प्रविष्ट हो गया। रावणकी सभा यह रसभंग देखकर भयभीत हो गयी।

अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।
रावन सभा ससंक सब देखि महा रसभंग॥

यह रावणपर श्रीसरकारका पहला वार हुआ।

इस प्रकार मृगचर्मपर आसीन सुवेल-शैल-गत श्रीसरकारके ध्यानका प्रसङ्ग है।

धन्य ते नर एहिं ध्यान जे रहत सदा लयलीन॥

श्रीविभीषण-शरणागति

श्रीविभीषणजीकी शरणागतिके प्रसङ्गका प्रारम्भ श्रीरामचरित-मानसके सुमेर (सुन्दर) काण्डमें रावणकी सभासे होता है, जहाँ—

'बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू ॥'
'अवसर जानि विभीषनु आवा।'

—यह प्रकरण प्राप्त होता है। राक्षसेन्द्र रावणके समाजकी उस समय बड़ी ही विपरीत दशा थी। रावणके सामने तो लोग—

जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं ॥

—इस प्रकार उसकी स्तुति करते थे और परोक्षमें वे ही लोग—

निज निज गृहँ सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥

—इस प्रकारकी चिन्तना करते थे। उनके व्यवहारमें कैसा विपर्यय आ गया था! सच है—

सचिव बैद गुरु तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगहीं नास॥

—इस दोहेमें क्रमालङ्कारके अनुसार सचिव, वैद्य और गुरुका क्रमसे राज्य, तनु और धर्मके साथ सम्बन्ध अपेक्षित है; किन्तु ग्रन्थकारने यहाँ राज्य-धर्म-तनुके रूपमें क्रम-विपर्यय किया है। और इस दोहेके पश्चात् 'सोइ रावन कहुँ बनी सहाई।' यह पद देकर तीनोंके विपर्ययको सिद्ध कर दिया है। अर्थात् सचिव मुँहमीठी सलाह देने लगे—'सचिव कहहिं सब ठकुरसोहाती।' 'गुरु' देव श्रीशङ्करभगवान्‌ने भी ऐसा अनर्थ करते उसे नहीं रोका—

संभु सेवक जान जग बहु बार दिए दससीस।
करत राम बिरोध सो सपनेहुँ न हटक्यो ईस॥

(विनय-पत्रिका)

प्रत्युत श्रीशङ्कर उसका नाश देखनेमें ही प्रसन्न थे, जैसे—

हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत राम चरित रन रंगा॥

वैद्य सुषेणके विषयमें भी यही बात थी, उसने भी रावणके धवलागिरिकी सञ्जीवनी बूटीसे लक्ष्मणकी मूर्छा दूर करके शत्रु-पक्षकी ही सहायता की थी; पर रावणके पक्षके किसी एकको भी सुषेणने आरोग्यप्रदान अथवा औषधप्रयोग किया हो, ऐसी बात नहीं सुनी जाती।

'छीजहिं निसिचर दिन अरु राती' से भी इसकी पुष्टि होती है ।

ऐसी अवस्थामें श्रीविभीषणजीने अतिनम्र तथा कोमल वचनोंसे उचित परामर्श देते हुए रावणसे विनय की कि—

जौं कृपाल पूँछिहु मोहि बाता । मति अनुरूप कहउँ हित ताता ॥
जो आपन चाहै कल्याना । सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना ॥
सो परनारि लिलार गोसाईं । तजउ चउथि के चंद कि नाईं ॥
चौदह भुवन एक पति होई । भूतद्रोह तिष्टइ नहिं सोई ॥
गुन सागर नागर नर जोऊ । अलप लोभ भल कहइ न कोऊ ॥
काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत ॥

उपर्युक्त पदोंमें विभीषणजीने 'परनारि लिलार'से काम, 'भूतद्रोह' से क्रोध तथा 'अलप लोभ' से लोभ अर्थात् तीनों नरकके द्वारोंका संकेत किया—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥
(गीता १६ । २१)

—और रावणको इन तीनों प्रबल खलोंको त्यागनेकी सम्मति दी—

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥

—और यह भी इस प्रकार घुमाकर कहा—'जो आपन चाहै कल्याना ।' तात्पर्य यह कि जो अपना कल्याण चाहता हो, वह इन तीनोंका त्याग करे । रावणको सम्बोधन करके स्पष्ट नहीं कहा; वैसा कहते तो उसे बुरा लगता ।

उपर्युक्त प्रथम दोहेमें केवल नरकके तीनों पथोंको छोड़ना ही नहीं बतलाया, साथ ही श्रीरघुवीरके भजन करनेका भी संकेत किया। यहाँ 'रघुवीर' शब्दके द्वारा श्रीरघुनाथजीमें पाँच प्रकारकी वीरताओंका समावेश प्रतिध्वनित किया है।

यथा—

त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदास्थितः॥
पञ्च वीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥

अर्थात् रघुवंशमें श्रीरामचन्द्रजी ही ऐसे हुए हैं जिनमें पाँचों वीरताएँ—त्यागवीरता, दयावीरता, विद्यावीरता, पराक्रमवीरता तथा धर्मवीरताका एकत्र समावेश था। मानसमें जहाँ कहीं 'रघुवीर' शब्दका प्रयोग हुआ है, वहाँ इन वीरताओंका प्रसंग अवश्य पाया जाता है।

साथ ही 'भजहिं जेहि संत' कहकर पदकी पूर्तिके द्वारा अपवर्गके मार्गका भी संकेत किया। यथा—'संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।'

उपर्युक्त दोहेकी रचनामें एक रहस्य और छिपा हुआ है। पिंगलके अनुसार दोहेमें तुकान्तके अक्षर एक ही होते हैं। परन्तु यहाँ विपर्यय पाया जाता है। 'नाथ नरक के पंथ' में तुकका अन्त्याक्षर 'थ' है, तो नीचेके पद 'भजहिं जेहि संत' में तुक तकारान्त हो गया है। इस विपर्ययके द्वारा ग्रन्थकार सूचित करते हैं कि काम-

क्रोधादि जो नरकके पन्थ हैं, उनसे अपवर्गके पन्थका कभी समन्वय नहीं हो सकता। यही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तकी रक्षाके लिये पिंगलके नियममें यदि विपर्यय आ जाय, तो भी कोई हानि नहीं। गुसाईंजी तो यह पहले ही कह चुके हैं कि—

'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥

तथा—

'भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी॥'

अस्तु, इस प्रकार विभीषणजीने रावणको सम्मति देते हुए ब्रह्म, अनामय, अज, भगवंत आदि विशेषणोंसे श्रीरामजीके ऐश्वर्य, कृपासिन्धु आदि विशेषणोंसे सौशील्यादि दिव्य गुण तथा गो-द्विज-धेनु-देव-हितकारी और जनरञ्जनादि शब्दोंसे श्रीरामजीके विरदकी व्याख्या की; एवं यह सूचित करते हुए कि 'भगवान् प्रणतारतिभञ्जन हैं, अतः वैदेहीको देकर उनकी शरणमें जाना ही कल्याणजनक है' साथ ही यह भी बतलाया कि पुलस्त्य मुनिने भी ऐसी ही अनुमति दी है।

भली बातका समर्थन भले पुरुष ही किया करते हैं; श्रीविभीषण-जीकी इस सम्मतिको प्रवीण मन्त्री माल्यवान्‌ने भी उपादेय बतलाया। परन्तु रावणने इस बातका मानना तो दूर रहा, उलटे क्रोधित होकर दोनोंको सभा-भवनसे निकाल देनेकी आज्ञा दी। इसपर माल्यवान् तो अपने घर चला गया? परन्तु विभीषणजी, जो साधुवृत्तिके अनुसार मानापमानको समान समझते थे, पुनः हाथ जोड़कर बोले कि 'नाथ! कुमतिका परिणाम केवल विपत्ति ही है, आपके हृदयमें विपरीत

कुमति आ बसी है।* क्योंकि हमलोग जो आपके हितकी बातें कहते हैं, वे आपको बुरी लगती हैं; तथा निशिचरोंके लिये कालरात्रिके समान जो श्रीसीताजी हैं, उनपर आपकी अत्यन्त प्रीति हो रही है। तात ! मैं आपके पैर पकड़कर याचना करता हूँ, मेरा दुलार रख लीजिये और श्रीसीताजीको श्रीरामके अर्पण कीजिये; क्योंकि इसीमें आपका हित है।'

इस समय माल्यवान्‌के चले जानेपर उस सभामें वैसा कोई धार्मिक व्यक्ति न था, जो पुनः इस बातका अनुमोदन करता। अतः ग्रन्थकारने विचारा कि अधर्मसभामें यदि ऐसे अपूर्ण वचनका समर्थन न हुआ तो न सही, परन्तु ज्ञाननिधि समाजमें तो ऐसे अपूर्व वचनोंका आदर होना ही चाहिये—'श्रोता बकता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़' अतएव एक चौपाईके द्वारा अपना हार्दिक सम्मान प्रकट कर ही दिया। यथा—

बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥

श्रीविभीषणजीके पुनः प्रार्थना करनेपर रावण क्रोधित हो उठा और अनेक दुर्वचन कहते हुए उसने उनपर पाद-प्रहार किया और बोला—

'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥'

तथापि विभीषणजीने बारंबार उसके चरण पकड़कर विनय की कि 'आप मेरे पिताके तुल्य हैं; मुझे आपने यदि मारा तो

* पारस्परिक द्वेषको कुमति कहते हैं और हितचिन्तकको शत्रु तथा शत्रुको हितचिन्तक मानना 'विपरीत कुमति' कहलाता है।

अच्छा ही किया; परन्तु आपका कल्याण श्रीरामके भजनसे ही होगा' अहा ! संतोंका यही बड़प्पन है ! धन्य !

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई ॥

यहाँ एक बात विचारने योग्य है कि सीताको देनेकी बात कहनेपर रावण बिगड़ा तो सबपर है, इसी कारण शुक-सारनके ऊपर भी पाद-प्रहार किया था; परन्तु 'सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती' ऐसा केवल विभीषणको ही कहा है। इसका रहस्य यह है कि विभीषणके विषयमें रावणकी यह विपरीत धारणा हो गयी थी कि इनकी बतायी हुई नीति यह जिसे बताते हैं, उसीको खाती है; क्योंकि हनूमान्‌का उसने विभीषणकी सम्मतिसे ही वध नहीं किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसका सारा नगर हनूमान्‌ने जलाकर खाक कर डाला। अतः उसने यह समझकर श्रीरामसे जा मिलनेके लिये कहा कि जब यह रामसे मिलेंगे तो इन्हें भेदिया समझ वह इनकी राय लेंगे और इनकी रायपर चलनेके फलस्वरूप उनकी हानि हुआ करेगी। परन्तु श्रीविभीषणजीको 'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती' ये वचन सहन नहीं हो सके; क्योंकि भक्तको अपना अपमान तो सहन हो सकता है, पर अपने इष्टके प्रति कहे हुए अपमान-वचन उनके मर्मको वेध डालते हैं। 'मम पुर'से उसने अपनेको सम्राट् और विभीषणको अपने राज्यमें बसनेवाली साधारण प्रजा सूचित किया, एवं 'तपसिन्ह' शब्दसे श्रीराम-लक्ष्मणको गृहादिसे हीन—अनिकेत बतलाकर यह सूचित किया कि 'तू भी बिना घर-द्वारका बन जा।' इसलिये विभीषणजीके अन्तःकरणमें यह स्फुरणा हुई कि 'देखें, यह पुर अब वास्तवमें किसका ठहरता है।

जिस प्रभुका समस्त जगत् है, उसे गृहहीन बताना और अपनेको राजा मानना बड़े अभिमानकी बात है; यदि भगवान्‌की विभूति सत्य है तो निश्चय है कि भगवान्‌का दास ही इस प्रसादका अधिकारी बनेगा।' इसी वासनाके अनुसार विभीषण 'सचिव संग लै नभ पथ गयऊ;' अन्यथा भगवान्‌की शरणमें जानेके समय सचिवको साथ लेनेकी क्या आवश्यकता थी? इसी अभिप्रायको आगे चलकर गोसाईंजीने व्यक्त कर दिया—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

यद्यपि 'उर वासना' का निराकरण भी श्रीरघुनाथजीकी सन्निधि प्राप्त होते ही हो गया और 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं' इस वचनसे भगवान्‌ने उसे स्वीकृत भी कर लिया तथापि श्रीभगवान्‌ने 'मोर दरसु अमोघ जग माहीं।'····'अस कहि राम तिलक तेहि सारा।'—इस प्रकार उस पुरको अपने दासका बनाकर ही छोड़ा और रावणके 'मम पुर' को असिद्ध कर दिया। यह प्रकरण बड़े ही सँभारका है—

जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे॥

सच्चे और शुद्ध भक्त निष्काम होते हैं। यदि विभीषणको यहाँ अर्थार्थी कहें तो युक्त न होगा; क्योंकि उन्होंने पहले ब्रह्मासे 'निर्मल भक्ति' का वरदान माँगा था—'तेहिं मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु।' यदि राज्यकी इच्छा होती, तो उसी समय वे क्यों न माँग लेते? 'अमल अनुरागु' से तो निष्काम भक्तिका ही बोध होता है। फिर हनूमान्‌जीके मिलनप्रसंगमें भी इनकी शुद्ध साधुता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त रावणके द्वारा बार-बार तिरस्कृत हो उसे ऐसी शिक्षा देने कि—

बार बार पद लागउँ विनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥

—आदिसे भी विभीषणकी यह शुभ भावना स्पष्ट हो जाती है कि रावण भी भगवद्भक्त हो जाय जिससे इसका नाश न हो। रामगीतावलीमें इस प्रसंगको दिखलाते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

सब भाँति विभीषन की बनी॥
हिय कछु और, और कीन्हीं विधि, राम कृपा औरै ठनी॥

हृदयमें तो उनके था कि रावण राम-शरण होकर सुधर जाय और इसका राज्य-वैभव भी ऐसा ही बना रहे। परन्तु विधिने विभीषणको ही घरसे निकलवा दिया तथा श्रीरामकी कृपासे और ही बात हो गयी, अर्थात् विभीषण ही लङ्केश बन गये। अतः मानना पड़ेगा कि इस प्रसंगके पूर्व विभीषणको राज्यवासना नहीं थी। पहलेकी राज्यवासना मानेंगे तो रावणको दी हुई विभीषणकी शिक्षा असत्य और दम्भपूर्ण माननी होगी, जो विभीषण-जैसे साधुके लिये सर्वथा असम्भव है। फिर यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब विभीषणकी पहलेसे राज्य-वासना नहीं थी, और उपर्युक्त प्रसंगमें कारणवश कुछ हो गयी थी, वह भी रामदर्शनसे नष्ट हो गयी, तब भगवान्‌ने उन्हें राज्य क्यों दिया? उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान्‌का विरद ही है कि वे अपने भक्तोंकी स्वप्नमें भी उठी हुई इच्छाको पूरा किये बिना नहीं रहते; दूसरे मानसिक भावसे विभीषणको राज्य तो उसी समय दे चुके थे, जिस समय लंकामें रावणके 'मम पुर' कहनेपर उनके हृदयमें राज्यवासनाकी किञ्चित् स्फुरणा हुई थी। श्रीभगवान्‌के दरबारमें ऐसे अवसरोंपर विलम्ब

कैसे हो सकता है ? तभी तो श्रीरामजीने आते ही उन्हें 'लंकेश' कहकर सम्बोधन किया —

कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥

विभीषणको मन, तन और वचन—तीनोंसे भगवान‌ने राज्य प्रदान किया; क्योंकि वह भी तो मन, तन और वचन—तीनोंसे सच्चे शरणागत हैं। मानसिकका उदाहरण तो ऊपर दिया ही गया है; कायिकका उदाहरण यह है कि मिलनेके समय—

'मागा तुरत सिंधु कर नीरा॥' और—

'अस कहि राम तिलक तेहि सारा॥'

—आदिसे भगवान् अपने श्रीकरकमलोंसे उन्हें राज्यतिलक देते हैं और वाचिक लंकापर विजय प्राप्त करनेके बाद 'आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ।' तथा 'सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा।'—इस प्रकार सिद्ध हुआ।

'सचिव संग लै' इस पदका अभिप्राय तो कहा गया, अब 'नभ पथ गयऊ' का आशय समझना चाहिये। इससे ग्रन्थकारके तीन आशय जान पड़ते हैं। प्रथम तो है रावणके 'मम पुर' को असिद्ध करनेकी आन्तरिक प्रतिज्ञा और दूसरा ऊँचे जाकर यह घोषित करना कि—

रामु सत्यसंकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥

—और तीसरा रामगीतावलीके उस प्रसंगद्वारा प्रकट होता है, जब लङ्कासे जाते समय विभीषण मन-ही-मन कहते हैं कि—'कृपानिधिको मिलौं पै मिलिए कै कुबेरें।' उनका अभिप्राय यह था

कि सर्वसम्पत्तिके दाता होनेके कारण शिवजी सदा कुवेरके यहाँ आते-जाते ही रहते हैं—'जात रहेउँ कुवेर गृह उमा रहिहु कैलास,' अतः वहाँ श्रीशिवजीसे भेंट होनेपर वे विभीषणकी राम-भक्तिको और भी दृढ़ कर देंगे। हुआ भी वही, कुवेरके यहाँ श्रीशिवजी मिले और विभीषणको उन्होंने अनुमति दी कि 'रामकी सरन जाहि, सुदिनु न हेरै।' इस प्रकार नभ-पथसे जानेसे विभीषणके अनेक कार्य सिद्ध हुए। उधर साधु विभीषणकी अवज्ञासे रावणके अखिल कल्याणकी हानि हो गयी—और उनके विदा होते ही सब राक्षस आयुहीन हो गये, और इधर—

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥
देखिहउँ जाइ चरन जल जाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी॥
जे पद जनक सुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

श्रीविभीषणजी प्रभुके चरण-कमलोंके देखनेकी कामना होते समय छः भक्तोंका स्मरण करते हैं—अहल्या, दण्डकवन, श्रीजानकीजी, मारीच, भगवान् शिवजी तथा श्रीभरतलालजी। इन छःमेंसे अहल्या, दण्डक और मारीच—ये तीन शापित तथा निम्न कोटिके हैं। और श्रीसीताजी, श्रीशिवजी, श्रीभरतजी—ये तीन पूजित तथा उच्चकोटिके हैं। जो निम्न कोटिके हैं उन्हें भगवान्‌के चरणोंके दर्शन चर्म-चक्षुओंसे प्राप्त हुए हैं—'यहि दरवार दीन कर आदर रीति सदा चलि आई।'

तथा तीन उच्च कोटिके भक्तोंको भगवान् हृदयके नेत्रोंसे प्राप्त हैं, अर्थात् ध्यानसे ही श्रीराम उन्हें मिल रहे हैं; क्योंकि "जनकसुता 'उर' लाये," "हर 'उर' सरोज," एवं "भरतु रहे 'मन' लाइ" पदोंमें 'उर' और 'मन' शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। श्रीविभीषणजी विचारते हैं कि—'अतएव मैं भी नीच कोटिका होनेके कारण 'ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ'—इन नेत्रोंसे [अंगुलिनिर्देश है] ही भगवान्‌के श्रीचरणोंका दर्शन करूँगा।' यहाँ शरणागतिके छः विधान होनेके कारण ही छः भक्तोंका निर्देश हुआ है, यथा—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

अतएव अहल्याकी भाँति सर्वसङ्कल्पशून्यतासे 'अनुकूलताका सङ्कल्प', दण्डककी भाँति प्रतिकूलसे हानिकी शिक्षासे 'प्रतिकूलताका वर्जन,' श्रीजनकसुताकी भाँति 'रक्षाका अत्यन्त विश्वास,' मारीचकी भाँति 'ते नररूप चराचर ईसा' से 'गोप्तृत्व-वरण', श्रीशिव भगवान्‌की भाँति 'आत्म-समर्पण' और श्रीभरतकी भाँति 'कार्पण्य' की दृढ़ता की गयी।

अहल्याके प्रथम स्मरणसे विभीषणके हृदयकी तत्कालीन सर्वो-पायशून्यता तथा सब प्रकारकी दीनता, हीनता एवं जडबुद्धिकी भावना प्रकट होती है। अहल्याकी शापावस्थासे उन्हें अपने पूर्वजन्मके विप्र-शापका स्मरण हो आता है, जिससे अपनेको भी निश्चित अध-स्वरूप समझकर उनके हृदयमें आशाका सञ्चार होता है कि 'जिस प्रकार भगवान्‌ने निर्हेतु कृपा कर स्वयं जाकर अहल्याका उद्धार किया था,

वैसे ही आज प्रभु यहाँ मेरा उद्धार करनेके लिये स्वयं पधारे हैं।' इसी प्रकार शेष पाँच भक्तोंके स्मरणके साथ-साथ उन्हींके अनुरूप भाव उनके हृदयमें उठते हैं, जिनका वर्णन करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। इस स्थलपर सम्मान्य ग्रन्थकारके रचना-कौशलपर मन न्यौछावर हो जाता है। उन्होंने तीन निम्न कोटि और तीन उच्च कोटिके जोड़े किस खूबीके साथ मिलाये हैं। निम्न कोटिके—शापग्रस्त अहल्या और दण्डकके जोड़ेको आदिमें रक्खा तथा उच्च कोटिके—श्रीशिव और भरतके जोड़ेको अन्तमें रक्खा; अब बचा एक जोड़ा, जिसमें एक हैं परम उच्च कोटिकी श्रीसीताजी और दूसरा नीच कोटिका मारीच। इस जोड़ेको बीचमें रख दोनोंके बीचमें 'कपट' शब्द रख ऐसी योजना कर दी कि जिससे यह भेद खुल गया कि न तो असली जानकीजी हैं—'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता', और न असली मारीच ही है—'भयउ कपट मृग तेहि छलकारी;' बस, केवल कपटकी क्रीड़ा है।

पश्चात्—

हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥

इस 'अहोभाग्य' से उनके हृदयका आह्लाद स्पष्ट है, तथा 'जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ'—उन्हीं श्रीचरणकमलोंको आज मैं इन नयनोंसे देखूँगा।

एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिंधु एहि पारा॥

श्रीसुग्रीवजीको कपियोंने विभीषणके आगमनकी सूचना दी और उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे निवेदन किया कि—'आवा मिलन दसानन

भाई ।' पश्चात् प्रभुने उनके आगमनके अभिप्रायको जाननेके लिये सुग्रीवसे सम्मति माँगी, तो सुग्रीवने कहा—

भेद हमार लेन सठ आवा । राखिअ बाँधि मोहि अस भावा ॥

परन्तु श्रीकृपालु रामने उत्तर दिया कि 'जब मिलने आया है तो—

मम पन सरनागत भयहारी ॥

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

—यह तो मेरा प्रण है । और यदि यह कहो कि वह शरण नहीं आया है, भेद लेने आया है, तो ऐसा हो नहीं सकता । क्योंकि—

पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥
जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई । मोरें सनमुख आव कि सोई ॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

पापी और कलुषितहृदय तो मेरी शरणमें आ ही नहीं सकता और मैं भी छल-कपटसे हीन निर्मल मनवालेको ही प्राप्त होता हूँ । तथापि यदि यह भेद ही लेने आया है तो भी कोई हानि नहीं । क्योंकि रावण मेरा वास्तविक भेद नहीं जानता, इसीसे तो यह रणलीला हो रही है; वह यदि इस भेदको जान जायगा तो अच्छी ही बात है ।'

जौं सभीत आवा सरनाईं । रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥
उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपानिकेत ।
जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत ॥

यहाँ अंगद और हनू (मानरहित हनूमान्) को गौणरूपसे

कहकर मुख्यतः 'कपि' शब्दसे सुग्रीवका तात्पर्य है, अतः ये तीनों स्वागतपूर्वक श्रीविभीषणजीको लाये और विभीषणजीने—

दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता। नयनानंद दान के दाता॥

शरण्यकी कृपामयी चितवनि पहले शरणागतके नेत्रोंको अपना अनुकूल भाव जताकर जो परम सन्तुष्टि प्रदान करती है, वही 'नयनानंद-दान' है। छविधाम श्रीरामजीकी मनोहर मूर्तिका दर्शन कर पहले तो विभीषणजी ठिठक गये और लगे एकटक निहारने; फिर मनमें धीरज धर, सजलनेत्र और रोमाञ्चित हो मृदु वचन बोले। यहाँ भी विभीषणजीके 'नयन नीर पुलकित अति गाता' से काय, 'मन धरि धीर'से मन और 'कही मृदु बाता' से वचन—ये तीनों ही श्रीराममें लय हुए हैं। विभीषण कहते हैं—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥

—और विनय करने लगे—'नाथ! यद्यपि किसी प्रकार भी मैं आपके ग्रहण करने योग्य नहीं हूँ, क्योंकि मैं आपके शत्रु दशाननका भाई हूँ; आप सुरत्राता अर्थात् असुरारि हैं और मेरा निसिचरवंशमें जन्म हुआ है; आप निर्मल जनोंको प्राप्त होते हैं और मेरा तमोगुणी शरीर स्वभावसे ही पापप्रिय है; तथापि—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

तथापि मैंने कानोंसे श्रीकृपालुका यह सुजस सुन रक्खा है कि प्रभु भव-भयके भञ्जन करनेवाले हैं, आरतिके हरनेवाले तथा शरणागतको सुख देनेवाले एवं रघुवीर अर्थात् दया आदि पञ्चवीरतासे युक्त हैं। श्रीहनुमान्‌जीसे भी मैं सुन चुका हूँ कि—

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

अतः 'मैं आपकी शरणमें आया हूँ; आप मुझे बचाइये, बचाइये!' ऐसा कहकर विभीषणजी साष्टाङ्ग गिर पड़े। ऐसे दीन वचन सुनते ही श्रीरामने उठकर अति हर्षसे दोनों भुजाओंसे उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और लक्ष्मणके सहित भेंट कर निकट बैठा लिया तथा 'लंकेश' कहकर उनसे कुशल पूछने लगे और कहने लगे—'विभीषण! मैं तुम्हारे स्वभावको जानता हूँ; तुम नीतिमें अति निपुण हो, तुमको अनीति अच्छी नहीं लगती।' इस प्रकार श्रीरामने श्रीहनुमान्‌जीकी सहायताके रूपमें किया हुआ उनका उपकार प्रकट किया। विभीषणने उत्तरमें निवेदन किया—'नाथ! जबतक इन शोकधाम कामनाओंको छोड़कर यह जीव श्रीचरणोंका भजन नहीं करता, तबतक उसे कुशल कहाँ? अब जब मुझे श्रीचरणोंका दर्शन प्राप्त हो गया, तो सब कुशल-ही-कुशल है; जब अनुकूल होकर श्रीकृपालु हृदयमें बसते हैं, तभी मोह-मत्सरादि दूर हो जाते हैं और त्रिविध तापोंसे त्राण मिल जाता है। जिसका ध्यान मुनियोंको भी दुर्लभ है, उस प्रभुने हर्षित हो मुझ-जैसे अधमस्वभाव निशिचरको भी हृदयसे लगा लिया। आज मुझ-सा बड़भागी कौन है!' श्रीभगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा—

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

'सखा ! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ । भुशुण्डि, श्रीशिव तथा गिरिजा भी इस स्वभावको जानती हैं । जो सारे चराचरका द्रोही भी हो चुका हो, वह भी यदि मद-मोह और छल-कपट छोड़कर भयभीत हो मेरी शरण आता है तो उसे मैं शीघ्र ही साधुके समान पद प्रदान करता हूँ । अर्थात् जिस पदको साधुलोग अमित साधनद्वारा सम्पादन करते हैं, वही पद मैं उसी क्षण केवल सच्चे शरणागतके नाते ही उसे प्रदान कर देता हूँ । उसके पूर्वकृत पापोंका कोई भी विचार नहीं करता ।'

भगवान् श्रीरामके स्वभावको जाननेवालोंमें श्रीभुशुण्डिका प्रमाण तो स्वतः उन्हींके वचन हैं—

अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥

शिवजीने भी श्रीरामके स्वभावके विषयमें ऐसा कहा है—

उमा राम सुभाउ जिन्ह जाना। तिन्हहि भजन तजि भाव न आना ॥

और गिरिजाके विषयमें तो आख्यायिका प्रसिद्ध है कि वे सती-शरीरमें किस प्रकार सीताका वेष धारण कर भगवान्‌की परीक्षा करने गयी थीं । परन्तु प्रभुने उन्हें कृपा कर अपने स्वरूपका बोध कराया था और त्रिपादविभूतिके वैभवका दर्शन कराया था । एक बार आर्त होकर श्रीसतीने प्रपत्ति लेकर कहा था—

जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन बेद जसु गावा ॥
तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी ॥

—जिससे प्रभुने शीघ्र ही दक्ष-यज्ञमें उनके देहत्यागका योग उपस्थित कर दिया और पीछे हिमाचलके यहाँ उन्हें जन्म देकर पूर्वके

समस्त असूयादिको भुलाकर उल्टे स्वयं जाकर शिव भगवान्‌से—

अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥
अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥

इस प्रकार विनती करके और जिस भक्तिमें त्रुटि आनेके डरसे शिवजीने सतीका त्याग किया था, उसी भक्तिको न्यौछावर करके कहा कि 'मैं आपका अपनेमें स्नेह तब समझूँगा, जब आप पार्वतीसे विवाह करेंगे।' यों प्रेरणा करके गिरिजाको पुनः शिवकी प्रिया बना दिया। अतः गिरिजाको भी भगवान्‌का स्वभाव मालूम है।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥
सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

फिर श्रीभगवान् कहने लगे—

'इस प्रकारके गुणोंवाला आप-सरीखा प्रेमी मुझे प्राणसम प्रिय है। लंकेश! आपमें उपर्युक्त सभी गुण एकत्र हैं, अतः आप मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।'

'रामायुध अङ्कितगृह' से 'सगुण उपासना', रावणादिको हितशिक्षा देनेसे 'परम हितं पिता', 'नीति बिरोध न मारिअ दूता' से 'नीतिका दृढ़ नेम', 'बिप्र रूप धरि बचन सुनावा। सुनत बिभीषन उठि तहँ आवा॥' से

'द्विज-पद प्रेम' आदिका स्पष्ट प्रमाण भगवान्‌को मिल ही चुका था।

अब इस प्रकरणको गीतावलीके इसी प्रसङ्गके एक भजनको देकर समाप्त किया जाता है। वस्तुतः प्रपत्तिका रहस्य या तो प्रपन्न जानता है या शरण्य, इसकी व्याख्या करना हम-जैसोंके लिये तो वैसा ही है जैसा—

'कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह मम मलिन जनेषु ॥'

ऐसा समझकर ढिठाई क्षमा होगी कि—

निज गिरा पावनि करन कारन राम जसु तुलसीं कह्यो।

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति, लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ ॥
सब बिधि हीन दीन अति जड़मति, जाको कतहुँ न ठाउँ।
आएँ सरन तजौं न भजौं तेहि, यह जानत ऋषिराउ ॥
जिन्ह कें हौं हित सब प्रकार चित, नाहिन आन उपाउ।
तिन्हहि लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ ॥
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतियाउ।
नाहिन प्रिय कोउ मोहि दास सम, कपट प्रीति बहि जाउ ॥
सुनि रघुपति के बचन बिभीषन प्रेम मगन, चित चाउ।
तुलसिदास तजि आस त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ ॥

रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषनु राखेउ दीन्हेउ राजु अखंड ॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥

श्रीमानसका रावण

श्रीरामावतारके विभिन्न हेतुओंके पढ़नेसे यह पता चलता है कि प्रत्येक कल्पके रामावतारमें रावण भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। श्रीतुलसीकृत रामायणमें जिन चार कल्पके हेतुओंका वर्णन है, उनमें-से एक कल्पमें जय-विजयका रावण-कुम्भकर्ण होना, दूसरे कल्पमें जलन्धरका रावण होना, तीसरे कल्पमें हरगणोंका रावणादि राक्षसोंके रूपमें पैदा होना तथा चौथे कल्पमें राजा भानुप्रतापका रावण होना

पाया जाता है। जिस कल्पके रावणके अत्याचार आदिका वर्णन मानसमें हुआ है, उस चौथे कल्पके हेतु-प्रसङ्गमें कहा गया है कि राजा भानुप्रताप रावण हुए, उनके भाई अरिमर्दन कुम्भकर्ण हुए तथा उनके सचिव धर्मरुचि विभीषण हुए। राजा भानुप्रतापके जो सुत-सेवक आदि थे, वे सब अनेक घोर राक्षस हुए।

श्रीशिवजीका कथन है—

उपजे जदपि पुलस्त्य कुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर श्राप बस भए सकल अघरूप॥
कीन्ह बिबिध तप तीनिहुँ भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई॥
गयउ निकट तप देखि बिधाता। मागहु बर प्रसन्न मैं ताता॥
करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा॥
हम काहू के मरहिं न मारें। बानर मनुज जाति दुइ बारें॥
एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्माँ मिलि तेहि बर दीन्हा॥

'मैं और ब्रह्माजी दोनोंने मिलकर रावणको उसकी याचनाके अनुसार यह वरदान दिया कि वानर और मनुष्यको छोड़कर और किसीके भी हाथसे तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी।' कुम्भकर्णने छः मासकी निद्रा और विभीषणने भगवान्‌की निष्काम भक्तिका वर प्राप्त किया। रावणके साथ मय दानवने अपनी कन्या मन्दोदरीका विवाह कर दिया। तत्पश्चात् रावणने अपने दोनों भाइयोंका विवाह करके विधिनिर्मित लंकाको, जिसे मय दानवने सुसज्जित किया था और जो पीछे कुवेरके अधिकारमें थी, कुवेरके गणोंको भगाकर अपनी राजधानी बना लिया और कुवेरपर चढ़ाई करके उनसे पुष्पकविमान भी छीन

लिया। एक बार उसने कैलास पर्वतको भी उठा लिया और इस तरह मानो अपने बाहुबलकी असीमताका परिचय दिया। उसने मेघनाद आदि अपने सुत-सेवकोंको अधर्मका प्रचार करनेकी आज्ञा दी और स्वयं गदा लेकर जो उठा तो देवलोकमें चारों ओर उसने भगदड़ मचा दी। समस्त दिक्पालोंको भगा दिया, समस्त लोक और लोकपालों-पर विजय प्राप्तकर विश्वभरको अपने वशमें कर लिया। वह स्वतन्त्र राजा बनकर देव, यक्ष, गन्धर्व, मुनि, किन्नर और नागादिको जीत-कर उनकी कन्याओंको व्याह लाया। अधर्मको स्थापित करना और धर्मको निर्मूल करना—बस, यही उसका एकमात्र कर्तव्य रह गया। सारा संसार उसके भयसे काँप उठा। ब्राह्मणोंके ग्राम और गोशालाएँ फूँकी जाने लगीं। ऐसा भ्रष्टाचार फैला कि पृथ्वी भी बोझल हो उठी और उसने गौका रूप धारण कर देवता और मुनियोंके पुरस्सर भगवान्को पुकारा। श्रीभगवान्ने दया कर आकाशवाणी की कि 'मैं श्रीअयोध्यामें चक्रवर्ती दशरथजीके यहाँ मनुजरूपमें अवतार लेकर भूभारका हरण करूँगा, तुमलोग निर्भय रहो।' तबसे ब्रह्मादि देवता और पृथ्वी धैर्यके साथ बाट जोहते रहे। समय आनेपर भगवान्ने श्रीरामावतार धारण करके सर्वप्रथम श्रीविश्वामित्र मुनिकी यज्ञरक्षाके मिस ताड़का-सुबाहु आदि असुरोंका संहार किया, मारीचको आगेके कार्यके विचारसे जानसे न मारकर बिना फरके बाणसे उड़ाकर समुद्रपार लंकाकी ओर फेंक दिया। तत्पश्चात् जनकपुरमें जाकर रावण, बाणासुर आदिसे न उठनेवाले शिवधनुषको भंग करके श्रीसीताजीको व्याह लाये और वनवासकी लीला रचाकर, लंका-विजयको लक्ष्य करके प्रयाग, चित्रकूट होते हुए पञ्चवटी जा

पहुँचे। वहाँ रावणकी बहिन शूर्पणखाके अपराधपर उसके नाक-कान कटवाकर खर-दूषणादि चौदह सहस्र राक्षसोंका एक साथ संहार किया। तब शूर्पणखाने लंकामें जाकर रावणको प्रेरित किया। उसने कहा—

अवध नृपति दसरथ के जाए। पुरुषसिंह बन खेलन आए॥
समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥
जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भए बिचरत मुनि कानन॥
देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना॥
अतुलित बल प्रताप द्वौ भ्राता। खल बध रत सुर मुनि सुखदाता॥
सोभा धाम राम अस नामा। तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥
रूप रासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी॥
तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा॥
खर दूषन सुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा॥

'अयोध्याके राजा दशरथके दो नरपुङ्गव कुमार वनमें शिकार खेलने आये हैं। उनके पराक्रमको देखकर तो यही मालूम होता है कि वे पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित कर डालेंगे। रावण! उनका बल पाकर मुनि वनोंमें निर्भय घूम रहे हैं। वे देखनेमें तो बालक-से लगते हैं; परन्तु दोनों भाई बड़े धीर, धनुर्विद्यामें बड़े प्रवीण, महान् गुणी, अमित बलशाली और महाप्रतापी हैं। वे सुर-मुनियोंको आनन्द देने और खलोंका वध करनेमें ही सदा लगे रहते हैं। जिन शोभाधामका 'राम' ऐसा नाम है, उनके साथ एक श्यामा (षोडश वर्षकी अवस्थावाली) नारी भी है, जिसे ब्रह्माने रूपकी राशिसे ही सँवारकर रचा है; उसकी सुन्दरतापर सौ करोड़ रति न्यौछावर हैं। उन्हीं रामजीके छोटे

भाईने मेरे नाक-कान काट डाले हैं और यह सुनकर कि मैं आपकी वहिन हूँ, मेरी फजीहत की है। खर-दूषणने यह सुनकर मेरी सहायता की, परन्तु क्षणभरमें ही सारी सेनाके साथ उनका भी उन्होंने संहार कर डाला।'

खर दूषन तिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सव गाता॥
सूपनखहि समुझाइ करि वल बोलेसि वहु भाँति।
गयउ भवन अति सोचवस नीद परइ नहिं राति॥

सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥
खर दूषन मोहि सम वलवंता। तिन्हहि को मारइ विनु भगवंता॥
सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ वैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा॥
जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥
चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। वस मारीच सिंधु तट जहवाँ॥
इहाँ राम जसि जुगुति वनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥

लछिमन गए वनहिं जव लेन मूल फल कंद।
जनकसुता सन बोले विहसि कृपा सुख वृंद॥

खर, दूषण और त्रिशिराका मरण सुनते ही रावणके शरीरमें आग लग गयी—उसे वड़ा क्रोध हुआ। उसने शूर्पणखाको वहुत प्रकारसे भरोसा दिलाते हुए समझाया [कि देख, मैं तुरंत इन सवका वदला चुकाता हूँ]। परन्तु वह वड़ी चिन्तित अवस्थामें अपने शयनागारमें गया और सोचके कारण उसे रातभर नींद नहीं आयी। वह रात्रिमें यह विचार करने लगा कि 'देवता, मनुष्य, नाग

(स्वर्ग, भूलोक और पातालनिवासियों) तथा असुर और खगोंमें भी कोई ऐसा नहीं है जो मेरे अनुचरकी भी बराबरी कर सके। तब भला, मेरे ही समान बली खर-दूषणको तो बिना भगवान्के कौन मार सकता है? यदि देवताओंको आनन्दित करने तथा भूभार हरनेके लिये स्वयं भगवान्ने अवतार लिया है, तब तो मैं जाकर उनसे बलात् वैर ठानूँगा और प्रभुके बाणोंके द्वारा प्राण त्यागकर संसारसे पार हो जाऊँगा। इस तामसी शरीरसे भजन तो होगा नहीं। इसलिये मन, वचन और कर्मसे यह मत दृढ़ है। और यदि वास्तविक मनुष्यरूपमें कोई राजपुत्र होंगे, तब दोनोंको जीतकर नारीका हरण कर लूँगा [क्योंकि मनुष्य तो मुझसे पार पा ही नहीं सकता]।'

फिर रावणने सोचा कि अब परीक्षा लेकर इस बातका निर्णय करना चाहिये कि वे ईश्वर हैं या मनुष्य। ऐसा विचारकर वह अकेला ही रथपर चढ़कर मारीचके पास चला, जहाँ वह समुद्रतटपर रहता था। उसने यह सोचा कि "जब वे वनमें मृगया करते ही हैं, तब मारीचको कपट-मृग बनकर उनके सामनेसे निकलनेके लिये कहूँगा। यदि वे भगवान् होंगे तब तो कपट पहचान ही जायँगे, उठेंगे ही नहीं। और यदि राजपुत्र होंगे तो शिकार देखकर उसे मारनेके लिये उसके पीछे अवश्य दौड़ेंगे और तब यह निश्चय हो जायगा कि वे ईश्वर नहीं हैं नर हैं। यदि यह निर्णय होगा कि वे भगवंत हैं, तो वहीं हठात् युद्ध ठान दूँगा और उनके बाणोंद्वारा मरकर मुक्ति प्राप्त करूँगा। और यदि भूपसुत हुए तो मारीचको युक्ति बताये रक्खूँगा कि 'तुम लक्ष्मणका

नाम लेकर रामजीकी भाँति पुकारना ।' उसके पुकारनेपर जब लक्ष्मण भी सीताको छोड़कर चले जायँगे, तब सीताको हर ले जाऊँगा और भुक्ति (संसार) का सुख भोगूँगा । कदाचित् उन दोनोंने हरणमें ही बाधा उपस्थित की अथवा पीछे पता लगनेपर वे युद्धमें प्रवृत्त हुए तो दोनों भाइयोंको रणमें जीत ही लूँगा, इसमें कोई सन्देह ही नहीं है । इस प्रकार जहाँ एक ओर मुक्तिका योग है, वहाँ दूसरी ओर भुक्तिके सुख (लोकसुख) की भी सम्भावना है ।"

दूसरी ओर श्रीरामजीने क्या युक्ति सोची, उमा ! उस सुन्दर कथाको भी सुनो । [वह रावणकी युक्तिसे भी विलक्षण थी ।] जिस समय लक्ष्मणजी फल-मूल और कन्द लानेके लिये वनमें चले गये, उस समय एकान्त पाकर सुखधाम श्रीरामजीने बिहँसकर* श्रीजानकीजीसे कहा—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला । मैं कछु करबि ललित नरलीला ॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा । जौ लगि करौं निसाचर नासा ॥
जबहिं राम सब कहा बखानी । प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी ॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता । तैसइ सील रूप सुबिनीता ॥
लछिमनहूँ यह मरमु न जाना । जो कछु चरित रचा भगवाना ॥

---

* जब कोई श्रीरामजीसे चतुराई करता है, तब वह उसे जानते हुए भी अनजानकी तरह माधुर्यलीलामें रत होने—'बिहँसनेकी मुद्रा प्रदर्शित किया करते हैं, जैसे सुतीक्ष्णजीके प्रति किया था—'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई । लिए संग बिहसे द्वौ भाई ॥' यहाँ भी अपने अन्तर्यामीपनकी शक्तिसे रावणकी परीक्षा करनेकी युक्ति जानकर भगवान् बिहँस पड़े और अपनी युक्ति सोचते हुए विचार करने लगे कि 'देखें, किसकी युक्तिकी विजय होती है ! भला, मेरी युक्तिके आगे रावणकी युक्ति क्या चलेगी ?'

प्रिये ! आप तबतक अग्निमें निवास करें, जबतक मैं राक्षसोंका नाश कर लूँ। मैं कुछ ललित नरलीला करूँगा। अर्थात् रावण मेरी परीक्षा करने आ रहा है; उसने सोचा है कि यदि ये ईश्वर मालूम हों तब तो मैं यहीं युद्ध ठानकर प्राण दे दूँ और यदि नर साबित हों तो उनकी स्त्री हर ले जाऊँ। परन्तु मैं चाहता हूँ कि रावण मुझे नर ही जाने ('प्रभु विधि बचनु कीन्ह चह साचा'); क्योंकि उसकी मृत्यु नरके ही हाथसे होनेवाली है।* मैं ईश्वर बनकर उसका वध नहीं कर सकता। इसलिये जब रावणके मनमें यह निश्चय हो जायगा कि मैं नर हूँ, तब वह स्त्रीहरण करेगा। अतएव आप अपने ही आकारका अपना प्रतिबिम्ब छोड़कर स्वयं पावकमें प्रवेश कर जाइये।'

इस प्रकार जब बखान करके (विस्तारपूर्वक) श्रीरामजीने श्रीजानकीजीको समझा दिया, तब श्रीप्रभुके चरणकमलोंको हृदयमें धारण करके श्रीसीताजी स्वयं तो अग्निमें समा गयीं तथा अपने ही रूप और शील-स्वभाववाली प्रतिबिम्बरूपा सीताको अपनी जगहपर छोड़ गयीं। इस प्रकार भगवान्‌ने जो चरित रचा, उसके मर्मको लक्ष्मण भी नहीं जान सके।

यहाँपर यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि प्रथम चौपाईमें 'नरलीला' शब्द देकर यह सूचित किया गया है कि खर-दूषणके वधमें ईश्वरीय लीला की गयी है—'देखहिं परस्पर राम।' परन्तु अब केवल माधुर्यकी —नर बनकर—लीला करनेसे ही रावणका वध हो सकेगा। फिर

---

* इसका प्रमाण इस प्रकार है—

नर कें कर आपन बध बाँची। हसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥

अन्तिम चौपाईमें 'भगवाना' शब्द देकर यह दरसाया गया है कि भगवान् अपने विभुत्व—सर्वव्यापकत्वके कारण रावणकी युक्तिको तो जान गये' परन्तु उनका चरित परम गुह्यतम होनेके कारण उसे जाननेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं थी।

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा। नाइ माथ स्वारथ रत नीचा॥

रावणने मारीचके पास पहुँचकर, स्वार्थवश उसके सामने सिर नवाकर विनती की कि ऐसा-ऐसा समाचार शूर्पणखाद्वारा मिला है। अतः—

होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी॥

तब मारीचने कहा—"रावण! 'ते नररूप चराचर ईसा।'—वे साक्षात् भगवान् हैं, उनसे वैर मत कीजिये। उन्होंने ही मुझे बिना फरका बाण मारकर सौ योजन दूर समुद्रपार भेज दिया है। यदि वे मनुष्य भी हों, तो भी वे बड़े बली हैं—

जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥

अतः यदि आप अपना कुशल चाहते हैं तो लंका लौट जाइये!"

रावणने सोचा 'इसीका निर्णय करनेके लिये तो मैं इसे ले चलता हूँ और यह मुझे यहाँसे समझा-बुझाकर वापस कर देना चाहता है।' अतः उसे मारीचपर बड़ा क्रोध आया—'सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी।' रावणने कहा—'गुरु बनकर तू मुझे समझाता है? यदि तू नहीं चलेगा तो अभी तेरा वध कर डालूँगा।' जब मारीचने देखा कि मेरी तो दोनों तरहसे मृत्यु है, तब वह रावणके साथ हो लिया—

उभय भाँति देखा निज मरना । तब ताकिसि रघुनायक सरना ॥

फिर पञ्चवटीके पास पहुँचकर वह कपटमृग बनकर श्रीरामजीके सामनेसे निकला !

तब रघुपति जानत सब कारन । उठे हरषि सुर काजु सँवारन ॥
प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी । धाए रामु सरासन साजी ॥

तब श्रीरघुनाथजी, जैसी युक्ति पहले सोची थी, उसके अनुसार नरकी भाँति उस मायामृगके पीछे दौड़ पड़े—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा । मायामृग पाछें सो धावा ॥

कुछ दूर जानेपर जब श्रीरामजीने उसपर बाण छोड़ा, तब मारीचने रावणके सिखानेके अनुसार श्रीरामजीकी बोलीमें लखनलालको जोरसे पुकारा और प्राण छोड़ दिये। उसकी आवाज सुनकर सीताजीने लखनलालको भी भेज दिया । जब लखनलाल वहाँ चले गये तब रावण सूना देखकर, यतिका वेष बनाकर सीताजीका हरण करनेके लिये डरते-डरते उनके पास गया और पहले नाना प्रकारसे समझाकर उन्हें राजी करना चाहा । परन्तु जब श्रीजानकीजीने यह उत्तर दिया कि 'यति गोसाईं ! आप दुष्टोंकी भाँति पापवचन क्यों बोल रहे हैं,' तब रावणने अपना रूप प्रकट किया और कहा कि, 'मैं रावण हूँ ।' श्रीमायारूपा जानकीको भी तो लीला ही करनी थी; उन्होंने नाम सुनते ही भयभीत होनेका लक्षण प्रकट किया और फिर खूब धैर्य धारण कर उत्तर दिया कि 'रे खल! खड़ा रह, अभी प्रभु आ रहे हैं । जिस तरह सिंहकी सिंहनीको अपनी भोग्या पत्नी बनानेवाले तुच्छ खरगोशकी जान नहीं बच सकती, उसी तरह राक्षसेन्द्र ! लोभसे तुम्हारा भी नाश हो जायगा ।' श्रीजानकीजीका ऐसा उत्तर सुनकर रावण क्रोधसे भर गया; परन्तु साथ ही उनके दृढ़ पातिव्रतको

देखकर भीतर-ही-भीतर उसने उनकी वन्दना और सराहना भी की। उसे इस बातसे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मुझे ऐसी सुन्दरी वन्दनीया स्त्री मिलेगी। अतः उसने बलात् श्रीसीताजीको रथपर बैठा लिया और आतुरताके साथ आकाशमार्गसे चल पड़ा। इस भयसे कि रामजी आ न जायँ, उससे रथ हाँकते नहीं बनता था। यथा—

क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगन पथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ॥

मार्गमें गृध्रराज जटायुजीने उससे युद्ध किया। जटायुको परास्त कर, उनके पंख काटकर रावण नाना प्रकारसे विलाप करती हुई श्रीजानकी-जीको लंका ले गया। वहाँ उसने बहुत प्रकारके प्रेमपूर्ण प्रलोभन तथा नाना प्रकारके भय दिखाकर उन्हें राजी करना चाहा। परन्तु जब वह हार गया, किसी तरह श्रीसीताजीने उसकी पत्नी होना स्वीकार नहीं किया तब उसने उन्हें महलसे बाहर अशोकवाटिकामें अशोकके वृक्षके नीचे रखवा दिया और पहरेका पूरा प्रबन्ध कर दिया। यथा—

हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ।
तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ॥

रावणको यह शाप था कि 'यदि तू किसी स्त्रीके साथ उसे बिना राजी किये बलात्कार करेगा, तो उसी समय तेरा मस्तक विदीर्ण हो जायगा और तेरी मृत्यु हो जायगी।' इसी कारण उसने श्रीसीताजीको महलोंमें न ले जाकर बाहर अशोकवाटिकामें रक्खा और अन्ततक नित्यप्रति उनके पास जाकर साम, दान, भय और भेदके प्रयोगद्वारा उन्हें राजी करनेका प्रयत्न करता रहा। जिस समय श्रीहनुमान्‌जी मुद्रिका लेकर तरुपल्लवमें छिपे बैठे थे, उस समय भी संयोगसे रावण वहाँ जा पहुँचा था और उसी

दुष्ट कामनाकी पूर्तिके प्रयत्नमें लगा हुआ पाया गया था। यथा—

तेहि अवसर रावनु तहँ आवा। संग नारि बहु किएँ बनावा॥
बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दान भय भेद देखावा॥
कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥
तव अनुचरीं करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥
तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥
सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥

आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥
नाहिं त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन हानी॥

जब बहुत प्रकारसे साम (सुमुखि, सयानी आदि प्यारके वचन), दान (मन्दोदरी आदि सब रानियोंको तुम्हारी अनुचरी बना दूँगा—इस प्रकारके प्रलोभन)तथा भेद (एक बार बिलोकु मम ओरा' अर्थात् एक ही बारके लिये राज़ी हो जाओ—ऐसा कहकर छल करने) से भी श्रीजानकीजीका यही उत्तर मिला कि 'रे शठ दशमुख ! तू नहीं जानता कि कमलिनी सूर्यसे ही खिलती है; जुगनू यदि उसे अपने मोहवश प्रसन्न करना चाहे, तो यह कदापि सम्भव नहीं है। अर्थात् मैं श्रीरघुनाथजीकी ही अनन्यभोग्या हूँ, जो सूर्यवत् प्रखर प्रकाशकी राशि हैं; तू तो खद्योत (जुगनू) के सदृश है, व्यर्थ ही अपने तुच्छ प्रतापसे मुझे अपनी भोग्या बनानेकी चेष्टा करता है। रे अधम निर्लज्ज चोर ! तुझे अपनी चोरीपर

भी लज्जा नहीं आती !' इस प्रकार श्रीसीताजीद्वारा अपना अपमान होते देख रावणने क्रोधित होकर तलवार निकाल ली और कहा कि 'यदि मेरी बात अब नहीं मानोगी, तो तुम्हारा सिर इसी तलवारसे काट डालूँगा । सुमुखि ! अपने जीवनको बरबाद मत करो ।' तब श्रीजानकीजीने उत्तर दिया—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर । प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर ॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा । सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा ॥
चंद्रहास हरु मम परितापं । रघुपति बिरह अनल संजातं ॥
सीतल निसित बहसि बर धारा । कह सीता हरु मम दुख भारा ॥

'रावण ! श्रीप्रभु (रामजी) की भुजा जो नील कमलकी मालाके सदृश सुन्दर तथा हाथीकी सूँडके समान पुष्ट तथा विशाल है, या तो वही मेरे गलेका आलिंगन करेगी या तेरी यह घोर तलवार ही । अर्थात् तू जो यह समझ कर रहा है कि प्राणनाशकी नौबत आनेपर भयके मारे मैं तेरा आलिंगन स्वीकार कर लूँगी, यह तेरी भूल है । रे शठ ! मैं तेरी तलवारसे गला कटा लूँगी, परन्तु तेरी भुजाओंको अपने गलेका स्पर्श न करने दूँगी । मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुन ले ।' रावणसे ऐसा कहकर फिर श्रीसीताजी उसकी तलवार 'चन्द्रहास' को, जो उसे वरदानमें प्राप्त हुई थी, यह आज्ञा देने लगी कि 'चन्द्रहास ! श्रीरामजीकी विरहाग्निसे उत्पन्न मेरे ताप—भारी दुःखको अपनी शीतल एवं तेज श्रेष्ठ धारसे हरण कर ले । अर्थात् तू दिव्य अस्त्र है, रावणके अन्यायको देखकर उसके चलानेपर तू कहीं कुण्ठित न हो जाना; तुझे भी मेरी आज्ञा है कि मेरा वध करके मुझे इस दुःखसे छुड़ा देना ।'

जब सीताने इस प्रकार साफ इन्कार कर दिया, तब 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' के अनुसार, अपनी कामनाकी पूर्तिमें निश्चित बाधा देखकर रावण उनके प्राण लेनेपर ही उतारू हो गया। क्योंकि शापका भय तो केवल राजी किये बिना भोग करनेमें था, मार डालनेमें तो उसे कोई भय था ही नहीं। अतः—

सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा॥

उसने यह निश्चय कर लिया कि 'यदि इतने दिनोंसे अनेक प्रयत्न करनेपर भी यह राजी नहीं होती, मुझे इसके अङ्ग-सङ्गका सुख नहीं मिलना है, तो इसका वध ही कर डालना ठीक है।' इसलिये वह तलवार चलानेके लिये लपका। परन्तु उसे दौड़ते हुए देखकर मन्दोदरीने रोक लिया और वह नीति समझाने लगी कि 'एक तो आप-सरीखे वीरको अपने हाथसे स्त्रीपर अस्त्र छोड़ना ही उचित नहीं, दूसरे अभी निराश होनेकी भी कोई बात नहीं। आप मेरे कहनेसे कुछ और मुहलत देनेकी कृपा करें।' तब रावणने एक महीनेकी अवधि रख दी और कहा कि 'यदि एक मासके भीतर मेरे साथ अङ्ग-सङ्ग करनेको राजी न हुई तो प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि इसका वध कर डालूँगा।' ऐसा कहकर उसने समस्त राक्षसियोंको बुलाकर आज्ञा दी कि 'तुमलोग बहुत प्रकारसे भय दिखाकर इसे मेरा कहना मान लेनेके लिये तैयार करो।' तत्पश्चात् वह राजमहलमें लौट गया और वे राक्षसियाँ नाना प्रकारके डरावने वेष धारण करके श्रीजानकीजीको बहुत प्रकारसे डराने लगीं। यथा—

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई॥
मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना॥

भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृंद।
सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद॥

इस एक महीनेकी मुहलतका प्रमाण नीचेके दोहे और चौपाईसे भी मिलता है—

जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच॥
मास दिवस महुँ नाथु न आवा। तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा॥

जिस समय रावण एक मासकी अवधि देकर वापस लौटा, उसके पश्चात् श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीता माताको सहिदानिके रूपमें मुद्रिका प्रदान कर श्रीरघुनाथजीका कुशल-सन्देश सुनाया तथा लङ्का भस्म करके वहाँसे लौटकर श्रीसीताजीका कुशल-समाचार श्रीरघुनाथजीको दिया। फिर श्रीसरकारने सैन्यसमेत चढ़ाई की और कुल-दलके सहित रावणका संहार करके विभीषणजीको लंकाका राज्य देकर वे श्रीसीता-लक्ष्मण-समेत निजधाम अयोध्या लौट आये। इस प्रकार दुरात्मा रावणको अपने दुष्कर्मोंके कारण नाना प्रकारका सन्ताप उठाना पड़ा और उसी व्यामोह तथा दुष्कामनामें उसकी जान गयी। परन्तु भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धाम—इन चारों दिव्य विग्रहोंका यही प्रबल प्रताप है कि कोई कैसा भी दुष्ट, अधम और महापापी क्यों न हो, यदि अन्तमें मरते समय वह रामनामका उच्चारण कर ले, या रामलीला (चरित) का अनुसन्धान कर ले, या रामधाम (अयोध्यादि) में रहे या रामरूपके समक्ष या ध्यानमें शरीरका परित्याग करे तो उसकी अधोगति नहीं होती बल्कि उसकी मुक्ति हो जाती है। इसी कारण भगवान् श्रीरामजीके हाथों उस दुरात्मा

रावण तथा अपर राक्षसोंका वध होनेके कारण सबकी मुक्ति हो गयी—'कीन्हे मुकुत निसाचर झारी।'

'रावणके सम्बन्धमें जो यह बात फैली हुई है कि उसने श्रीरामजीको ईश्वरावतार जानकर ही वैर बढ़ाया था और अपने परिवारसहित मुक्त होनेकी चेष्टामें प्रवृत्त था; यह बात श्रीतुलसीकृत रामायणसे सम्मत नहीं है। इस ग्रन्थमें यही प्रमाण मिलता है कि रावणने केवल उस रात्रिमें ऐसा अनुमानमात्र किया था कि 'यदि भगवंतने अवतार लिया होगा तो उनके वाणोंसे प्राण त्यागकर मुक्त हो जाऊँगा।' परन्तु जब प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा परीक्षामें भगवान् राजपुत्र निश्चित हो गये तो उसने अपने उस अनुमानको बदलकर दूसरे अनुमानको, जो भूपसुत होनेका था, पुष्ट और दृढ बना लिया और फिर 'नृपनारी' जानकर ही श्रीसीताजीका हरण किया तथा सदैव उनके सम्बन्धमें कुमनोरथ सिद्ध करनेकी धुनमें रत रहकर प्राण गँवाया। श्रीरामचरितमानसके रावणके विषयमें यह मानना कि उसने श्रीरामजीको भगवान् जाना था, सर्वथा असंगत है; ग्रन्थके सारे प्रसंग एक स्वरसे यही प्रमाण दे रहे हैं कि उसने उनका 'नर' होना ही निश्चित किया था। यथा—

रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा॥

× × × ×

लीन्ह नीच मारीचहि संगा। भयउ तुरत सोइ कपट कुरंगा॥
करि छलु मूढ़ हरी बैदेही। प्रभु प्रभाउ तस बिदित न तेही॥

यह प्रसंग वालकाण्डके आदिमें ही ४८ (ख) वें दोहेपर है। ये वाक्य श्रीयाज्ञवल्क्यके हैं, जो मानसके एक प्रधान वक्ता हैं और जिन्होंने मानसरोवरके दक्षिण घाटपर भरद्वाजजीको द्वितीय संवाद

सुनाया था। जब यह अर्थ स्वयं याज्ञवल्क्य ऋषिकी समझमें नहीं आयेगा कि रावणने श्रीरामजीको 'ईश्वर' माना या 'नर' तो फिर किसको ज्ञात होगा? उन्हींका कथन तो श्रीतुलसीकृत रामायणमें भी कहा गया है—

जागवलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥
कहिहउँ सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी॥

फिर श्रीयाज्ञवल्क्यजीको क्या पड़ी थी जो वे झूठ बनाकर कहते कि रावणने श्रीरामजीका प्रभाव न जानकर, उन्हें 'नर' मानकर वैदेहीका हरण किया था—

प्रभु प्रभाउ तस बिदित न तेही।

पुनः—

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥
(सुन्दर० दो० ५६)

सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥
........................।
निज बिकलता बिचारि बहोरी। बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी॥
(लंका० दो० ५)

जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा॥
उमा राम कीं भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥
(लंका० दो० ३४)

उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना॥
(लंका० दो० ३९)

श्रीशिवजी पार्वतीसे कह रहे हैं कि 'श्रीलखनलालजीकी पत्रिका सुनकर रावण मनमें भयभीत हो गया, ऊपरसे ही मुसकराया।

समुद्रका बाँधा जाना सुनकर वह व्याकुल होकर दसों मुखोंसे बोल उठा। जगदात्मा श्रीरामजीसे विमुख रावणको कैसे विश्राम मिले ? उमा ! रावणको वैसा ही अभिमान था, जिस प्रकार टिटिहिरी चिड़िया आकाशको थाम रखनेके लिये पैर ऊपर करके सोती है—इत्यादि ।' यदि रावण श्रीरामजीके हाथों मरनेमें सुख मानता तो फिर इष्टके समय उसके हृदयमें अनिष्टके भाव क्यों उदय होते ? वह भयभीत क्यों होता ? वह अकुलाता क्यों ? विमुख क्यों कहा जाता ? उसे अभिमान था, ऐसा क्यों कहा जाता ? क्या शिवजी सर्वज्ञ नहीं हैं ['सिव सर्बग्य जान सबु कोई ।'], क्या शिवजी झूठ कह सकते हैं ? कदापि नहीं—'मृषा बचन नहिं संकर कहहीं ।' अतः शिवजीके, जो मानसके रचयिता हैं, वचनको काटकर रावणको जानकार कहना अनर्थपूर्ण और असंगत है।

पुनः श्रीकाकभुशुण्डिजी गरुड़से कह रहे हैं—

इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥

(अरण्य० सीताहरणप्रसंग दो० २७)

फूलइ फलइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम ॥

(लंका० दो० १६)

यह बृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ ॥
.... ।

कुंभकरन बूझा कहु भाई। काहे तव मुख रहे सुखाई ॥

(लंका० दो० ६२)

बहु बिलाप दसकंधर करई। बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई ॥

(लंका० दो० ७१)

सुत बध सुना दसानन जबहीं। मुरुछित भयउ परेउ महि तबहीं॥

(लंका० दो० ७६)

तिन्हहि ग्यान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा सुभ पावन॥

× × × ×

ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिश्राम।
भूत द्रोह रत मोहबस राम बिमुख रति काम॥

(लंका० दो० ७८)

'रावण मूर्खहृदय था; इसीसे अनेक बार समझानेपर भी उसे श्रीरामजी ईश्वर नहीं ज्ञात हुए, वह उन्हें मनुष्य ही मानता रहा।' 'श्रीलक्ष्मणजीका होशमें आना सुनकर रावण अति विषादयुक्त हो गया और सिर पीटने लगा।' कुम्भकर्णने पूछा—'भाई रावण! तुम्हारे मुख क्यों सूख गये हैं?' 'कुम्भकर्णकी मृत्युपर उसका सिर छातीसे लगाकर रावण बहुत विलाप करता रहा।' 'मेघनादका वध सुनते ही वह मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा।' 'रावण मन्द, कामान्ध, रामविमुख, मोहान्ध और जीवद्रोही था; इसलिये न तो उसे सम्पत्ति मिल सकी, न शुभ शकुन हुए, न स्वप्नतकमें उसके मनको विश्राम मिला।'

ये भुशुण्डिजी श्रीमानसके प्रधान वक्ता हैं। सर्वप्रथम लोमशरूपसे श्रीशिवजीने इन्हींको श्रीरामचरितमानस सुनाया था। इनके मुखसे सत्ताईस कल्प बाद स्वयं शिवजीने भी वही कथा सुनी थी, जो शिवा (पार्वती) को सुनायी गयी है। फिर भुशुण्डिजी मिथ्या क्यों कहेंगे?

पुनः—

तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।
रे कपि बर्बर खर्ब खल अब जाना तव ग्यान॥

× × × ×

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा॥

(लंका० दो० २५)

जिन्ह के बल कर गर्ब तोहि अइसे मनुज अनेक।
खाहिं निसाचर दिवस निसि मूढ़ समुझु तजि टेक॥

(लंका० दो० ३१)

सो नर क्यों दसकंध बालि वध्यो जेहिं एक सर।
बीसहुँ लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़॥

(लंका० दो० ३३)

तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥

(लंका० दो० ३६)

हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥

(लंका० दो० ६२)

इहाँ दसानन जागि करि करै लाग कछु जग्य।
राम विरोध विजय चह सठ हठ बस अति अग्य॥

(लंका० दो० ८४)

जग्य बिधंसि कुसल कपि आए रघुपति पास।
चलेउ निसाचर क्रुद्ध होइ त्यागि जिवन कै आस॥

(लंका० दो० ८५)

काल बिबस पति कहा न माना। अग जग नाथु मनुज करि जाना॥
जान्यो मनुज करि दनुज कानन दहन पावक हरि स्वयं।
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय भजेहु नहिं करुनामयं॥

(लंका० दो० १०३)

विस्व द्रोह रत यह खल कामी । निज अघ गयउ कुमारग गामी ॥

(लंका० दो० १०९)

परद्रोह रत अति दुष्ट। पायो सो फलु पापिष्ट ॥

(लंका० दो० ११२)

ग्रन्थकार कवि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी सारे प्रसंगोंपर रावणका भगवान्को 'नर' ही कहना, 'नर' ही मानना लिखते हैं, दूसरोंके द्वारा उसके उन्हें 'नर' माननेका खण्डन कराते हैं, बार-बार समझानेपर भी उसका अटल निश्चय 'नर' ही मानना लिखते हैं; फिर रावणके अपनी विजयके लिये अमर-यज्ञ करने, यज्ञका विध्वंस होनेपर जीनेकी आशा त्याग कर लड़ाईके लिये चलनेका वर्णन कर तथा उसके लिये 'रघुपति-बिमुख', 'सठ', 'हठबस' और 'अग्य' आदि शब्दोंका प्रयोग कर उसे स्पष्ट भ्रम और मोहमें पड़ा हुआ सूचित करके यह निर्णय कर दिखाते हैं कि उसने भ्रमवश श्रीरामजीका 'नर' होना ही निश्चित कर लिया था। रावणकी पत्नी परमविदुषी मन्दोदरी रामभक्त थी; उसका भी अन्ततक यही कहना रहा कि 'पति ! तुमने कालवश किसीका कहना नहीं माना, साक्षात् चराचरनायकको मनुज समझ लिया।' इसके अतिरिक्त देवताओं तथा देवेन्द्रकी स्तुतियोंमें भी इसी बातका प्रमाण मिलता है कि रावण विश्वद्रोही, खल और कामी था; उस दुष्ट एवं कुमार्गगामीको उसके पापने ही नष्ट किया।

प्रसंगको ठीक-ठीक न समझनेके कारण कोई-कोई सज्जन सन्देह किया करते हैं कि श्रीसीताजीका हरण करनेके पहले रावणने

उन्हें महालक्ष्मीका अवतार मानकर मन-ही-मन उनकी चरण-वन्दना कर ली थी। यथा—

सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥

× × × ×

क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ।

चला गगन पथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ॥

परन्तु प्रथम तो यहाँ यह विचारनेकी बात है कि उपर्युक्त अर्द्धालीमें वर्णित 'रिसाना', 'चरण-वन्दना करना' और 'सुख मानना'—ये तीनों कार्य रावणके मनमें ही हुए हैं और मनके ये तीनों धर्म रावणकी उस मानसिक अवस्थामें स्फुरित हुए हैं, जो ऊपरवाली अर्द्धालीके अनुसार श्रीसीताजीका उत्तर सुननेके पश्चात् उत्पन्न हुई थी। अतः रावणका रिसाने, चरणवन्दना करने, सुख मानने, अन्तमें पुनः क्रोधवंत होकर सीताजीको रथपर बैठाने और रथ हाँकनेमें भयभीत होने—इन सभी मानसिक विकल्पोंका यथाक्रम समाधान उसी प्रसंगके प्रमाणोंसे किया जाता है।

(१) रावणके रिसानेका कारण यह था कि वह महामानी था और श्रीसीताजीने उसे 'दुष्ट', 'खल', 'छुद्र सस' और 'कालबस' आदि कह-कहकर अपमानित किया था, जिससे उसको क्रोध आना स्वाभाविक था; यथा—

कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥

.........................। आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा॥

जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा। भएसि कालबस निसिचर नाहा ॥

(२) चरण-वन्दना करनेकी भावना रावणके मनमें इसलिये आयी कि वह पतिव्रता स्त्रीके गुणोंसे खूब परिचित था, क्योंकि उसकी स्त्री मन्दोदरी भी पतिव्रता थी। श्रीसीताजीने जब श्रीरघुनाथजीको 'हरि' अर्थात् सिंह बताकर अपनेको 'हरिवधू' अर्थात् सिंहिनी सूचित करते हुए अनन्यभोग्या प्रमाणित किया, तब वह इस वन्दनीय पातिव्रत-गुणसे प्रभावित हो गया और उसके हृदयमें धन्यताका भाव समा गया।

(३) रावणको सुख हुआ इस भावनासे कि 'जिस गुणवती सुन्दरी स्त्रीको मैं प्राप्त कर रहा हूँ, ऐसी नारी दुर्लभ होती है। अतः मेरा अहोभाग्य है कि मैं ऐसी स्त्री पा गया!'

(४) अन्तमें रावणके 'क्रोधवंत' होकर ही सीताजीको रथपर बैठानेकी बात इसलिये लिखी गयी है कि तमोगुणी व्यक्तियोंमें तमकी ही प्रधानता रहती है। 'चरन बंदि' और 'सुख माना' के बीचके दोनों मनोविकल्प रावणकी प्रकृतिको देखते हुए क्षणिक ही थे। उसके क्रिया-कलाप आदि और अन्तके 'रिसाने' तथा 'क्रोधवन्त' होनेके सम्पुटमें ही रहे।

(५) 'भय रथ हाँकि न जाइ' इसलिये कि कुपन्थपर पग रखनेके कारण रावणमें तेज और बुद्धिका लेश भी नहीं रह गया था—

इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥

अतः वह डर रहा था कि कहीं श्रीरामजी न आ पहुँचें, क्योंकि श्रीसीताजीने कहा था कि 'आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा।'

दूसरे, यह विचारना आवश्यक है कि रावणने पहले जब मारीच-मृगद्वारा परीक्षा करके श्रीरघुनाथजीको 'नर' (राजपुत्र) निश्चय कर लिया, तभी वह 'नृपनारी' श्रीसीताजीका हरण करनेमें प्रवृत्त हुआ था—

सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती कें बेषा ॥

अतः वही रावण मनुष्यकी नारीको लक्ष्मी कैसे मान सकता था ? श्रीसीताजीको लक्ष्मी मानना तो उसी समय सम्भव हो सकता था, जब रावण श्रीरामजीको पहले नारायण निश्चय कर लेता; क्योंकि लक्ष्मी नारायणकी ही स्त्री हो सकती हैं। इसी प्रकार यदि रावण श्रीरामजीको भगवन्त निश्चय कर पाता तो जैसे भगवान्‌की महान् शक्तिको जानकर उसने उनके हाथ मरनेमें ही अपना कल्याण मान रक्खा था, क्योंकि वे अजित और अन्तर्यामी हैं; वैसे ही महालक्ष्मीकी भी अमित शक्तिमत्ता और अन्तर्यामित्वको जानते हुए वह उनको हर ले जानेकी हिम्मत नहीं करता। स्त्री-हरण करनेकी समस्याको रावणने इसी निर्णयपर रख छोड़ा था कि 'यदि कोई भूप-सुत होगा तो नृप-नारीका हरण करूँगा।' यथा—

जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ॥

अतः रावणके लिये श्रीसीताजीको लक्ष्मी मानना असम्भव था।

तृतीय बात यह विचारणीय है कि लक्ष्मीके प्रति रावणकी काम-बुद्धि कैसे हो सकती थी ? रावणके कुपन्थपर पग देने, सीताजीके प्रति राजनीति, भय और प्रीतिमिश्रित एवं काम-बुद्धिसे कुचेष्टाभरे दुष्ट वचन बोलनेका वर्णन किया गया है, जिनके उत्तरमें श्रीसीताजीने भी उसकी दुश्चेष्टा जानकर साफ-साफ कह दिया है कि—

'बोलेहु वचन दुष्ट की नाईं ।' और 'जिमि हरिबधुहि छुद्र सस चाहा ॥'

अर्थात् तुम दुष्टकी तरह बातें करते हो और क्षुद्र खरगोशके तुल्य होकर मुझ-जैसी सिंहिनीको अपनी पत्नी बनाना चाहते हो । भला, रावणके मनमें इस प्रकारके दो विपरीत भाव—जैसे एक ओर तो श्रीसीताजीको लक्ष्मी जानकर चरण-वन्दना करके उनकी कृपा चाहना और दूसरी ओर उन्हींको दुष्ट वचन सुनाकर, साम-दाम (भय-प्रीति) दिखाकर अपनी स्त्री बननेके लिये राजी करनेका दुष्प्रयत्न करना और उनके द्वारा काम-वासनाकी तृप्ति चाहना—कैसे सम्भव हो सकते हैं ! अतः श्रीसीताजीको लक्ष्मी मानकर उनकी चरण-वन्दना करना रावणके लिये कदापि संगत नहीं था ।

चतुर्थ बात यह विचारने योग्य है कि रावण श्रीसीताजीको लक्ष्मी मानकर क्रोधयुक्त कैसे हो सकता था ? उसका रिसाना तो नर-नारीपर ही सम्भव था, जिसका कारण उसका कहना न मानना होता । अतः लक्ष्मीजीपर रावणका क्रोध असम्भव होनेके कारण उसके लिये श्रीसीताजीको लक्ष्मी मानना भी असम्भव सिद्ध है ।

पाँचवें, श्रीसीताजीको लंकामें ले जाकर रावणने क्या किया ? दोहा देखिये—

हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ ।
तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ ॥

यहाँ 'हारि परा' से क्या सूचित होता है ? वह किस बातसे हार गया ? क्या रावण सीताजीको लक्ष्मी जानकर उनकी कृपा प्राप्त करनेमें हार गया था ? यदि कृपा प्राप्त करनेमें हार गया, तब भी तो

लक्ष्मीको महलमें ही निवास देना था, उन्हें बाहर ले जाकर अशोक-वाटिकामें पहरेके भीतर रखनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि रावणको जो शाप प्राप्त था, वह किसी स्त्रीसे बलात्कार करनेके सम्बन्धमें था; जब उसकी वैसी चेष्टा नहीं थी, तब महलमें ले जाना उसके लिये क्यों भयदायक था ? अस्तु, इस 'हारि परा' से स्पष्ट सूचित हो रहा है कि जब वह श्रीसीताजीको 'भय' और 'प्रीति' दिखाकर स्व-स्त्री-भाव स्वीकृत करानेसे हार गया, तब विवश होकर उन्हें अपने शयनागारमें न ले जाकर महलके बाहर अशोक-वृक्षके नीचे ठहराया, जहाँ कैदीकी तरह दुःखित करके उनको पुनः राजी कर लेनेकी उसे पूरी आशा थी। अतः इस प्रसङ्गके 'हारि परा' से भी रावणका सीताजीको लक्ष्मी मानना असम्भव है।

छठे, जब रावण श्रीसीताजीको लक्ष्मी मानकर चरणवन्दना करके उनकी कृपा चाहता था, तब श्रीसीताजी ऐसा विलाप करती हुई क्यों गयीं ? कि—

विपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥

अर्थात् 'देवेन्द्रके भोगको एक गदहा खाना चाहता है ?' श्रीसीताजीका यह विलाप उनकी कृपाकी आकांक्षा सिद्ध करता है या रावणकी पापबुद्धिका ? अतः इससे भी सीताजीको रावणका लक्ष्मी मानना असंगत है।

सातवें, जिस समय अशोकवनमें श्रीहनुमान्‌जी तरुपल्लवोंकी ओटमें छिपे हुए थे और रावण एक बार भी अपनी दुश्चेष्टाओंको सफलीभूत होते न देखकर श्रीसीताजीका वध करनेके लिये दौड़ा, उस

समय उसने मन्दोदरीके कहनेपर एक महीनेकी मुहलत दी थी। क्या यह लक्ष्मीजीकी चरणवन्दनाके पश्चात् उनका अपमान नहीं था ? भला, जिसको लक्ष्मी मानकर चरण-वन्दना की जायगी, उसीके साथ दुराचार करनेको कोई तत्पर होगा और उसकी स्वीकृति न मिलनेपर उसे मार डालनेतकपर कटिबद्ध होगा ? क्या यह कभी सम्भव हो सकता है ? कदापि नहीं, और इस दृष्टिसे भी रावणका सीताजीको लक्ष्मी मानकर चरण-वन्दना करना सर्वथा उल्टी और बेसिर-पैरकी बात है।

इसी प्रकार सुन्दरकाण्डान्तर्गत अशोक-वाटिकाके प्रसङ्गमें 'एक बार बिलोकु मम ओरा' इस रावणोक्तिका अर्थ करनेमें भी कई लोग भूल किया करते हैं। वे कहते हैं कि 'रावण श्रीसीताजीको मातृभावसे देखकर लोकपालपद प्राप्त करनेके उद्देश्यसे उनकी कृपा-दृष्टि अपनी ओर फेरनेका प्रयत्न कर रहा था।' और प्रमाणमें—

लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥

—इस चौपाईको पढ़ दिया करते हैं, जिसे श्रीगङ्गाजीने श्रीसीताजीकी स्तुति करते हुए कहा है।

परन्तु यहाँपर भी कितना विचार करनेकी बात है ! जिन श्रीसीताजीसे रावण कह रहा है, वे ही उसके कथनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझेंगी या कोई दूसरा अनुमानकर्त्ता समझेगा ? यदि रावण मातृभावसे श्रीसीताजीकी कृपादृष्टि चाहता तो वे उसको 'अधम', 'निलज्ज', 'सठ', 'खल' आदि क्यों बनातीं ? वे क्यों कहतीं कि "मैं कमलिनी हूँ और अपने सूर्यरूप प्रियतम श्रीरघुनाथजीके द्वारा ही खिलनेवाली हूँ, परन्तु तू जुगुनूके सदृश

क्षुद्र प्रकाशवाला होकर मेरा पति बनना चाहता है ! रे शठ ! मेरे कण्ठका आलिङ्गन श्रीराघवजीकी 'स्याम सरोज दाम सम सुंदर' भुजाएँ ही कर सकती हैं, दूसरी भुजा नहीं । हाँ, तेरी तलवार भले ही मेरे गलेको काटकर मेरा प्राणघात कर दे; परन्तु मेरी यह प्रतिज्ञा टलनेवाली न होगी ।'

और भी जिसको मातेश्वरी मानकर रावण कृपादृष्टि चाहेगा, उसे तलवार निकालकर कभी मारनेको दौड़ेगा ? उसी मातेश्वरीके पतिको, जो उसके विचारसे उसका पिता हुआ सूर्यके समान तथा अपनेको, जो बालक बन रहा है, जुगुनूके समान सुनकर क्या कोपसे भर जायगा ? एवं अपनी बातको स्वीकार न करनेकेअपराध-पर उसी माताको एक महीनेकी मियादतक नाना प्रकारके भय-त्रास दिखलायेगा और अन्तमें उसका वध करनेपर भी उतारू हो जायगा ? क्या रावणकी यही मातृभक्ति है ? अतः 'एक बार बिलोकु मम ओरा' इस रावणोक्तिका ठीक-ठीक अभिप्राय वही है, जिसको समझकर श्रीसीताजीने उसे अधम, निलज्ज, शठ और खल आदि बनाया था और इस प्रकारकी सुस्पष्ट पापबुद्धिमयी बातको खींच-तानकर मातृबुद्धिमयी बनानेका यत्न करना नितान्त अनुचित है ।

इसी तरहका एक और भ्रम रावणकी मृत्युके प्रसंगका एक प्रमाण देकर पैदा किया जाता है वह यह कि उसने मरते समय अपनी मुक्तिके लिये राम-नामका उच्चारण किया था, इसलिये वह गुप्त भक्त था—

गर्जेउ मरत घोर रव भारी । कहाँ रामु रन हतौं पचारी ॥

परन्तु यहाँ भी पूर्वप्रसङ्गको विचार करके देखना चाहिये। पहले ही रावणके सिर और उसकी भुजाएँ साफ हो चुकी हैं, यथा—

> छै सिर बाहु चले नाराचा। सिर भुज हीन रुंड महि नाचा॥
> धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब सर हति प्रभु कृत दुइ खंडा॥
> गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी॥

अर्थात् जब श्रीरघुनाथजीने इकतीस बाण छोड़कर एक बाणसे रावणकी नाभिका अमृत-कुण्ड सोख लिया है, तीस बाणोंसे उसकी बीसों भुजाएँ और दसों सिर काट डाले हैं, और अन्तमें पृथ्वीपर दौड़ते हुए उसके रुण्ड (धड़) के भी दो खण्ड कर दिये हैं, तब रावण मरा है तथा मरते समय जैसे उसका तेज प्रभुके श्रीमुखमें प्रवेश कर गया है, वैसे ही उसका यह घोर रव (ऊँची आवाज) भी हुआ है कि 'कहाँ रामु रन हतौं पचारी॥'

इसका रहस्य यह है कि जबसे रावणने पञ्चवटीमें मारीच-मृगद्वारा स्वयं परीक्षा लेकर यह निश्चय कर लिया कि श्रीरामजी भगवान् नहीं हैं, राजपुत्र हैं, वनवास हो जानेके कारण तपस्वी-वेषमें वन-वन घूम रहे हैं, तबसे उसने उनको 'तपसी' और 'भूपसुत' कहनेके सिवा 'राम' भी नहीं कहा है। 'राम' शब्दका ईश्वरबोधक अर्थ (जो सबमें रमण करें या योगिजन जिनमें रमण करें) भी उसको मान्य नहीं था। रावणको अनेक व्यक्तियोंने चौदह बार समझाया कि श्रीरामजी ईश्वर हैं, पर वह समझानेवालोंको ही मूर्ख समझता था और यह अनुभव करता था कि 'मुझे समझानेवाले झूठी अटकल लगा रहे हैं; मैंने परीक्षा करके जो निश्चय कर लिया है, वही ठीक है।' यहींतक नहीं, रावणने यह ठान भी ठान ली

थी कि 'उस मनुष्यका ऐसा नाम भी अपने मुँहसे नहीं निकालूँगा, जिससे उसके भगवान् होनेका अर्थ निकल सके ।' इस जिदको उसने आमरण एवं होश ठीक रहनेतक निभाया भी; परन्तु ईश्वरीय शक्तिके आगे रावणकी क्या गिनती थी ? क्योंकि—

ईस रजाइ सीस सबही कें। उतपति थिति लय विषहु अमी कें॥

अस्तु, जिस प्रकार समुद्र-बन्धनकी बात सुनकर रावण आकुल-व्याकुल होकर दसों मुखोंसे बोल उठा था—'दसमुख बोलि उठा अकुलाना,' उसी प्रकार राम-बाणोंके प्रतापने मरण-कालकी बेहोशीमें उसके जिद्दी नियमका भंग कर दिया और आवश्यकतापूर्वक उसकी आत्मासे यह ध्वनि निकल पड़ी कि 'कहाँ रामु रन हतौं पचारी ।' भक्तिसे उसके मुखसे राम-नामका उच्चारण कदापि नहीं हुआ है, क्योंकि भक्तिको तिलाञ्जलि तो वह पहलेही दे चुका था—'होइहि भजनु न तामस देहा ।' यदि वह भक्तिभावसे राम-नामका उच्चारण करता तो 'कहाँ रामु रन हतौं पचारी' क्यों कहता ? क्या कोई भक्त अपने इष्ट भगवान्‌का वध करनेकी भी भावना कर सकता है ? अतः इस प्रसङ्गके प्रमाणोंसे भी रावणको भक्त सिद्ध करना असंगत है ।

उपर्युक्त तीन स्थलोंके सिवा और कहीं भी ऐसा प्रसंग नहीं है, जहाँ अनुमान लगानेवाले लोग अर्थमें खींचतान करनेकी कल्पना भी कर सकेंगे । यदि रावणके मनके भीतर स्वप्नमें भी कोई दूसरा भाव होता तो ग्रन्थकारको उसे प्रकट करनेमें कदापि संकोच न होता । जिस प्रकार वालीके लिये लिख दिया गया है कि—

हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥

—उसी प्रकार रावणकी बात भी कह दी गयी होती । परन्तु जब

उसने श्रीरामजीके नर होनेका ही निश्चय कर लिया था, तब उसके सम्बन्धमें दूसरी बात क्यों लिखी जाती ?

अस्तु, श्रीतुलसीकृत रामायणसे रावणको गुप्त ज्ञानी या भगवान्‌को माननेवाला अर्थ निकालना सर्वथा असंगत है। ग्रन्थभरमें कहीं एक शब्द भी ऐसा नहीं है, जिससे रावणका ईश्वरभावसे सम्बन्ध रखना पुष्ट भी होता हो ! फिर स्पष्ट कथनकी तो बात ही क्या है ? सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि रावणको यह निश्चय हो जाता कि श्रीरामजी नर नहीं, नारायण हैं तो सारा ग्रन्थ ही विरोधमें परिणत हो जाता। क्योंकि सबसे पहले तो ब्रह्मा और शिवका वरदान ही नष्ट हो जाता; भगवान्‌के रूपमें उसका वध ही सम्भव नहीं था, नर या वानर होकर ही उसे मारा जा सकता था—

हम काहू के मरहिं न मारें। बानर मनुज जाति दुइ बारें॥

दूसरे, ब्रह्माके लेखकी मर्यादा जाती रहती; क्योंकि उन्होंने नरके ही हाथ रावणकी मृत्यु लिख रक्खी थी, भगवान्‌के हाथसे वह कैसे मर सकता था—

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥
नर कें कर आपन बध बाँची। ....॥

तीसरे, भगवत्-संकल्प नीचा हो जाता और जीवका ही संकल्प बढ़ जाता; क्योंकि भगवान् रामजी तो यह चाहते थे कि रावण मुझे ईश्वरके रूपमें न जान पावे—

रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा॥

और रावण परीक्षा लेकर जान लेना चाहता था। इस तरह तो इन उक्तियोंकी महिमा ही खण्डित हो जाती कि 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।' तथा—

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥

चौथे, लङ्काकी रणलीला ही न हो पाती और न पूरा भूभार ही उतरता; क्योंकि जब रावण भगवन्त जान लेता तो वह वहाँ पञ्चवटीमें ही हठपूर्वक वैर करके प्राण दे देता, सीताहरण करता ही नहीं। यथा—

तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ ॥

पाँचवें, श्रीविभीषणजीकी शरणागति ही न हो पाती; क्योंकि रावणके पहले ही मर जानेपर उनके साथ श्रीमारुतिजीका समागम ही किसलिये होता तथा रावणके साथ संघर्ष हुए बिना किस ग्लानिसे सब कुछ त्यागकर वह श्रीरामजीकी शरणमें आते? फिर प्रभुके मुख्य विरद भागवत-संरक्षणका प्रचार ही कैसे होता?

छठे, यदि रावणको वास्तवमें आसुरी प्रकृतिवाला मानें तो फिर उसे भगवान्‌के स्वरूपका बोध होना शास्त्रविरुद्ध हो जाता है।

तुम्हरीं कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन ॥

सातवें, यदि श्रीसीताहरण होता ही नहीं तो फिर स्वयं भगवान्‌की यह आकाशवाणी ही असत्य हो जाती कि—

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥

—क्योंकि श्रीनारदजीका यही वचन था तथा यही शाप स्वीकार किया गया था कि 'नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी।'

कहाँतक लिखा जाय, यदि रावण श्रीरामजीको ईश्वर जान लेता तो न मालूम कितने अनर्थ हो जाते। अतएव श्रीरामचरितमानसके प्रमाणोंके अनुसार रावणको भ्रममें पड़ा हुआ, मोहान्ध, भगवत्स्वरूपसे

अबोध, अज्ञ, भगवद्विमुख, श्रीरामजीको नर माननेवाला मानना ही ठीक है । जहाँतक हमने सुना है, श्रीमद्वाल्मीकिरामायणमें भी रावणके श्रीरामको ईश्वरावतार जान लेनेका कहीं प्रमाण नहीं मिलता, बल्कि उलटे उसके श्रीप्रभुजीके प्रति नरवत् व्यवहार और भावना रखने तथा अम्बा श्रीसीताजीके प्रति भी नृपनारीकी ही दृष्टिसे कुचेष्टाएँ करनेके बहु-संख्यक प्रमाण पाये जाते हैं । यदि किसी दूसरे ग्रन्थमें कोई ऐसा वाक्य कवि या रचयिताने लिख दिया हो तो उसे इस रामचरितमानसकी कथाके साथ मिलाना संशयमें पड़ना है, ऐसा स्वयं श्रीगोस्वामीजी महाराजने पहले ही बालकाण्डके वन्दनाप्रसङ्गमें लिख दिया है—

> नाना भाँति राम अवतारा । रामायन सत कोटि अपारा ॥
> कल्प भेद हरि चरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥
> करिअ न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी ॥

अतएव जिस ग्रन्थमें जो प्रमाण हो, उसमें वैसा ही मानना चाहिये । श्रीतुलसीकृत रामायणके रावणके लिये श्रीरामजीको 'नर' के बजाय 'नारायण' माननेकी बात कहना सर्वथा ग्रन्थके विरुद्ध है । अब अन्तमें श्रीरघुनाथजीके ध्यानकी महिमा बतानेवाले ऐसे एक श्लोकको उद्धृत करके, जो रावणसे ही सम्बन्ध रखता है, इस लेखको समाप्त किया जाता है ।

श्रीसीताजीके प्रति रावणकी अत्यन्त आसक्ति देखकर कुम्भकर्ण-ने कहा—

> आनीता भवता यदा पतिरता साध्वी धरित्रीसुता
> स्फूर्जद्राक्षसमायया न च कथं रामाङ्गमङ्गीकृतम् ।

जब तुम धरणिसुता साध्वी श्रीसीताके विषयमें जानते ही थे कि

वह पतिव्रताशिरोमणि है, तब उसका हरण करनेके समय तुमने अपनी राक्षसी मायाके द्वारा रामका ही रूप क्यों नहीं धारण कर लिया ? यतिका वेष क्यों बनाया ? यदि रामजीका रूप बना लेते तो तुम्हारी कामना इसी धोखेमें पूरी हो जाती, जिस तरह इन्द्रने गौतम बनकर अपनी कामना पूरी की थी । इसपर रावणने कुम्भकर्णको उत्तर दिया कि 'भाई ! मैं ऐसा अल्पबुद्धि नहीं हूँ कि मुझे यह युक्ति सूझी न हो । मैंने ऐसा ही करना चाहा था, परन्तु तुम तो जानते ही हो कि जब किसीका रूप धारण किया जाता है, तब पहले उसका ध्यान किया जाता है और फिर पीछे उसका रूप बनाया जाता है । अतः—

कर्तुश्चेतसि रामरूपममलं दूर्वादलश्यामलं
तुच्छं ब्रह्मपदं परं परवधूसङ्गप्रसङ्गः कुतः ॥

जब मैं श्रीरामरूपका, जो निर्मल दूर्वादलके समान श्याम है, ध्यान करने लगा तो उस ध्यानने मेरे हृदयका ऐसा विचित्र हाल कर दिया कि मेरे अंदर वैराग्य उत्पन्न होने लगा और परायी स्त्रीके अङ्गसङ्गके सुखकी तो गणना ही क्या, साक्षात् ब्रह्मसुख भी, जो परम सुख कहा जाता है, उस ध्यानानन्दके आगे तुच्छ प्रतीत होने लगा । तब मैंने सोचा कि यह तो मुझे किसी दूसरी ओर ले जा रहा है, इससे मेरा काम नहीं बन सकता । अतएव जल्दीसे मैंने उस ध्यानसे अपने मनको हटा लिया और इस कारण फिर मैं रामरूप न बना सका ।' धन्य है श्रीरामजीका ध्यान, जिसने रावणके पहाड़-सरीखे अन्तःकरणको भी मोड़ना आरम्भ कर दिया था ।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी अन्तिम अभिलाषा

आज हम मानस-प्रेमियोंके विनोदार्थ श्रीरामचरितमानसके अन्तिम दोहेका भावार्थ ही पुष्पाञ्जलिरूपसे उन्हें समर्पित करते हैं । सबसे पहले हम यह ध्यान दिलाना चाहते हैं कि यह श्रीरामायण-ग्रन्थ केवल किसी कविका काव्य ही नहीं है, अपितु भगवान्के नाम, रूप, लीला और धाम नामक चार दिव्य विग्रहोंमेंसे* साक्षात् लीला-विग्रहका अवतार ही है । जिस प्रकार त्रेतायुगमें धर्म-स्थापनाके लिये परमप्रभुके रूप-विग्रह श्रीरामका आविर्भाव चैत्र शुक्ला नवमीको भगवान्की जन्म-भूमि श्रीअयोध्याजीमें माता कौसल्याके निमित्तसे हुआ था, ठीक उसी प्रकार कलियुगमें सभी प्रकार धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि देखकर निज श्रुति-सेतु-रक्षणार्थ उन्हीं प्रभुके लीला-विग्रहका अवतार सं० १६३१ की उसी चैत्र शुक्ला नवमीको उसी अयोध्यापुरीकी सुप्रसिद्ध भूमि तुलसीचौरामें गोस्वामी श्रीतुलसीदास-

---

* रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम् ।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥

जीके निमित्त हुआ । इस विषयमें श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

संबत सोरह सै इकतीसा । करउँ कथा हरि पद धरि सीसा ॥
नौमी भौम बार मधु मासा । अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ॥
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं । तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा । सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥

जिस प्रकार त्रेतायुगमें प्रभुके रूपावतारद्वारा रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, अतिकाय और महोदर आदि महासुरोंका विध्वंस होनेसे धर्मकी रक्षा हुई थी, उसी प्रकार इस घोर कलिकालमें इन लीलावतार (श्रीरामायणजी) द्वारा मोह, मद, काम, लोभ और मत्सरादिका पराभव होकर धर्मकी रक्षा हो रही है और इस प्रकार जीवरूपी विभीषणका विपत्तिमुक्त होकर उद्धार हो रहा है—

मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी ।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ट बिबुधांतकारी ॥
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद, मद सूलपानी ।
अमितबल, परम दुर्जय निसाचर-निकर, सहित षडवर्ग गो जातुधानी ॥
जीव भवदंघ्रि-सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता ।
नियम जम सकल सुरलोक लोकेस, लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता ॥
(विनयपत्रिका, पद ५८)

इन सब उपमाओंसे श्रीरामायणावतारका लोकोत्तर उद्देश्य स्पष्ट प्रतीत होता है । साथ ही यह बात भी किसीसे छिपी नहीं है कि यदि इस कठिन कलिकालमें यह ग्रन्थरत्न न होता तो न जाने आज धर्मकी क्या गति हुई होती और हम कलि-कुटिल जीवोंके उद्धारका कोई ठिकाना होता भी या नहीं ।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थकी रचना भी अन्य आर्ष ग्रन्थोंके अनुसार दिव्यशैलीसे ही हुई है। इसकी रचनामें ग्रन्थकारका निश्चय भी यही है कि—

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें॥

इसके प्रणयनमें श्रीराम सूत्रधरके द्वारा ही जन-उर-अजिरमें वाणी-दारुनारिका नचाना निश्चित है। जिस प्रकार श्रीगीता और भागवतादिमें उपक्रम और उपसंहारके ऐक्यका सम्पुट देकर ग्रन्थको सम्पुटित किया गया है, ठीक वही नियम इस दिव्य ग्रन्थमें भी वर्तमान है। श्रीमद्भगवद्गीताका यथार्थ आरम्भ द्वितीय अध्यायके श्लोक ११ से होता है, जहाँ पहले-पहल श्रीभगवान् कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

इसका प्रथम शब्द 'अशोच्य' है। इस 'अशोच्य' शब्दसे आरम्भ होकर भगवान्‌का उपदेश अध्याय १८ के इस ६६ वें श्लोकमें समाप्त होता है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—इस श्लोकका अन्तिम वाक्य 'मा शुचः' है। इस प्रकार गीतोपदेशका उपक्रम 'अशोच्य' शब्दसे करके उसका उपसंहार 'मा शुचः' से किया गया है। ऐसे ही श्रीमद्भागवतमें भी मंगलाचरण-के प्रथम श्लोक—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

——के जिन 'सत्यं परं धीमहि' शब्दोंसे ग्रन्थका उपक्रम हुआ है, उन्हींसे द्वादश स्कन्धके अन्तिम अध्यायके श्लोक १९ में उसका उपसंहार भी किया गया है। यथा——

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥

इस प्रकार गीतामें 'अशोच्य' और 'मा शुचः' इन समानार्थक शब्दोंसे ग्रन्थ सम्पुटित हुआ है तथा श्रीमद्भागवतमें 'सत्यं परं धीमहि' इस पदको ही उपक्रम और उपसंहारमें रखकर सम्पुट दिया गया है। यही नियम इस श्रीरामचरितमानसमें भी देखा जाता है। इसका उपक्रम——

वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥

——इस श्लोकके 'वकार' से हुआ है और उपसंहार भी ग्रन्थकी समाप्तिपर——

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥

——इस श्लोकके अन्तिम वर्ण 'व' कारपर ही हुआ है। इस

प्रकार श्रीरामायणके आदि और अन्तमें 'व' कारका सम्पुट दिया गया है।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है। श्रीमद्भागवतमें 'सत्यं परं धीमहि' इन तीन शब्दोंसे स्वरूपका ध्यान करते हुए सम्पुट दिया गया है, जिसका जानना सुलभ होते हुए भी कुछ क्लिष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीतामें केवल एक शब्दका सम्पुट देकर उसे सुलभतर किया गया है, क्योंकि शब्दका ज्ञान होना स्वरूपज्ञानकी अपेक्षा कहीं सुलभ है। किन्तु इस मानसग्रन्थमें केवल अक्षरका सम्पुट देकर उसे सुलभतम कर दिया है; क्योंकि शब्द-ज्ञानसे भी अक्षर ज्ञान बहुत ही सुगम है, यह तो बाल्यावस्थामें ही हो जाता है। अतः इसे तो जिन्हें केवल अक्षर-ज्ञान ही हुआ है, वे भी जान सकते हैं। इसके लिये विशेष विद्या-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं है।

इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थोंके अन्तमें उनके माहात्म्यादिके वर्णनकी शैली भी एक-सी ही है। गीता अध्याय १८, श्लोक ७०-७१ में कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अध्याय १२ में भी ग्रन्थका माहात्म्य वर्णन करते हुए कहते हैं—

य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः।
श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः॥

देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः।
यच्छन्ति कामान् गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात् ॥

इसी प्रकार श्रीरामचरितमानसमें भी अन्तमें माहात्म्य-वर्णन करते हुए कहा है—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास ॥
राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान ॥

इनके सिवा ऊपरके श्लोकोंमें भी जिनमें सम्पुट दिया गया है, ग्रन्थका माहात्म्य ही वर्णन किया गया है। माहात्म्य-वर्णनके समान इन ग्रन्थोंमें अधिकारीका निश्चय भी एक-सा ही किया गया है; जैसे—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

(गीता १८। ६७-६८)

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २९, श्लोक २६—३० में कहा है—

य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात् सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥
नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥

ठीक यही बातें श्रीरामायणमें उत्तरकाण्डके अन्तमें पायी जाती हैं—

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि ॥

कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि । जो न भजइ सचराचर स्वामिहि ॥
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ । सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ ॥
राम कथा के तेइ अधिकारी । जिन्ह कें सत संगति अति प्यारी ॥
गुर पद प्रीति नीति रत जेई । द्विज सेवक अधिकारी तेई ॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई । जाहि प्रान प्रिय श्रीरघुराई ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस ग्रन्थका ग्रन्थन सर्वथा आर्षपद्धतिसे हुआ है ।

इस भगवत्स्वरूप ग्रन्थका भाव भी बड़ा ही गम्भीर है। इसके एक-एक शब्दका मर्म अथाह है । कोरी विद्या-बुद्धि इसका आकलन करनेमें सर्वथा पङ्गु है । इसे तो 'सो जानइ जेहि देहु जनाई ।' जिस अनन्य प्रपन्न जनपर प्रपन्नैकपरायण प्रभुकी अनुकम्पा होती है, उसीको इस ग्रन्थरत्नकी उपलब्धि होती है । ऐसे प्रपत्तिगम्य ग्रन्थोंके जीवके उपाय-उपेय तो एकमात्र वे ही हैं । उन्हींका चरित्र चित्रण करते हुए जिस ग्रन्थके आदिमें श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई', उस 'मानस' का अन्तिम दोहा यह है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

अर्थात् जैसे कामी पुरुषको स्त्री और लोभीको दाम (धन) प्रिय लगता है, वैसे ही हे रघुनाथ ! हे राम ! मुझे आप सदैव प्रिय लगें ।

श्रीगोस्वामीजीकी अन्तिम माँग बस, यही है जो कि उन्होंने ग्रन्थके समाप्त होनेपर प्रस्तुत की है । इस विनतीके पीछे आपका और कोई पद नहीं है—बस, यहीं आपके मनोरथकी इति हो

जाती है। इससे प्रतीत होता है कि यह अवश्य ही किसी परम गूढ़ आशयसे भरा होगा। इन भगवत्-भागवत-रहस्यसम्बन्धी मार्मिक भावोंको भला, मैं क्या समझ सकता हूँ। इनके वास्तविक ज्ञाता तो भगवान् राम या उनके अनन्य भक्त श्रीगोस्वामीजी ही हैं; तथापि उन्हीं दोनोंके कृपा-कटाक्ष और शुभ प्रेरणासे जो कुछ इस तुच्छ हृदयमें स्फुरित हो रहा है, वही निवेदन करता हूँ।

मानस-प्रेमियोंसे यह बात छिपी नहीं है कि इस मानस-सरके चार घाट हैं—

सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
ते एहि पावन सुगम सर घाट मनोहर चारि॥

—उनमेंसे श्रीगोस्वामीजीने अपना दैन्य (दीनता)-घाट रक्खा है। दीनोंको अपने एक मात्र शरण्यदेवका आधार छोड़कर और आसरा ही कहाँ है? उनके उपाय-उपेय तो एकमात्र उनके प्रभु ही हैं। अतः उन्हींसे उनके प्रेमकी याचना की जा रही है। यह माँग श्रीगोस्वामीजीके दीनता-घाटकी अपनी निजी है। इन घाटोंका पृथक्-पृथक् विभाग समाप्ति-प्रकरणमें इस प्रकार किया गया है। भुशुण्डि-गरुड-संवादरूप उपासनाघाट, जो उत्तर दिशाका है, उत्तरकाण्डके अन्तमें इस १२५ (क) वें दोहेपर समाप्त होता है—

तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेम सहित मतिधीर।
गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदयँ राखि रघुबीर॥

इसके पश्चात् 'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन' इस दोहेसे लेकर—

मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥

—इस १२९वें दोहेतक शिव-पार्वती-संवादकी पूर्ति है, जो कि पश्चिम दिशाका ज्ञानघाट है। तत्पश्चात् 'यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा॥' से लेकर 'रघुपति कृपा जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥' तक याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद समाप्त होता है, जो कि शुद्ध कर्मकाण्डरूप दक्षिण दिशाका घाट है तथा अन्तमें 'एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥' से उपर्युक्त दोहेतक श्रीगोस्वामीजीका पूर्व दिशावर्ती दैन्यघाट समाप्त हुआ है। अतः यह गोस्वामीजीकी निजी प्रार्थना है। इसमें किसी औरका साझा नहीं है।

उपर्युक्त दोहेमें एक प्रेमके सम्पादनार्थ ही ग्रन्थकारने दो उपमाओंका प्रयोग किया है। अतः यह जिज्ञासा होती है कि एक अर्थकी सिद्धिके लिये एक उपमा ही पर्याप्त थी—चाहे 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' कह देते और चाहे 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम' कह देते, दो उपमाएँ देकर व्यर्थ अर्थ-गौरव क्यों किया? परन्तु गोस्वामी-जीकी कृति सर्वथा निर्दोष है। अवश्य ही इन दो उपमाओंसे भी पृथक्-पृथक् प्रयोजनोंकी सिद्धि होती होगी। इनका प्रयोग व्यर्थ नहीं हो सकता। आगे चलकर दो उपमाओंके समान ही 'रघुनाथ' और 'राम'—ये दो सम्बोधन भी देखनेमें आते हैं। इनका प्रयोग भी वैसा ही व्यर्थ प्रतीत होता है, परन्तु ऐसा है नहीं। इनमें भी गोस्वामीजी-का कोई गूढ़ तात्पर्य अवश्य है। अब हम उसे ढूँढ़नेका कुछ प्रयत्न करेंगे।

हमें भी गोस्वामीजीका तात्पर्य ऐसा मालूम होता है कि 'रघुनाथ' शब्दसे उन्होंने रूप और 'राम' शब्दसे नामका ग्रहण किया है। इसी प्रकार प्रथम उपमा 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' 'तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु' के लिये और दूसरी उपमा 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम' 'प्रिय लागहु मोहि राम' के लिये प्रतीत होती है। इससे गोस्वामीजी महाराजका यह अभिप्राय है कि 'जिस प्रकार कामी पुरुष स्त्रीके रूपपर मुग्ध रहता है, उसी प्रकार मैं निरन्तर आपके रूपमें आसक्त रहूँ। जैसे कामीको एक क्षण भी अपनी प्रियतमाकी सुरति नहीं भूलती, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग निरन्तर उसके हृदयमें नाचते रहते हैं; प्रियासम्बन्धी वार्ताको सुननेके लिये उसके कान दोसे सौ हो जाते हैं तथा संयोग होनेपर नेत्र रूप-माधुरीके रसिक होकर पलक मारना भूल जाते हैं, वैसे ही मुझे भी प्रभुके श्रीविग्रहका ध्यान पलभर भी विस्मृत न हो, रूप-माधुर्यके वर्णनको श्रवण करते-करते मेरे कर्ण-पुट कभी न अघावें और जब कभी प्रभुका साक्षात्कार हो तो नेत्रोंकी टकटकी ही लगी रहे। ऐसे ही जिस प्रकार लोभी दामसे कभी तृप्त नहीं होता—उसे हजार रुपये रोज मिलें तो कम, लाख मिलें तो कम, करोड़ मिलें तो कम तथा अर्ब-खर्ब-पद्म-नील कितने ही मिलें—उसकी तृप्ति होती ही नहीं, उसी प्रकार मैं नित्यप्रति आपके हजार नाम जपूँ तो, लाख जपूँ तो, करोड़ जपूँ तो तथा अर्ब-खर्ब, नील-पद्म जपूँ तो भी किसी प्रकार मेरी तृप्ति न हो; आपके नामामृतकी तृषा निरन्तर बनी ही रहे, मेरी नाम-जपकी रुचि किसी प्रकार पूरी न हो। लोभीको जैसे एक-एक पैसा प्राणके समान प्यारा होता है, उसी प्रकार मैं एक नामका हर्ज भी सहन न

कर सकूँ ।' रूपके प्रेमीके लिये कामी-नारीकी और नामके प्रेमीके लिये लोभी दामकी उपमा सर्वथा सार्थक है । क्योंकि कामी नारीके केवल रूपपर ही आसक्त होता है; वह उसके जाति, गुण, ऐश्वर्य आदि कुछ भी नहीं देखता । अतः उसका सम्बन्ध केवल रूपसे है । तथा लोभी केवल दामपर ही मुग्ध होता है; उसे दामके अतिरिक्त और किसी पदार्थका कुछ भी मूल्य नहीं मालूम होता, वह उसे ही अपने समस्त कार्योंका साधक और अपनी रक्षामें सर्वसमर्थ समझता है । श्रीगोस्वामीजीका इससे यही तात्पर्य है कि 'आपके रामनामका महत्त्व हमारे हृदयमें ऐसा निश्चल हो जाय कि वह किसी प्रकार टस-से-मस न हो, हम एकमात्र उसे ही अपने लोक-परलोकका साधक समझें ।'

'स्वारथ अरु परमारथहू कहँ नहि कुंजरो नरो ॥

अब यह प्रश्न होता है कि 'रघुनाथ' शब्दसे रूप और 'राम' शब्दसे नामका सम्बन्ध कैसे माना जाय । इस विषयमें श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डमें ही नामवन्दना करते हुए श्रीरघुनाथजीके अवतारसे भी उनके नामके महत्त्वको अधिक बतलाते हुए कहा है—

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ॥

इस दोहेसे 'रघुनाथ' शब्दका प्रयोग 'प्रभु' के रूपके लिये हुआ है, यह स्पष्ट ही है; और 'नाम' से 'राम' शब्दका ही अभिप्राय है । इसका निश्चय भगवान्‌के नामकरणका प्रसंग देखनेसे हो सकता है । उस समय गुरुवर वसिष्ठजीने श्रीरघुनाथजीका नाम 'राम' ही रक्खा है—

जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

आपका नाम दो ही अक्षरका है, इसमें और भी प्रमाण हैं—

राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास।

× × ×

एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब बरनन पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ॥

अतः यह सर्वथा निश्चित है कि 'राम' शब्दसे नामका ही ग्रहण किया गया है।

इसके अतिरिक्त उन दो उपमाओंके प्रयोगसे दूसरा भाव यह भी है कि इस संसारमें मायाका बन्धन ही दो प्रकारसे जीवोंको ग्रस्त किये हुए है—एक तो नारीके रूपसे चेतनात्मक होकर, तथा दूसरे दामरूपसे जडस्वरूप होकर। नारी मूर्तिमती माया ही है। इस विषयमें 'मायारूपी नारि' तथा 'नारि बिष्नु माया प्रगट' इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराज भी कहते हैं—

किमत्र हेयं कनकं च कान्ता। श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम्॥

अर्थात् इस संसारमें सोना और स्त्री—ये दो वस्तुएँ त्याज्य हैं तथा गुरु-वाक्य और वेद-वाक्य—ये दोनों ग्राह्य हैं। खानखाना अब्दुर्रहमान खाँ (रहीम) भी कहते हैं—

रहिमन यहि जग आइ कै कोउ न भयउ समरत्थ।
एक कंचन एक कुचन पर जो न पसारयो हत्थ॥

लोकोक्ति भी है कि 'दमड़ी और चमड़ीमें ही सारा संसार फँसा हुआ है।' श्रीगोस्वामीजी इन दोनोंका लक्ष्य कराकर इनकी

जगह सरकारके ही नाम और रूपसे खानापूरी करना चाहते हैं, जिससे कि दोनों प्रकारके मायिक भयोंसे निर्भय होकर वे निरन्तर अनुराग-रसका आस्वादन करते रहें।

इन दो उपमाओंका तीसरा भाव यह माल्रूम होता है कि श्रीगोस्वामीजी इनके द्वारा विरद-पालक प्रभुको उनके निज विरदका स्मरण करा रहे हैं। गीता अध्याय ९ श्लोक २२ में भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे यह प्रतिज्ञा की है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थात् जो लोग अनन्य भावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, निरन्तर मुझहीमें लगे रहनेवाले हैं, उन भक्तोंका योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। यहाँ योगसे अप्राप्तकी प्राप्ति और क्षेमसे उसकी रक्षा अभिप्रेत है। उपर्युक्त दोहेकी प्रथम उपमासे भगवान्‌का योगकी ओर लक्ष्य कराया जा रहा है। उसका तात्पर्य यह है कि "अपने नाम और रूपमें मुझे ऐसे असीम अनन्य प्रेमका योग करा देनेकी कृपा हो; जैसा कि कामासक्त पुरुषका [अपनी प्रेयसी] नारीमें हुआ करता है। अर्थात् मुझे इस समय यही अप्राप्त है—इसीकी बड़ी आवश्यकता आ पड़ी है, और आपने अपने अनन्य-शरण दासोंको अप्राप्त वस्तु प्राप्त करा देनेको या उनकी सभी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा की है; अतः इसका योग कराके आप अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कीजिये। इतना ही नहीं, आपने तो क्षेम (प्राप्तकी रक्षा करने) की भी प्रतिज्ञा की है; अतः

उसकी रक्षा भी ऐसी सावधानीसे की जाय, जैसे कि लोभी अपने धनकी करता है ('लोभिहि प्रिय जिमि दाम') ।" कृपणकी सावधानी-का दिग्दर्शन श्रीगोस्वामीजीने अन्यत्र भी कराया है; जैसे—

लोचन जलु रह लोचन कोना । जैसे परम कृपन कर सोना ॥

तात्पर्य यह है कि 'यदि आप अपना प्रेम केवल देकर ही छोड़ देंगे, तो मैं ऐसा मन्दमति हूँ कि उसे फिर छोड़ दूँगा । अतः लोभी-के दामके समान उसकी रखवाली भी सरकार ही करें; ऐसा न हो वह किसी समय भी मेरे पाससे चला जाय !'

इन उपमाओंका चौथा भाव यह है कि नारीका प्रलोभन अधिकतर युवावस्थामें ही प्रबल हुआ करता है (ज्यों सुभाय प्रिय नागरी नागर नवीनको ।'—विनयपत्रिका); अवस्थाके ढलनेपर कामवासना भी स्वतः ही मन्द पड़ जाती है, ('वृद्धस्य तरुणी विषम्' —चाणक्य); उस समय तृष्णाका प्रकोप होता है (तृष्णैका तरुणायते'—भर्तृहरि) । श्रीगोस्वामीजी महाराज बाल्यावस्थासे तो कभीके निकल चुके थे ('तब अति रहेउँ अचेत') । अब उन्हें युवा और वृद्ध—दो अवस्थाएँ पार करनी थीं, अतः वे इनके प्रबल विघ्न कामिनी और काञ्चनसे बचनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो ! युवावस्थामें नारी ही प्रबल शत्रु है, उसके स्थानपर मेरे हृदयमें आपके अनूप रूपका अविचल आसन लग जाय; और वृद्धा-वस्थाके प्रबल विघ्न दामकी जगह आपका नाम डट जाय । फिर किसी प्रकारका खटका न रहे, दासकी संसार-यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो जाय ।'

कुछ सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो इसका पाँचवाँ भाव बड़ा ही रहस्यमय प्रतीत होता है। हम देखते हैं कि इसके द्वारा श्रीगोस्वामीजी अपनी कार्पण्यतापूर्ण (सूमकी-सी) निष्ठाका परिचय दे रहे हैं। वे श्रीभरतजीको अपना आचार्य मानते हैं, जैसा कि उन्होंने अयोध्याकाण्डके अन्तिम छन्दमें कहा है—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

और श्रीभरतलालकी धारणा यह है कि—

जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

तात्पर्य यह है कि 'श्रीरघुनाथजी मुझपर प्रेमभाव रक्खें, इसकी तो बात ही क्या; यदि वे मुझे कुटिल भी जानें, तो भी मेरे हृदयमें उनके चरण-कमलोंका अनुराग नित्यप्रति बढ़ता रहे।' भरतजीकी इस एकाङ्गी प्रीतिकी पुष्टि और भी दो उदाहरणोंसे होती है—

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पवि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई॥

तथा—

कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

श्रीगोस्वामीजीने प्रेमकी याचना करते समय पहले 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' कहा है। इसमें कामी और नारी दोनोंके चेतन होनेसे यह भ्रम हो सकता था कि उन्हें प्रभु और दासके

पारस्परिक प्रेमकी आकांक्षा है। अतः उन्होंने 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम' के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि 'मेरी धारणा भी आचार्य-प्रवर भरतलालकी निष्ठाके अनुकूल ही है। जिस प्रकार लोभीकी धनमें आसक्ति होती है किन्तु धन उसकी परवा नहीं करता; उसी प्रकार प्रभु मुझसे प्रेम करें अथवा न करें—इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, मेरी प्रीति प्रभुके नाम और रूपमें अवश्य निरन्तर बनी रहे—मुझे तो एकाङ्गी प्रेमकी ही चाह है।'

इन दोनों उपमाओं और नीचेके पदके 'निरन्तर शब्दपर विचार करनेसे इनका छठा भाव यह स्फुरण हो रहा है कि पहली उपमा देकर श्रीगोस्वामीजीके आर्त चित्तको इसलिये सन्तोष नहीं हुआ कि कामी और नारीकी प्रीतिमें समय और अवस्था आदिके परिवर्तनसे अन्तर पड़ जानेकी सम्भावना है, जैसे कि कहा है—

चारि ठौर सब नरन के कछु वैराग्य चढ़ंत।
गर्भ माहिं, शव के निकट, कथा सुनत, रति अंत॥

इनके अतिरिक्त वृद्धावस्थामें भी मनुष्यका स्त्रीमें प्रेम नहीं रहता, यह ऊपर दिखला ही चुके हैं। अतः यह सूचित करनेके लिये कि वृद्धावस्थामें भी मरणपर्यन्त उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता रहे ['लोभिहि प्रिय जिमि दाम'] ऐसा कृपणका-सा प्रेम माँगते हैं। विनय-पत्रिकामें भी कहा है—'सुनु सठ! सदा रंक के धन ज्यों छिन-छिन प्रभुहि सँभारहि।' परन्तु इस उपमासे भी अपनी वास्तविक निष्ठाकी पूर्तिमें कसर देखकर संसारमें कोई और उपमा न मिलनेके कारण श्रीगोस्वामीजी 'निरन्तर' शब्दसे उसकी पूर्ति करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लोभीका मुख्य प्रेम दाममें होता है, परन्तु अनन्य प्रेम तो

अपने प्राणोंपर ही होता है। जब कहीं प्राण जानेकी नौबत आ जाती है, तो उन्हें भी धनका मोह छोड़ना ही पड़ता है। प्रेमकी तीन श्रेणियाँ हैं—गौण, मुख्य और अनन्य। उदाहरणार्थ नवप्रसूता गौको जंगलमें चरनेके लिये छोड़ दिया जाय तो उसका मुख्य प्रेम बच्चेपर ही रहता है, घासपर तो उसका गौण प्रेम होता है। उसे जब अवसर मिलता है, तभी चरना छोड़कर बच्चेके पास दौड़ आती है; फिर भी उसका अनन्य प्रेम तो अपने प्राणोंपर ही होता है। जिस समय चरवाहा लट्ठ लेकर तानता है तो बच्चेके पास जाना भूलकर तुरंत लौट पड़ती है। श्रीगोस्वामीजी इसी अनन्य प्रेमके भूखे हैं, उस प्रेमकी प्राप्तिमें कोई भी अन्तराय न रहे, इसीलिये उन्होंने इन दो उपमाओंके ऊपर 'निरन्तर' की छाप और दे दी है। इसी भावको लेकर श्रीयामुनाचार्यजी भी कहते हैं—

न देहं न प्राणं न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत् सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्॥
(आलवन्दारस्तोत्र)

अब इस सप्त सोपान (काण्ड) वाले अगाध मानस-महार्णवके इस अन्तिम पदका एक और भाव लिखकर लेखनीको विराम देंगे। इस अथाह समुद्रकी महिमा कहाँतक कही जाय? जब इसका गुणावगाहन करने लगते हैं, तो यह कहावत चरितार्थ हो जाती है—'सागरमें जल बहुत है, गागरमें न समाय।' अस्तु, अब हम देखते हैं कि वह सातवाँ रत्न क्या है। श्रीकाष्ठजिह्वजी 'देव' स्वामीका कथन है कि—

जगतमें तीन मतवाले ।
हालमस्त, कोइ मालमस्त है, ज़हरी चश्मके कोइ घाले ॥
चश्म-दिवाना दर-दर घूमै, मालमस्त धनको पाले ।
हालमस्त कोइ राम-दिवाना, जिसकी जीभ पड़े छाले ॥
(वैराग्यप्रदीप)

अर्थात् इस संसारमें तीन ही पूरे पागल हैं एक तो जहरी चश्मका घाला हुआ (कामान्ध), दूसरा मालमें मस्त (लोभान्ध) और तीसरा हालमें मस्त (भगवत्प्रेमान्ध), जिसकी जीभपर राम-राम रटते-रटते छाले पड़ गये हों । उक्त पदमें दोका उदाहरण सामने रखकर श्रीगोस्वामीजी राम-दीवाने (भगवत्प्रेमान्ध) बननेपर तुले हैं । उस अवस्थाका दिग्दर्शन रूप और नामके संयोगसे मानो यों करा रहे हैं कि 'पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू । जीह नामु जप लोचन नीरू ॥' उनकी यही साध मालूम होती है कि आचार्य-प्रवर भरतलालकी चर्य्याके अनुकरणसे मुखमें नाम और हृदयमें रूपको स्थायी करके आजन्म 'हालमस्त' (देहानुसन्धानको भूलकर भगवत्प्रेमोन्मत्त) बना रहूँ ।' उन्हें श्रीभगवन्मुखारविन्दद्वारा वर्णित यही दशा इस समय इष्ट हो रही है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

वे भगवत्प्रेममें मतवाले होकर भगवान्का उच्च स्वरसे नाम-कीर्तन करते हुए पागलकी भाँति कभी हँसते, कभी रोते, कभी चिल्लाते और कभी जोरसे गाते हुए लोकोत्तर अवस्थामें पहुँचकर

नाचने लगते हैं। अहा ! उस विचित्र अवस्थाका महत्त्व कहाँतक वर्णन किया जाय ?

अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए॥
निरमल निरामय एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई।
त्रैलोक पावन सो सदा, जाकी दसा ऐसी भई॥

(विनय-पत्रिका)

श्रीगोस्वामीजीकी इस अन्तिम माँगसे हम मानसावलम्बियोंको यही निश्चय करना चाहिये कि निरन्तर श्रीभगवद्ध्यान करते हुए श्रद्धापूर्वक नामजप करते रहें। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि इसीसे लोक और परलोकमें हमारा वास्तविक कल्याण हो सकता है। मानस-प्रेमियोंको मानसकारके इन शपथोंसे युक्त सिद्धान्तवचनोंपर ध्यान देना चाहिये—

संकर साखि, जो राखि कहौं कछु, तौ जरि जीह गरौ।
अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहि समुझि परौ॥

(विनय-पत्रिका)

कसम खाइ तुलसी भनी।

(गीतावली)

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

(रामचरितमानस)

तुलसी जो सदा सुख चाहिय, तौ रसना निसि बासर नाम रटौ।

(कवितावली)

कलि नहिं ग्यान बिराग न जोग समाधि।
राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥

(बरवैरामायण)

सपनेहूँ बरोइ कै जा मुख निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम॥

(वैराग्य-सन्दीपनी)

राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरसत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

(दोहावली)

गोस्वामीजीकी इन जोरदार उक्तियोंसे उनके भक्तोंका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे सारे तर्क-वितर्क-कुतर्क छोड़कर एकाग्र चित्तसे भगवन्नाम और भगवद्रूपमें तद्रूप हो जायँ। श्रीगोस्वामीजी तो डंकेकी चोट कहते हैं—

नाना पथ निरबान के, साधन अनेक बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे रटु राम नाम दिन राति॥

दिन-रातकी राम-रटनके सुखका क्या वर्णन किया जाय— 'ता कर सुख सोइ जानइ चिदानंद संदोह।' श्रीदेवस्वामी भी कहते हैं।

नामै में दृढ़ हुई रहे हैं, छोड़ि छाड़ि सब जंग।
भक्ति प्रेम बस निसि दिन सियबर विहरत तिन के संग॥

ऐसा सौभाग्य तो किन्हीं विरले ही महानुभावोंको मिलता है; किन्तु जिन बड़भागियोंने नित्यप्रति ध्यानपूर्वक पचीस-पचास हजार नाम जपनेका भी नियम कर लिया है, उनके चित्तसे पूछा जाय तो वे भी अपना आन्तरिक आनन्द दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही

बतलावेंगे। इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है; जिसे इच्छा हो, कर देखे। जो करता है, वही इसके रसको जानता है—'खाई, सोइ पै जानै।' इस तुच्छ 'दीन' का तो निजी अनुभव है कि जो मानसप्रेमी श्रीमानसजीको भगवद्रूप मानकर मानसकारके इस निश्चयपर आरूढ़ हो जायँगे और नियमपूर्वक ब्राह्ममुहूर्तसे मध्याह्न-पर्यन्त एकान्तमें ध्यानपूर्वक एक लक्ष राम-नाम रटना आरम्भ कर देंगे (जो कि आठ घंटेमें पूरे हो जाते हैं) तो उन्हें जो आनन्द प्राप्त होगा उसके आगे तुच्छ मायिक पदार्थोंके नगण्य सुखकी तो बात ही क्या है, उनका चित्त तो नामास्वादनको छोड़कर इन भावार्थ या विनोदार्थ आदिके लिखने-पढ़नेसे भी क्षमा ही चाहेगा, जो कि भगवद्गुणानुवादके नाते सत्सङ्गरूप होनेसे भगवद्-भजनका ही एक अङ्ग माना जाता है। और ये सब भाव भी वास्तवमें उस नाम-रटनका ही प्रसाद है; क्योंकि उसके प्रतापसे जैसे-जैसे गूढ़ रहस्य और अपूर्व भाव अन्तःकरणमें भीतर-ही भीतर स्फुरण होने लगते हैं, उनका अनुभव बाह्यवृत्तिसे हो ही नहीं सकता। वह तो एकमात्र नाम भगवान् (ब्रह्म) की ही कृपाकटाक्षका फल है—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।' इस भजनानन्दकी महिमा कहाँतक कही जाय! यह वह आनन्द है, जिसके विषयमें भगवान् श्रीगीताजीमें कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

(६ । २२)

अर्थात् जिसे पा लेनेपर [बड़भागी भक्त] फिर उससे बढ़कर और कुछ नहीं मानता। श्रीगोस्वामीजी तो इसीको जीवनका एकमात्र फल मानते हैं। वे कहते हैं—

श्रुति राम कथा, मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है।
सब की न कहौं, तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है॥

श्रीगोस्वामीजीका अन्तिम सिद्धान्त यही है; उनके विचारसे इसीमें लगकर प्रत्येक जीवको अपना जीवन सफल कर लेना चाहिये।

यह 'दीन' हिन्दीका किञ्चित् भी मर्म नहीं जानता, केवल श्रीमानसजीके द्वारा ही इसने अक्षरमात्र पहचानना सीखा है। अब इन्हींकी शरण लेकर नित्यप्रति इनका पाठ कर लेना और इन्हींकी दी हुई नाम-निष्ठासे यथाशक्ति कुछ नाम रट लेना ही अपना अवलम्ब माना है। श्रीरामायणाङ्कसे 'कल्याण' के कृपालु सम्पादकजीने इस तुच्छके भोंड़े-भद्दे भावों और टूटे-फूटे शब्दोंको भी अपने अमूल्य पत्रके प्रायः प्रत्येक अङ्कमें स्थान देनेकी कृपा की है। अतः उन्हींकी आज्ञासे अपनी ग्राम्य गिरामें सिय-राम-यश समर्पण किया है, जिससे कि 'गावहिं सुनहिं सुजान।' इन सब लेखोंमें अपनी अनभिज्ञताके कारण मुझसे जो त्रुटियाँ हुई हों, उनके लिये मैं मानसप्रेमी पाठकोंसे क्षमा माँगता हूँ और एक दीन भिखारीके समान सबसे 'पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥' की ही भिक्षा माँगता हुआ बिदा होता हूँ। आप सब ऐसी कृपा करें जिससे आजन्म, बल्कि जन्म-जन्म नाम-रटन ही मेरा आधार रहे।

नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन! तुलसिहि देहु॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!



श्रावण शुक्ला सप्तमी श्रीतुलसी-जयन्ती क्यों है ?

शङ्का—श्रावण शुक्ला सप्तमी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी परमधाम जानेकी तिथि है। तब इस दिनको जयन्ती (जन्मतिथि) मानना कितनी भूलकी बात है ! फिर इस निधनतिथिको तो चाहिये था कि हमलोग शोक मनाते, सो उसकी जगह हम मंगल-गान-वाद्यादिके द्वारा जय-जय करते हुए हर्ष मना रहे हैं ! यह कहाँतक उचित है ?

समाधान—इसमें सन्देह नहीं कि यह दोहा बहुत प्रसिद्ध हो रहा है—

संवत सोरह सै असी असी गंगके तीर।
सावन सुकला सप्तमी तुलसी तज्यो सरीर॥

इस दोहेके अनुसार श्रीगोस्वामीजीके परधाम सिधारनेकी तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी ही सूचित हो रही है, यद्यपि वेनीमाधोदास-कृत श्रीतुलसी-चरितमें श्यामा तीज परधाम-यात्राकी तिथि मानी गयी है। परन्तु यदि हम उपर्युक्त प्रसिद्ध दोहेको ही प्रमाण मानकर श्रावण शुक्ला सप्तमी ही परलोक-तिथि मान लें तो फिर आवश्यकता इस बातकी आ पड़ती है कि पूज्य श्रीगोस्वामीजी महाराजकी जन्मतिथि कौन-सी है, इसकी भी तो खोज करें। गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'मूल गोसाईं-चरित' नामक पुस्तकमें, जो श्रीगोस्वामिपादके समकालीन एक महात्मा पुरुष बाबा वेनीमाधो-

दासजीद्वारा रचित अतएव परम विश्वसनीय और मान्य है, आपकी जन्म-तिथि और संवत्‌के विषयमें इस प्रकार स्पष्ट प्रमाण मिलता है—

पँद्रह सै चउवन विषै, कालिंदी के तीर।
सावन सुकला सतमी, तुलसी धरेउ सरीर॥

अर्थात् संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमीको कालिन्दी (श्रीयमुना-नदी) के किनारे पूज्य श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका जन्म हुआ था। अतः यह श्रावण शुक्ला सप्तमी ही आपकी जन्मतिथि भी है। श्रीस्वामिपादके शिष्य-परम्परागत पं० शिवलाल पाठक काशीनिवासीद्वारा, जिन्होंने वाल्मीकिरामायणका संस्कृत भाष्य भी लिखा है, रचित श्रीरामचरितमानसकी 'मानसमयंक' नाम्नी टीकासे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि श्रीगोस्वामीजीका जन्म-संवत् १५५४ ही है। यथा—

मन (४) ऊपर सर (५) जानिये, सर (५) पर दीन्हें एक।
तुलसी प्रगटे रामवत, राम जनम की टेक॥
सुने गुरू से बीच सर (५), संत बीच मन (४०) गान।
प्रगटे सतहत्तर परे, ताते कहे चिरान।

अर्थात् १५५४ संवत्‌में श्रीगोस्वामीजीका जन्म हुआ और ५ वर्षकी अवस्थामें अपने गुरुसे उन्होंने कथा सुनी। पुनः दुबारा ४० वर्षकी अवस्थामें वही कथा संतोंसे सुनी। फिर उसको ७७ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६३१ में प्रकट कर श्रीरामचरितमानसकी रचना प्रारम्भ की। इसीसे उस भगवत्-यशरूप जलका चिराना कहा है। इस प्रकार १५५४ में ७७ वर्ष जोड़नेसे संवत् १६३१ हुआ—

संवत सोरह से एकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा ॥

—और संवत् १६८० में आप परधाम सिधारे। इस तरह १२६ वर्षकी दीर्घ आयुका पूर्ण भोग योगिराजशिरोमणिने किया। इसका दूसरा प्रमाण नागरीप्रचारिणी सभाद्वारा प्रकाशित श्रीतुलसीग्रन्थावली (खण्ड ३) के पृष्ठ ९८ में इसी प्रकार मौजूद है। तीसरा प्रमाण वेङ्कटेश्वर प्रेस, प्रयागसे प्रकाशित प्राचीन संशोधित विनय-पत्रिकामें है, जिसमें श्रीगोस्वामीजीके २६ वर्ष, ७७ वर्ष और ९८ वर्षकी अवस्थाओंके तीनों चित्र—बादशाह अकबरकी लाइब्रेरीवाला, डाक्टर ग्रियर्सन साहबकी खोजमें प्राप्त, और काशीजीके अस्सी संगमका—दिये हुए हैं। उसमें भी यह दोहा मौजूद है—

पँद्रह सै चउवन विषै, कालिंदी के तीर।
सावन सुकला सप्तमी, तुलसी धरेउ सरीर ॥

अतः श्रीगोस्वामीजीकी जन्मतिथि संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी ही प्रमाणित होती है। इसलिये यह आपकी जयन्ती-तिथि है ही। महान् पुरुषोंके जीवनमें बहुधा यह बात भी देखी जाती है कि उनकी जन्मतिथि और निधनतिथि प्रायः एक ही होती है। जैसे हालके महात्माओंमें स्वामी रामतीर्थका जन्मदिन और निधन-दिन दिवाली ही प्रसिद्ध है। भगवान् बुद्धके सम्बन्धमें भी यही बात है। ऐसे बहुत-से उदाहरण ढूँढ़नेपर अन्य महात्माओंके भी मिलेंगे। हमारे श्रीगोस्वामिपादने भी अपनी समत्वशक्तिसे समलीला दिखा दी। उनके लिये हर्ष-शोक समान ही थे। वे जन्म-मरणकी एक ही तिथि प्रमाण करके द्वन्द्वातीत दशाको सिद्ध कर गये। और ऐसे महापुरुषके

लिये १२६ वर्ष कलिकालमें भी जीवित रहना आश्चर्यजनक नहीं, जिन्हें श्रीनाभाजी अपने 'भक्तमाल' में साक्षात् वाल्मीकिजीका अवतार होना बता गये हैं——

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो।'

वाल्मीकिका अवतार होना श्रीतुलसीकृत रामायणसे भी झलक रहा है। क्योंकि श्रीअवधकाण्डमें कुल १३ छन्द हैं। इस काण्डकी रचना नियमसे हुई है। आठ चौपाईपर दोहा तथा चौबीस दोहोंपर एक छन्द और एक सोरठा रक्खा गया है। इनमेंसे बारह छन्दोंमें 'तुलसी' शब्दका भोग लगा है; परन्तु इस एक छन्दमें——

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।'

—जो वाल्मीकिजीका ही कहा हुआ है, 'तुलसी' भोग इसलिये नहीं रक्खा गया है कि शरीरान्तरसे तो हमारा ही वचन हो रहा है, व्यर्थमें 'तुलसीदास' लिखकर दो-चार अक्षर अधिक क्यों खर्च किया जाय। और कलियुगसे तो आप मानो नोटिस देकर भिड़ गये थे। यथा——

भागीरथी जल पान करौं अरु नाम द्वै रामके लेत नितै हौं।
मोको न लेनो, न देनो कछू, कलि ! भूलि न रावरी ओर चितैहौं॥
जानि कै जोर करौ, परिनाम तुम्हीं पछितैहौ, पै मैं न भितैहौं।
ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यों हीं तुम्हारे हिये न हितैहौं॥

इसलिये आपसे कलियुगकी नहीं चली और २६ वर्ष कलि-आयुसे अधिक जीवन रखकर आपने अपनी जीवन्मुक्तता और भगवत्-नामके प्रभावको प्रमाणित कर दिया।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

